श्री उड़िया बाबाजी के उपदेश

संग्रहकर्ता
स्वामी सनातनदेव
निवेदन-लेखक
स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

प्रकाशक—
रामस्वरूप केला
मन्त्री—श्रीपूर्णानन्द तीर्थ
(श्रीउड़िया बाबा) ट्रस्ट-समिति
श्रीकृष्णाश्रम, दावानल कुण्ड
वृन्दावन (मथुरा)

पंचम संस्करण
सं. २०२१ वि.
मूल्य ३.००

मुद्रक—
हेमेन्द्रकुमार
साधन प्रेस, मथुरा ।
फोन नं० २८२

प्राप्तिस्थान—श्रीकृष्णाश्रम दावानल कुण्ड, वृन्दावन (मथुरा)

निवेदन

☆

पूज्यपाद श्री महाराज जी अर्वाचीन भारत के अग्रगण्य महापुरुषों में थे। उनका पवित्र जीवन विरक्त-समाज के लिये आदर्शरूप था। वे कोई कथावाचक या व्याख्यानदाता भी नही थे। भक्त और जिज्ञासुओं के प्रति परमार्थचर्चा करते हुए उनके मुख से जो वचनामृत निकलते थे उन्हीं से श्रोतृवर्ग अनुपम शान्ति और विलक्षण विश्राम का अनुभव करते थे। उनकी उस वाक्सुरसरि में स्नान करके सहस्रो अधिकारियों को अद्भुत आनन्द प्राप्त हुआ। उनमें से कुछ महानुभावो ने अपनी रुचि के अनुसार कुछ वाक्यो का संग्रह भी किया और वे समय-समय पर उन्हें कल्याण, संकीर्तन, श्रेय आदि परमार्थ-प्रधान पत्रिकाओं में प्रकाशित भी कराते रहे। ऐसे संग्रहकर्ताओ में स्वर्गीय भक्त प्यारेलाल जी अनूपशहर वाले और पिलखुवा वाले भक्त रामशरणदास जी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उन उपदेशो में से अधिकांश 'कल्याण' में ही प्रकाशित हुए थे। कल्याण के पाठकों का उनके प्रति विशेष आकर्षण देख कर गीता प्रेस के चालकों ने आज से प्रायः पन्द्रह वर्ष पूर्व उनका एक संग्रह पुस्तकाकार में प्रकाशित किया। वह पुस्तक बहुत थोड़े ही समय में समाप्त हो गयी थी। उसके पश्चात् द्वितीय महायुद्ध के कारण ऐसी विपरीत परिस्थिति आ गयी कि कई वर्षो तक उसका कोई दूसरा संस्करण नहीं छप सका। आज से प्रायः पाँच वर्ष पूर्व उसी पुस्तक को मैने दो खण्डों मे नर्मदा प्रिंटिंग प्रेस, जबलपुर से प्रकाशित कराया था। वह संस्करण भी अब सर्वथा समाप्त हो चुका है।

इसी बीच में गत चैत्र कृष्णा १४ सम्वत् २००५ वि० को पूज्यपाद श्रीमहाराजजी का हम लोगों से वियोग हो गया। उसके पश्चात् उनके विस्तृत जीवन-चरित और जितने भी मिल सकें उन सभी उपदेशों के संग्रह को प्रकाशित करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी। काम बहुत कठिन था। जो कुछ सामग्री थी उसके आधार पर एक छोटा-सा परिचय इस पुस्तक के आरम्भ में दिया गया है। उससे उत्साहित होकर यदि भविष्य में किसी सेवक को प्रभु की प्रेरणा हुई तो यह कार्य भी पूरा हो सकेगा।

उपदेश संग्रह का कार्य भी बहुत सुगम नहीं था। भिन्न-भिन्न महानुभावो के पास जो संग्रह थे उनमें कोई विषय-विभाग या निश्चित क्रम तो था नहीं। कोई-कोई उपदेश तो कई-कई बार लिखे हुए थे अतः इतने बडे संग्रह मे किसी उपदेश की पुनरुक्ति न हो यह भी बड़ी कठिन बात थी। तथापि जहाँ तक बना, स्वामी श्री सनातनदेवजी ने इस कार्य को सन्तोषजनक रूप से पूर्ण करने का प्रयत्न किया। फिर भी प्रेमी पाठको को इसमे कोई त्रुटियाँ दिखायी दें तो उन्हें सूचित करके अनुगृहीत करें, जिससे आगामी संस्करण में उन्हे सुधारा जा सके।

इस पुस्तक में पूर्व प्रकाशित पुस्तक के सभी उपदेश तथा और भी जितनी उपयोगी सामग्री मिल सकी है, सभी का नये सिरे से संग्रह किया गया है। पहले उपासना और ज्ञान दो ही खण्ड थे, किन्तु प्रस्तुत पुस्तक मे एक आचार खण्ड भी रखा गया है तथा तीनों खण्डो के विषयों का नवीन ढंग से विभाजन किया गया है। पहले की अपेक्षा यह संग्रह कम से कम दुगुना अवश्य है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

दावानल कुण्ड, वृन्दावन,
कार्तिक कृष्णा ८ संवत् २०१० विक्रमी

—अखण्डानन्द सरस्वती

विषय-सूची

३—ज्ञान खण्ड

ब्रह्मलीन श्री उड़ियाबाबाजी

संक्षिप्त परिचय

जन्म, बाल्यकाल और शिक्षा

प्रत्येक काल की सच्ची विभूति उस समय के महात्मागण ही होते हैं। वे समाज को जिस ओर ले जाना चाहते हैं उसी ओर उसकी प्रगति होती है। वास्तव में तो प्रभु ही महापुरुषों के रूप मे अवतरित होकर संसार की आध्यात्मिक प्रगति का नियमन करते रहते हैं। महात्माओं का अपना कोई भी उद्देश्य नहीं होता। उनकी जो कुछ प्रवृत्ति होती है वह तो विश्व के कल्याण के लिये विश्वम्भर की प्रेरणा से ही होती है। प्राचीन काल के ऋषि-मुनियों से लेकर आज तक के महापुरुषों के जीवन में यही नियम काम करता रहा है। उन्होंने अपने समसामयिक समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक आवश्यकताओं की ही पूर्ति की है।

अर्वाचीन भारत में जिन महापुरुषों के कारण भक्ति और ज्ञान की जागृति हुई है, हमारे बाबा उनमें से एक थे। आप अपने समय के अग्रगण्य महापुरुषों में से थे। आपकी उज्ज्वल कीर्त्ति दिग्-दिगन्त में व्याप्त थी। जिन्हें आपके श्री चरणों का सान्निध्य प्राप्त हुआ वे जानते हैं कि उनकी छत्रच्छाया कितनी शीतल, मधुर, निरापद और सुखमयी थी। जिसे एक बार भी

आपके पुण्य दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ वही सद
आपका हो गया। आप में करुणा, वाङ माधुरी, सुजन
निष्ठा, समता, शान्ति, स्थिरता, सरलता, जितेन्द्रियता,
उदासीनता, असङ्गता आदि सभी दिव्य गुणों का अद्भुत
हुआ था। आपके संसर्ग में जो भी व्यक्ति आये थे उनमें
को ऐसा जान पड़ता था कि श्री महाराजजी की सबसे
कृपा मुझ पर ही है। विशेष अवसरों पर आपके पा
हजारों की भीड़ हो जाती थी, किन्तु उस समय भी
व्यक्ति नहीं होता था जिसकी वाह्य सुविधाओं के विष
आप पूछताछ न करते हों। आपके शरीर, वाणी, नेत्र,
और झिड़कन में एक ऐसी माधुरी थी जिससे प्रत्ये
हठात् आपकी ओर आकर्षित हो जाता था। आपके द्वा
भावुक भक्तों का ही उपकार नहीं हुआ, प्रत्युत तत्त्वजि
की ज्ञानपिपासा भी पूर्णतया शान्त होती थी। आ
तत्त्वनिरूपण की शैली अन्यत्र दुर्लभ ही थी।

इस पुस्तक में आपके ही वचनामृतों का संग्रह कि
है। अतः यहाँ संक्षेप में आपके जीवन का परिचय दे
सङ्गत न होगा। महात्माओं के हृदय के समान उनक
भी बड़ा दुर्गम और गुह्य होता है। यदि उनकी कृपा
उनके विषय में कुछ भी पता नहीं लग सकता। अतः
कृपा से हमें जो कुछ पता लगा था उसी के आधार पर
कुछ बातें लिखते हैं।

मध्यकालीन महापुरुषों में जिन भक्तावतार श्री
महाप्रभु का पवित्र नाम प्रत्येक भावुक भक्त के हृदय का
हुआ है उनकी अधिकांश लीलाएँ पुण्यपुरी श्री जगन्नाथ

मिश्रजी के वंश में ही आविर्भूत हुए थे। राजगुरु होने के कारण वह वंश उस प्रान्त में बहुत सम्मानित समझा जाता था। यह अपनी प्राचीन परम्परा का भी बड़ी कट्टरता से पालन करता था। आपके पिता-पितामह तक उस कुल का कोई व्यक्ति बिना डोली के बाहर नहीं जाता था। वे लोग आचार-विचार और कर्मकाण्ड का भी बड़ा ध्यान रखते थे। अँग्रेजी पढ़ाना तो दूर, अँग्रेजी पढ़ों से बात करने में भी संकोच करते थे। वे कभी जूता नहीं पहनते थे, बैलगाड़ी पर सवार नहीं होते थे, किसी अन्य ब्राह्मण के यहाँ भी भोजन नहीं करते थे, किसी से कोई कुकर्म हो जाय तो उसका अन्न ग्रहण नहीं करते थे, और न दूसरों के आसन पर ही बैठते थे। इन्हें पचास-साठ गाँवों के लिये धार्मिक व्यवस्था देने का अधिकार था। इस प्रकार यह परिवार उस प्रान्त में बहुत प्रतिष्ठित था।

आपके पूर्वज श्री काशी मिश्र तो वैष्णव थे, किन्तु पीछे आपसे सात-आठ पीढ़ी पूर्व आपके एक पूर्वज काली के उपासक हो गये। उन पर माँ काली की बड़ी कृपा थी। माँ ने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन देकर सर्वदा उनके कुल में रहने का वर दिया था। तब से वे ही इस कुल की इष्टदेवी हो गयीं। कहते हैं, एक बार आपके प्रपितामह काली मंत्र (क्रीं) जप रहे थे। जपते-जपते वे कृष्ण मंत्र (क्लीं) जपने लगे। उसी समय माँ ने उनके मुँह पर ऐसा तमाचा लगाया कि वह टेढ़ा हो गया और फिर जन्म भर वैसा ही रहा। उन्हीं के पुत्र वासुदेव मिश्र आपके पितामह हुए। उनके तीन पुत्र और तीन पुत्रियाँ थीं, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार थे—चक्रधर मिश्र, रूपादेवी, प्रभाकर मिश्र, रमादेवी, वैद्यनाथ मिश्र और कमलादेवी। इनमें सबसे छोटे भाई पंडित वैद्यनाथ मिश्र ही आपके पूज्य पिताजी थे। आपका जन्म भाद्रपद कृ० ७ सं० १६३२ वि० को ठीक मध्यान्ह के समय हुआ।

उस दिन आपके यहाँ श्री कृष्ण-जन्माष्टमी का उत्सव था। घर में प्रथम पुत्र का जन्म होने के कारण सभी को बड़ा आनन्द हुआ, किन्तु विधाता का विधान दूसरा ही था। आपकी माता श्री लक्ष्मीदेवी पर प्रसूति रोग का आक्रमण हुआ और वे तीसरे ही दिन आपको मातृहीन करके परलोक सिधार गयीं।

अब आपके पालन-पोषण का भार आपकी छोटी ताई जी पं० प्रभाकर मिश्र की पत्नी ने सँभाला। उनके कोई सन्तान नहीं थी। इसलिये उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से इसे स्वीकार कर लिया। कुछ दिनों के पश्चात् नामकरण संस्कार हुआ और आप का नाम आर्त्तत्राण मिश्र रखा गया। बचपन में आपके स्वभाव में बड़ी विचित्रता थी। आपके स्वभाव में चपलता तो नाममात्र को भी नहीं थी। जहाँ डाल दिये वहीं पड़े रहे और जहाँ बैठे हैं, बहुत देर वहीं बैठे रहे। खेल-कूद से आपको कोई मतलब नहीं था। नेत्र प्रायः मुँदे से रहते थे। यदि कोई पीटता तो चुपचाप पिट लेते थे, उसके प्रतीकार का कोई प्रयत्न नहीं करते थे। आपकी इस मुनिवृत्ति से सभी को बड़ा आश्चर्य होता था।

कुल-प्रथा के अनुसार चार वर्ष, चार महीना और चार दिन की आयु में आपका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। पहले घर पर ही एक गणक (जोशी) के द्वारा आपको प्रारम्भिक शिक्षा दी गई। इस प्रकार बारह वर्ष की आयु तक आप घर पर ही उड़िया भाषा, गणित और साधारण संस्कृत की शिक्षा पाते रहे। आपका शरीर दुर्बल था, इसलिये गुरुजनों की इच्छा आप पर पढ़ाई-लिखाई का विशेष भार डालने की नहीं थी। तथापि आपका विचार तो दूसरा ही था। आपको घर में खाली पड़े-पड़े जीवन व्यतीत करना पसन्द नहीं था। अतः एक दिन घर वालों से बिना कहे एक भड्डरी के लड़के के साथ अपने घर से चल दिये

और बालेश्वर होते हुए मयूरभञ्ज पहुँचे । इस समय आपकी आयु केवल बारह वर्ष की ही थी। इस अल्पायु में आपका यह साहस आपकी स्वाभाविकी स्वाधीनता और असङ्गता को ही सूचित करता है।

मयूरभञ्ज की पाठशाला में आपके पिताजी के परिचित पद्मनाभाचार्य नाम के एक पण्डित थे। अतः उन्होंने प्रसन्नता से इन्हें पाठशाला में भर्ती कर लिया। किन्तु आपको भय था कि वे कहीं आपके घरवालों को सूचना न दे दें और इससे आपके विद्याध्ययन में विघ्न उपस्थित न हो जाय। इसलिये कुछ ही दिनों पश्चात् आप वहाँ से चलकर बाल्याबेड़ा चले आये। यहाँ राजा कृष्णचन्द्र के विद्यालय में भर्ती होकर आप अध्ययन करने लगे और पाँच वर्ष तक यहीं रहकर आपने काव्यतीर्थ परीक्षा पास की। इस बीच में केवल एक बार आप घर गये। हाँ, पत्रादि के द्वारा घरवालों को अपना समाचार देते रहते थे।

जिस समय आप काव्यतीर्थ के अन्तिम खण्ड में पढ़ रहे थे, एक ऐसी घटना हुई जिससे आपके हृदय में निहित निगूढ़ भगवत्प्रेम का परिचय मिलता है। राजा कृष्णचन्द्र एक निष्ठावान् वैष्णव थे। उनके यहाँ भगवान् श्री गोपीनाथ का एक मन्दिर था। उसमें कार्तिक शु० ६ से पूर्णिमा तक विशेष रूप से उत्सव मनाया जाता था। इस समय वहाँ नाटक मण्डलियाँ भी आती थीं। इस वर्ष कलकत्ते की बाल-संगीत नाम की एक सुप्रसिद्ध मण्डली बुलाई गई थी। उसने 'ब्रह्मा का वत्सहरण' नाटक का अभिनय किया। अभिनय में एक विचित्र दृश्य आया। ब्रज की वनस्थली में सखाओं से घिरे हुए श्रीनन्दनन्दन छाक खा रहे हैं। गोवत्स इधर-उधर चर रहे हैं। बालगोपालों ने भगवान् को चारों ओर से घेरा हुआ है। श्यामसुन्दर उन्हें पत्तों पर छाक परोस रहे हैं और वे एक दूसरे से छीन-झपट कर भोजन कर

रहे हैं। इस अद्भुत लीला को लोक-पितामह ब्रह्माजी एक वृक्ष की ओट में छिपकर निहार रहे हैं। इस विचित्र दृश्य का बालक आर्त्तत्राण पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। ये वहाँ से उठकर अपने कमरे में चले आये और उसी का चिन्तन करने लगे। चिन्तन करते-करते इनकी वृत्ति ऐसी तल्लीन हुई कि तीन दिन और तीन रात इन्हें बाह्य जगत् का अनुसन्धान ही न रहा। ये भावसमाधि में स्थित हुए तीन दिन तक अपने कमरे में ही बैठे रहे। इनके चित्त पर केवल यही चित्र अङ्कित रहा। यह इनके जीवन में पहला भावावेश हुआ। साथी विद्यार्थी तो इस रहस्य को कुछ भी नहीं समझ सके। तरह-तरह की कल्पनाएँ करते रहे।

इसी वर्ष एक और भी घटना हुई। पाठशाला में कटक के रहने वाले गङ्गाधर मिश्र नाम के एक विद्यार्थी थे। वे आपको अपने छोटे भाई के समान समझते थे और सब प्रकार आपकी देख-भाल करते थे। कार्यवश वे मेदिनीपुर गये और वहाँ चार-पाँच घण्टों में ही हैजे से उनका देहान्त होगया। इस दुर्घटना का भी आपके चित्त पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। इससे आपको सारा संसार नाशवान् और नीरस प्रतीत होने लगा। अब, आपको किसी का भी संसर्ग अच्छा नहीं लगता था और आप सबसे अलग उदासीन भाव से रहने लगे। यहीं से आपका वैराग्य आरम्भ हुआ।

परदुःख-निवारण का प्रयत्न

आर्त्तत्राणजी यथानाम-तथागुण थे। आरम्भ से ही आपका चित्त बहुत कोमल था। अपनी आयु में आपने शायद ही कभी किसी पर क्रोध किया होगा। कभी-कभी तो दूसरों को क्रोध करते देख कर आपके चित्त पर इतना आघात लगा है कि

आप घण्टों मूर्छित रहे हैं। आप अध्ययन समाप्त करके घर लौटे तो सभी को बड़ी प्रसन्नता हुई। आप भी अपनी पैतृक वृत्ति करने लगे। इस प्रकार जब कुछ समय निकल गया तो एक बार उस देश में बड़ा भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़ा। इस अवस्था में लोगों को भूख से मरते और इधर-उधर भटकते देखकर आपको बहुत दुःख हुआ और आप उनके दुःख दूर करने का उपाय सोचने लगे। इतना द्रव्य तो पास में था नहीं जो सभी की बुभुक्षाग्नि को शान्त कर सकें। अतः आपने कोई ऐसा अनुष्ठान करने का निश्चय किया जिससे द्रौपदी की बटलोही * के समान कोई पात्र या रसायन प्राप्त किया जा सके।

अन्त में चैत्र शु० ५ सं० १९५१ की रात्रि आयी। उस समय आप किसी से बिना कुछ कहे धोती, लोटा और ग्यारह रुपये लेकर आत्त्मरक्षा के साधन की शोध में घर से निकल पड़े। मन्त्रसिद्धि के लिये आपको कामाक्षा (गोहाटी) सबसे अच्छा स्थान जान पड़ा। अतः कुछ दिन कलकत्ता और गोआलन्दो में ठहरकर आप गोहाटी पहुँचे। अब आपके पास केवल ढाई रुपया बचा था। उस समय अनुष्ठान करने के लिये ही वहाँ एक बंगाली तान्त्रिक भी आये हुए थे। उनसे आपका प्रेम होगया और उनकी ही सलाह से आपने वनदुर्गा के मन्त्र का अनुष्ठान आरम्भ कर दिया। अनुष्ठान सुचारू रूप से चलने लगा। उसमें कुछ सफलता के चिह्न भी प्रतीत हुए। कई बार स्वप्न में भगवतीका दर्शन हुआ। जप के समय वसिष्ठादि नित्यसिद्धों के दर्शन होते थे।

---

* वनवास के समय सूर्य ने द्रौपदी को एक ऐसी बटलोही दी थी जिसके द्वारा अन्न सिद्ध करके बाँटने पर वह तब तक समाप्त नहीं होता था जब तक द्रौपदी स्वयं भोजन न करे। उस बटलोही के प्रभाव से द्रौपदी नित्यप्रति सहस्रों अतिथियों का सत्कार किया करती थी।

किन्तु इसी समय आपके चित्त में ऐसे विचार आने लगे—'इस अनुष्ठान से क्या होगा ? एक पात्र मिल भी गया तो क्या हम उससे संसार के सभी प्राणियों का दुःख दूर कर सकते हैं ? यह केवल हमारी विडम्बना ही है। संसार तो ऐसा ही चलता रहता है। हमारे पास से अन्न लेने के लिये भी भला कितने लोग आयेंगे ? और हम भी क्या सर्वदा जीवित रहेंगे ? इसलिये इस संकल्प को छोड़ना ही अच्छा है।' इन्हीं दिनों पूर्ण गिरि नाम के एक महात्मा से आपने भगवान् शंकराचार्य की विवेक-चूड़ामणि भी सुनी। उसने आपके विचार को बदलने में और भी सहायता की। अतः आपने वह अनुष्ठान बीच ही में छोड़ दिया।

परन्तु सिद्धि प्राप्त करने की ओर से आपका चित्त अभी पूर्णतया उदासीन नहीं हुआ। अतः गोहाटी से काशी जाने का विचार किया और कुछ दिन मयूरभंज में ठहरकर आप काशी पहुँचे। इस प्रान्त में आपकी यह प्रथम यात्रा थी। यहाँ न तो आपका कोई परिचित था और न गांठ में कोई पैसा ही था। इधर की भाषा भी समझते नहीं थे और न अपनी बात ही किसी को समझा सकते थे। किन्तु आपको विश्वास था कि यह माता अन्नपूर्णा की पुरी है, वह मुझे भूखा नहीं रखेगी। अतः आप अन्नपूर्णा और विश्वनाथ के दर्शन कर मणिकर्णिका घाट पर एक खाली गुफा में बैठ गये और यह निश्चय कर लिया कि मैं किसी से कुछ भी माँगूँगा नहीं। आपको उसी गुफा में तीन रात और तीन दिन बीत गये। शौच और लघुशङ्का के लिये भी आप वहाँ से नहीं उठे। परन्तु भोजनादि के विषय में आपसे किसी ने कुछ भी नहीं पूछा। आखिर, चौथे दिन आप स्नान करने के लिये गुफा से बाहर आये। उसी समय वहाँ एक स्त्री आयी। उसने आपको पंचामृत पान कराया। फिर श्री विश्वनाथजी के दर्शनों के लिये गये तो वहाँ एक ब्राह्मण ने आपको अनार दिया। इस

प्रकार चार दिन के व्रत का पारण करके आप पुनः उसी गुफा में आगये। यहाँ रात्रि में स्वप्न हुआ कि कोई महात्मा आपसे वैद्यनाथ धाम जाने के लिये कह रहे हैं। अतः एक काशीवासी बंगाली सज्जन से टिकट कटवाकर आप वैद्यनाथ धाम चले आये।

वैद्यनाथ में अनेकों लोग अपनी कामनासिद्धि के लिये केवल पंचामृत पान करते हुए धरना दिया करते हैं। आपने भी सरस्वती की सिद्धि के लिये धरना देना आरम्भ कर दिया। परन्तु पाँचवें ही दिन आपकी विवेकवती बुद्धि ने आपको धरने से भी विचलित कर दिया। सोचने लगे, 'यदि सरस्वती सिद्ध भी हो गयी तो उससे क्या होगा? आखिर, कालिदास आदि बड़े-बड़े विद्वान् भी तो काल के गाल ही मे चले गये। इसलिये इसके लिये तप करना व्यर्थ है।' यह सोचकर आपने तप करना छोड़ दिया और जगन्नाथपुरी में अपने घर पर लौट आये।

नैष्ठिक ब्रह्मचर्य

आपके घर लौट आने से सभी को बड़ी प्रसन्नता हुई। परन्तु आप तो अधिक दिन घर में रहने वाले थे नहीं। इस समय आपकी आयु बीस वर्ष से अधिक हो चुकी थी। एक सुप्रसिद्ध ज्योतिषी ने पहले ही बताया हुआ था कि आपका जीवन तीस-बत्तीस वर्ष से अधिक नहीं रहेगा। अतः घरवालों ने आपका विवाह न करने का निश्चय कर लिया था। आप जन्म से ही भोगों से विरक्त रहते थे। घर में भी आपका चित्त किसी के मोह-बन्धन में बँधा हुआ नहीं था। अब तक भी आपका जीवन निरालम्ब रह कर ही व्यतीत हुआ था। अतः अब आपने विधिवत् नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा लेने का निश्चय किया और पुरीधाम में ही श्री गोवर्धन मठाधीश जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्री मधुसूदन तीर्थ से दीक्षा लेकर आप आर्त्तत्राण से

ब्रह्मचारी वासुदेव स्वरूप* हो गये । इन दिनों आपकी विशेष इच्छा यही थी कि किसी प्रकार ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी बना जाय। आप सोचा करते थे कि मेरी ऐसी स्थिति हो कि मैं युवती स्त्रियों की गोद में भी निर्दोष बालक के समान खेलूँ । स्त्रियों का अधिक से अधिक सम्पर्क होने पर भी मेरे चित्त में किसी प्रकार का विकार न हो। इसके सिवा आपकी दूसरी इच्छा यह थी कि मेरी सर्वत्र-अव्याहत गति हो। लोकान्तर और राजमहलों में भी मैं बिना रोक-टोक जा सकूँ । रोक टोक तो मनुष्य के चित्त में किसी प्रकार का विकार होने पर ही होती है । बालक को कोई नहीं रोकता। अतः यदि मेरा चित्त निर्विकार होगा तो मुझे कोई क्यों रोकेगा ? इन आकांक्षाओं से प्रेरित होकर ही आपने वीर्य पर विजय प्राप्त करने का निश्चय किया और इसी उद्देश्य से आप मठ में आने जाने वाले साधुओं से मिलते रहे।

इन्हीं दिनों आपको कोई सिद्ध गुरु खोजने की धुन भी सवार हुई। इसके लिये आप मठ छोड़कर बंगाल के मैमनसिंह, ढाका, वारीसाल, ग्वालपाड़ा आदि कई जिलों में घूमते रहे। परन्तु कहीं भी आपको ऐसे महात्मा न मिले, जिन्हें आप आत्म-समर्पण कर देते। अन्त में बड़पेटा पहुँचे। यहाँ भगवान् कालिय-कान्त (श्रीकृष्ण) का एक सुप्रसिद्ध मंदिर है । शहर के पास ही एक शिवालय था उसके महन्त एक ब्रह्मचारी जी थे, जो इस समय बहुत बीमार थे। आपने उनकी खूब सेवा-शुश्रूषा की, परन्तु आठ-दस दिनों में ही उनका देहान्त हो गया । आपकी

---

* पहले आपका ब्रह्मचर्य का नाम 'चेतनानन्द' लिखा था परन्तु पीछे विश्वस्त सूत्र से मालूम हुआ कि आपका नाम 'वासुदेव स्वरूप' था। गोवर्धनमठ के ब्रह्मचारियों का नाम स्वरूपान्त ही होता भी है। इसलिये यही नाम ठीक जान पड़ता है ।

सेवा से सन्तुष्ट होकर उन्होंने प्राण परित्याग के पहले आपको ही अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। अतः उनके पश्चात् आप वहाँ के महन्त बन गये। वहाँ रह कर आपने शतचण्डी का अनुष्ठान किया। उसके उपलक्ष में नवरात्रि में हवन और ब्रह्म-भोज हुआ। इस उत्सव की समाप्ति पर आपको ऐसा अनुभव होने लगा मानो माँ दुर्गा साक्षात् आपके सामने खड़ी हैं। इस समय आपको वाक्सिद्धि भी प्राप्त हो गयी। आप जिससे जो बात कहते वही सत्य हो जाती थी। आपको लोगों के बहुत से छिपे हुए पाप-पुण्य भी मालूम हो जाते थे। ऐसा चमत्कार देख कर आपके पास बहुत जनता आने लगी। भेट की सामग्रियों और रुपयों का ढेर लग गया। एक-एक दिन में पाँच-पाँच सौ रुपये आ जाते थे। आपकी ओर से हर समय कड़ाही चढ़ी रहती थी। नित्यप्रति सहस्रों पुरुषों का भोजन होने लगा। आप प्रश्न करने वालों की सूरत देख कर ही सब बातें बता देते थे। अठारह दिनों तक यही क्रम रहा। अन्त में विक्षेप अधिक बढ़ जाने से आपके चित्त में कुछ पश्चात्ताप हुआ। तब स्वयं ही यह सिद्धि निवृत्त हो गयी। फिर न तो वैसा अनुभव रहा और न कुछ कहने-सुनने की इच्छा हो रही। इसके कुछ दिनों पश्चात् पूर्व महन्तजी का शिष्य रामेश्वर यात्रा से लौट आया। उसने गद्दी के लिये आश्रम के ट्रस्टियों से अपना दावा किया। परन्तु आपसे विशेष प्रभावित होने के कारण आपके कहने पर भी उन्होंने उसे गद्दी देना स्वीकार नहीं किया। अतः एक दिन आपने स्वतः ही उस प्रपञ्च से निकलने का निश्चय कर लिया और खर्चे के लिये पन्द्रह रुपये लेकर आप वहाँ से चुपचाप रेल द्वारा गोहाटी चले आये।

अब आप आसाम और पूर्वी बंगाल में घूम-घूम कर फिर किसी सिद्ध योगी की खोज करने लगे। किन्तु आपको ऐसे कोई

योगिराज न मिले जिन्हें पाकर आपकी प्यास शान्त होती। अन्त मे इसी उद्देश्य से आपने सारे भारतवर्ष में घूमने का निश्चय किया। आप कलकत्ते से रामेश्वर की ओर जा रहे थे। मार्ग में जिला बालेश्वर के किसी गाँव के एक बगीचे मे ठहरे। अकस्मात् रात्रि में बगीचे के सामने वाले मकान में आग लग गई। उसमें से और सब लोग तो निकल आये, किन्तु एक नव-विवाहिता, वधू संकोचवश बाहर न आई और आग मे गिर गयी। मकान में सभी ओर आग लगी हुई थी। अतः उसके बचने की कोई आशा न रही। आपसे उसका यह संकट न देखा गया। अतः आग की परवाह न करके आप घर में घुस गये और उस बालिका को उठा कर बाहर ले आये। परन्तु इस प्रकार एक अबला की प्राण-रक्षा करने पर भी आपको स्त्री-स्पर्श के कारण बहुत ग्लानि हुई और उसके प्रायश्चित के लिये आपने दो-तीन दिन अन्न ग्रहण नहीं किया।

इस यात्रा में आप कई महात्माओं से मिले तथा रामेश्वर, द्वारिका एवं उज्जैन होते हुए हरिद्वार तक गये, तथापि कहीं भी आपको ऐसे महात्मा नहीं मिले जिनमे आपकी पूर्ण श्रद्धा होती। आखिर हरिद्वार से आप पुनः कलकत्ते लौट आये, यह सन् १९०८ की बात है। इस समय वङ्गभङ्ग के कारण स्वदेशी आन्दोलन चल रहा था। आपको दीन-दुखियों के साथ तो सदा से ही सहानुभूति रही है। अतः आप भी आन्दोलनकारियों में मिल गये। दो-एक बार आपकी गिरफ्तारी भी हुई, किन्तु अपराध सिद्ध न होने के कारण छोड़ दिये गये। उस समय अनेकों नवयुवकों को फांसी लगते देख कर आपको बड़ा खेद होता था। परन्तु आपके पास ऐसी कोई शक्ति तो थी नहीं, जिससे उनके दुःख को दूर कर सकते। आखिर एक महात्मा के समझाने से

आपने वह प्रवृत्ति छोड़ दी और संन्यास लेने का निश्चय कर लिया।

संन्यास और साक्षात्कार

आप जगन्नाथपुरी पधारे और अपने गुरुदेव श्री गोवर्धन मठाधीश्वर से सं० १९६४ वि० की कार्तिकी पूर्णिमा को विधिवत् संन्यास ले लिया। अब आप ब्रह्मचारी वासुदेवस्वरूप से स्वामी श्री पूर्णानन्द तीर्थ हो गये। किन्तु प्रायः गुरुजनों का नाम नहीं लिया जाता। इसलिये विशेष प्रतिष्ठा बढ़ने पर आप 'श्री उड़िया बाबा' नाम से ही प्रसिद्ध हुए।

संन्यास के कुछ ही दिनों बाद आप गुरुदेव से आज्ञा लेकर काशी की ओर चले। चलते समय ही आपने अपना दण्ड समुद्र में फेंक दिया। आप रेलद्वारा काशी को जा रहे थे। मार्ग में एक स्थान पर गाड़ी बदलनी चाहिये थी, किन्तु आपको ऐसा करने का ध्यान न रहा। अतः काशी का टिकट लिये हुए आप छपरा पहुँच गये। यह देखकर टिकट-चेकर बहुत बिगड़ा और कुछ मार-पीट करके आपको गाड़ी से उतार दिया।

यह घटना आपके जीवन के एक स्थायी नियम का निमित्त बनी। कभी-कभी कोई छोटी सी बात भी बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है। महापुरुषों के जीवनमें ऐसे प्रसङ्ग बहुत देखे जाते हैं। भगवान् बुद्ध को एक शव के देखने से ही वैराग्य हो गया था और इसी घटना ने उन्हें एक सुकुमार राजकुमार से कठोर तपस्वी बना दिया। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी को स्त्री की थोड़ी-सी व्यंगोक्ति ने ही संसार से छुड़ाकर सदा के लिये श्री रामचरणोंमें समर्पित कर दिया। ऐसी घटनाएँ हृदय की सजीवता को सूचित करती हैं। जिनके हृदय मुर्दे हैं वे न जाने कितने तिरस्कार सहते हैं, तब भी उन्हें चेत नहीं होता। ऐसी ही

प्रात यहाँ हुई। आप गाड़ी से उतरकर घाघरा नदी के तट पर आये। वहाँ स्नान किया और आजीवन किसी भी सवारी में न चढ़ने की प्रतिज्ञा करली। तब से अनेकों प्रकार की प्रवृत्तियाँ होने पर भी आपने बड़ी दक्षता और दृढ़ता से इस नियम का पालन किया तथा अनेकों सामूहिक कार्यों को सँभालते हुए भी अपनी स्वतन्त्रता में रंचकमात्र अन्तर नहीं आने दिया। इस प्रतिज्ञा का त्याग तो आपने-अपने जीवन के अन्तिम वर्ष में ही किया था। किन्तु वह त्याग तो इस प्रतिज्ञा के ग्रहण से भी विशेष महत्व रखता है। नियम की अपेक्षा प्रेम का महत्व तो विशेष है ही। इस प्रसङ्ग का आगे यथास्थान वर्णन किया जायगा।

छपरा से कई स्थानों में होते हुए आप काशी पहुँचे। बीच में गोमती-तट के एक स्थान के, जो राजभार स्टेशन के समीप है, आप महन्त हो गये। किन्तु इस महन्ती को भी आप पहले ही की तरह छोड़कर चले आये। काशी पहुँचने पर आपके चित्त की विचित्र-सी अवस्था हो गयी। आप अपने पास कोई पात्र भी नहीं रखते थे। केवल एक कम्बल लपेटे जहाँ-तहाँ पड़े रहते थे। अभी तक कोई सिद्ध योगी न मिलने के कारण आपका कोई नियमित साधन भी आरम्भ नहीं हुआ था, इसलिये चित्त मे बड़ा असन्तोष रहता था। चातुर्मास्य समीप था। अतः एक महात्मा के कहने से आप काशी से चार कोस पश्चिम की ओर एक गांव में चले गये। वहाँ कुछ महात्मा रहते थे। उनके साथ ही आपने चातुर्मास्य किया। वहाँ आपस में कुछ वेदान्त-चर्चा चलती रहती थी। उन सन्तों के संसर्ग से आपको उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता और योगवसिष्ठ आदि वेदान्त ग्रन्थ सुनने का अवसर मिला। इससे आपकी जिज्ञासाग्नि जाग्रत् हो गयी। अब तो आपको कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। अहर्निश यही चिन्ता रहती थी कि किस प्रकार चित्त शान्त हो, किस प्रकार परमार्थ सत्य का

अनुभव हो और किस प्रकार यह विश्व-प्रपंच की पहेली सुलझे। ग्रन्थों को देखने से तो कोई बात समझ में आती नहीं थी और दूसरा कोई उपाय दीखता नहीं था।

इस प्रकार इस सत्सङ्ग ने आपको सिद्धियों और चमत्कारों के चकाचौंध से हटाकर परमार्थ की खोज में लगा दिया। बस, चातुर्मास्य समाप्त होने पर आप वहाँ से गंगाजी के किनारे-किनारे पश्चिम की ओर चले। परमार्थ-प्राप्ति की उत्कण्ठा ने आपको बहुत ही बेचैन कर दिया। कभी-कभी तो मील दो मील चलकर ही दिन भर जंगल में पड़े रहते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे पाँच-छः मास में प्रयाग पहुँचे। वहाँ दारागंज के पास एकान्त स्थान में एक मन्दिर के पीछे छोटी-सी कुटी थी। वह स्थान बहुत गन्दा था। वहाँ कोई आता-जाता नहीं था। अतः एकान्त देखकर आपने उस कुटी में ही आसन लगा दिया और भीतर से किवाड़ बन्द कर लिये। तीन दिन उसी में बन्द रहने का निश्चय करके बैठ गये। न खाया और न शौच या लघुशंका को ही गये। जप-ध्यानादि में तो इस समय आपकी श्रद्धा नहीं थी। आप तो कोई दैवी आदेश पाने की प्रतीक्षा में थे। ज्येष्ठ मास की भीषण गर्मी थी, फिर भी जिज्ञासाग्नि के सामने आपको वह कुछ भी न जान पड़ी। किन्तु इस प्रकार तीन रात और तीन दिन तक बन्द पड़े रहने पर भी आपको कोई अनुभव न हुआ। आखिर, निराश होकर आप बाहर निकले। भीतर पड़े-पड़े शरीर जकड़ गया था। कुछ स्वस्थ होने पर आप वहाँ से आगे बढ़े।

रास्ते में जहाँ-तहाँ महात्मा भी मिलते रहे; किन्तु आपकी श्रद्धा को कहीं भी आश्रय न मिला। वर्षा आरम्भ हो गई थी, इसलिये उसके कारण आपको बहुत कष्ट सहना पड़ा। परन्तु आपके हृदय में जो आग जल रही थी उसके आगे किसी

भी विघ्न-बाधा की ओर देखने का अ
आखिर, चलते-चलते आप फतहपुर जि
पहुँचे। यहाँ श्री भागरथी के तट पर एक
आस-पास कुछ और भी कुटियाँ थीं। स्था
शान्त था। भगवान् भास्कर दिन भर की
प्रतीची की गोद में विश्राम लेने के लिये
चाप बैठकर श्री गंगाजी की अभंग अंगभं
परन्तु उसने भी आपको कुछ शान्ति नह
और भी सुलग उठी। अब आपको अपन
होने लगा-और आपने उसे श्री गङ्गाजी क
का विचार किया।

बस, आपने चादर उतारकर अल
गंगाजी में फेंक दिया। अब स्वयं कूदने
समय चित्त में कुछ हिचक हुई। इस प्रका
में आपको कोई सार दिखाई न दिया। सोच
क्या होगा? विचार करना चाहिये। स
करते कोई अनुभव हो जाय।' यह सोच क
भीतर गये। चित्त में नास्तिकता के से भा
अतः शिवलिंग से पैर लगा कर लेट गये।
संकल्प होने लगे। आँखें झपने लगीं औ
भगवान् शंकर भी बड़े भोले बाबा हैं। क
के बदले भी अक्षय पुरस्कार देते हैं। उनके
सी घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। यहाँ भी ऐसा ही हु

स्वच्छ भस्म सुशोभित है। कण्ठ में रुद्राक्ष की माला और हाथ में कमण्डलु है। मानो साक्षात् नर-नारायण ही आपको भव-बन्धन से मुक्त करने के लिये पधारे हों। उन्हें देखकर आप खड़े हो गये और सृष्टितत्त्व के विषय में प्रश्न करने लगे। आप जो प्रश्न करते थे उसी का वे बड़ा समाधानकारक उत्तर दे देते थे। यह क्रम बड़ी देर तक चलता रहा। धीरे-धीरे एक-एक करके आपकी सारी ही उलझनें सुलझ गयीं। अन्त में उन्होंने दो श्लोक याद रखने को कहा--

> नेति नेतीति नेतीति शेषितं यत्परं पदम्।
> निराकर्तुमशक्यत्वात्तदस्मीति सुखी भव ॥*
> जडतां वर्जयित्वैतां शिलाया हृदयं च यत्।
> अमनस्कं महाबाहो तन्मयो भव सर्वदा ॥†

इस अवस्था से उत्थान होने पर आप सब प्रकार स्वस्[थ हो] गये। आपकी सभी शंकाएँ निवृत्त हो गयीं, और हृदय की [ग्रन्थि] खुल गयी। अब आपको सारा दृश्य अपनी ही दृष्टि का वि[लास] दिखाई देने लगा। ऐसा अनुभव होता था मानो सारा [दृश्य] शून्यरूप है। इसका कोई आधार नहीं है। इस शून्याशून्य [से] विलक्षण इसका आधारभूत एकमात्र मैं ही अखण्ड परिपूर्ण तत्त्व हूँ। मुझसे भिन्न और कुछ है ही नहीं। ये अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड

* यह नही है, यह नही है, यह नही है—इस प्रकार (स्थूल, सूक्ष्म और कारण प्रपच का निषेध करने पर) जो निषेध करने के अयोग्य परम पद शेष रहता है, वही मै हूँ—ऐसा जानकर सुखी हो जा ॥१॥

† इस अज्ञानरूपी जडता को त्याग कर जो शिला के हृदय के समान घनीभूता अमनस्कता है सर्वदा तद्रूप अर्थात् शुद्ध चिन्मय होकर स्थिर रहो ॥२॥

मुझमें ही अध्यस्त है और इनका अधिष्ठानभूत मैं इनसे सर्वथा असङ्ग हूँ। यह अनुभव इतना स्पष्ट था मानो नेत्रोंसे देख रहे हों। इससे आपके चित्त को पूर्ण शान्ति और कृतकृत्यता का अनुभव हुआ। ऐसा जान पड़ा मानो मैं ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सार्वभौम सम्राट् हूँ। इस प्रकार आपकी सारी दीनता और बेचैनी दूर हो गयी और आप वास्तव मे पूर्णानन्दस्वरूप ही हो गये।

उपरति की ओर

अब आपका चित्त बहुत उपराम रहने लगा। यद्यपि तत्त्व-साक्षात्कार के पश्चात् विद्वान् का कोई कर्तव्य नहीं रहता उसकी सारी कामनाओं और वासनाओं का मूलोच्छेद हो जाता है, तथापि बोध का यह स्वभाव ही है कि वह विद्वान् में आत्मप्रेम का उन्मेष करे। 'बोधस्योपरतिः फलम्।' इस नियम के अनुसार अब आप अधिकतर ध्यानावस्था में ही स्थित रहने लगे। आपने यह निश्चय किया कि मुझे ध्यान द्वारा ऐसी गम्भीर स्थिति प्राप्त करनी चाहिये जिससे प्राण निस्पन्द हो जायँ। आपका विचार था कि इस प्रकार जो निःस्पन्दता प्राप्त होती है वह प्राणायामादि के द्वारा प्राप्त होने वाले प्राणनिरोध से बहुत ऊँची कोटि की चीज है। उसकी सिद्धि के लिये आप सिद्धासनसे बैठकर अभ्यास करने लगे। आप कुछ महीने एक स्थान पर रहकर अभ्यास करते थे और फिर गंगाजी के किनारे-किनारे चलकर आगे बढ़ जाते थे। इस प्रकार स्थान-परिवर्तन करते हुए भी आपका ध्यानाभ्यास निरन्तर चलता रहता था। धीरे-धीरे आपका अभ्यास खूब बढ़ा और अनेकों चमत्कार भी हुए। परन्तु आप उनकी उपेक्षा करते हुए साक्षीरूप से ही स्थित रहे। इससे आपकी स्थिरता और शान्ति में उत्तरोत्तर विकास होता गया। कुछ ही

दिनों में आपको स्वप्न और ध्यानावस्था में शुकदेव, वामदेव आदि ऋषि-मुनियों के दर्शन होने लगे।

धीरे-धीरे आप कानपुर और बिठूर होकर बरुआघाट पहुँचे। यहाँ श्री ज्ञानाश्रमजी नाम के एक वयोवृद्ध महात्मा रहते थे। उन्हें तीस वर्ष इसी स्थान पर हो गये थे। वे बड़े ही सरल, संयमी और सत्यनिष्ठ सन्त थे। उस प्रान्त में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। हमारे बाबा के प्रति इनका व्यवहार अत्यन्त स्नेहपूर्ण था और बाबा भी इनमें गुरुवत् श्रद्धा रखते थे। वहाँ रहकर आपने इनकी खूब सेवा की। यद्यपि स्वामीजी आपसे कोई काम नहीं कराना चाहते थे, परन्तु आप उनके बिना कहे और छिपकर भी उनकी सेवा करते थे। रात्रि में उनका सोने का समय दो से चार बजे तक था। परन्तु आप सर्वदा उनसे पीछे सोते और पहले उठते थे। वहाँ के बगीचे में प्रायः पचास आम के पेड़ थे। उनमे से एक वृक्ष के आम बहुत मीठे होते थे। सब लोग उन्हीं की ताक मे रहते थे। अतः आप रात्रि में जब सब सो जाते तो स्वामीजी के लिये उसके सब आम अपने कटिवस्त्र मे ले आते थे। एक दिन स्वामीजी अपने आश्रमवासियो से कह रहे थे कि इस फुलवाड़ी की भूमि ठीक नहीं है तथा इसके गमलों की भी सफाई हो जानी चाहिये। तब आपने, किसी को भी मालूम न हो इस प्रकार, रात्रि में ही वह सब काम कर डाला। आपकी ऐसी निष्कपट और सच्ची सेवा से श्रीज्ञानाश्रमजी बहुत प्रसन्न थे और अन्य आश्रमवासियों से आपकी भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे।

इस प्रकार बरुआघाट में नौ-दस महीने रहकर आप फिर उत्तर की ओर चल पड़े। गंगा का तट ही आपका निर्दिष्ट मार्ग था। मार्ग में जगह-जगह महात्माओं से सत्सङ्ग होता रहा। उसमें श्री बरगदिया बाबा, स्वामी चतुराश्रमजी, श्री शिवानन्द

स्वामी और ढाई घाट के वयोवृद्ध संत स्वामी आत्मानन्दजी के नाम उल्लेखनीय हैं। आपकी ध्याननिष्ठा, वैराग्य और सरलता सभी के चित्तों को मोह लेती थीं। फरुखाबाद पहुँचने पर आपने गङ्गातट छोड़कर नहर का किनारा पकड़ा। यहाँ एक दिन आपको दिन भर भिक्षा नहीं मिली। रात्रि में बड़े जोर की भूख लगी। पास में कोई गाँव भी नहीं था। इस समय भगवान् ने अपने अनन्यचेता भक्त के योग-क्षेम वहन की प्रतिज्ञा पूरी करके दिखा दी। सब ओर चन्द्रमा की स्निग्ध कान्ति फैली हुई थी। इसी समय एक बालक और बालिका ने आकर आपसे पूछा—'बाबा! तुम रोटी खाओगे?'

बाबा—हाँ, खाऊँगा। तुम्हारा घर कहाँ है? तुम किसके बालक हो?

बालक—यहाँ से पास ही है। हम माहेश्वरी वैश्य हैं। इधर खेलने के लिये चले आये।

बालक बड़े ही सुन्दर थे। उन्हें देखने के लिये बार-बार आपका मन होता था। वे थोड़ी ही देर मे दो मोटी-मोटी रोटी और केले का शाक ले आये। अभी तक आप ब्राह्मणों की ही भिक्षा करते थे। परन्तु उन बालकों की कुछ ऐसी मोहिनी शक्ति पड़ी कि आपने विना कोई आपत्ति किये वे रोटियाँ खा लीं। बालक तो कुछ देर इधर-उधर घूमकर चले गये, परन्तु आपका मन उन्हीं में उलझा रहा। सवेरे चार बजे आपकी आँखें खुलीं तो वे फिर वहीं घूमते दिखाई दिये। उस समय उन्होंने मठा लाकर आपको दिया और आपने भी शौचादि से निवृत्त हुए विना ही उसे पी लिया। वहाँ से उठने पर आपने पता लगाना चाहा कि ये बालक कहाँ रहते हैं, परन्तु पूछने पर यही मालूम हुआ कि वहाँ से दो-दो मील तक कोई गाँव नहीं है। इस घटना

का आपके चित्त पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि इस समय भगवान् के साकार रूप में आपका विशेष प्रेम न होने पर भी कई दिनों तक जब आपको इस प्रसङ्ग का स्मरण होता था तो हृदय भर आता था।

यहाँ से चातुर्मास्य करने के लिये आप गङ्गातट पर गढ़ी नाम के एक गाँव में आये। यहाँ मोतीराम नाम के एक ब्रह्मचारी रहते थे। वे बड़े निष्ठावान् ब्राह्मण थे। मन्त्रानुष्ठान और यज्ञादि में उनका विशेष प्रेम था। इन दिनों ये गायत्री का अनुष्ठान कर रहे थे। स्थान बड़ा रमणीक था। आप उनकी यज्ञशाला ही में ठहर गये। उन दिनों आपका चित्त बहुत उदासीन रहता था। किसी से भी विशेष बातचीत नहीं करते थे। भिक्षा तो आश्रम में ही हो जाती थी, केवल स्नान के लिए ब्रह्मचारीजी के साथ गङ्गाजी पर चले जाते थे। वहाँ स्नान के पश्चात् ब्रह्मचारीजी तो जप करने लगते और आप ध्यानस्थ हुए बैठे रहते। उस समय एक बड़ी अद्भुत बात होती। ब्रह्मचारीजी जितनी देर जप करते उतनी देर एक काला सर्प उनके पास बैठा रहता और उनका जप समाप्त होते ही स्वयमेव चला जाता। ऐसा नित्य ही देखने में आता था। ब्रह्मचारीजी के पास पाँच छः विद्यार्थी पढ़ते थे। आप समय-समय पर उन्हें कुछ पढ़ा दिया करते थे। आपकी पाठनशैली बहुत सुन्दर थी। इसलिये कई विद्यार्थियों का आपके प्रति बहुत प्रेम हो गया। उनमें बलराम नाम का एक विद्यार्थी आपसे बहुत ही प्रेम करता था। यहाँ रहते हुए आपके चेचक निकली। इससे बलराम को बड़ा आघात पहुँचा और उसे भी इसी समय ज्वर होकर चेचक निकल आयी। तेरह दिनों पश्चात् आपका रोग अच्छा होने लगा, और उसी समय बलराम की चेचक भी ढलने लगी। कुछ दिनो में दोनों साथ-साथ ही स्वस्थ

हुए। यह तन्मयता का विचित्र प्रसङ्ग देखकर सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ।

विद्यार्थियों के सिवा यहाँ आस पास के गाँवों के और भी अनेकों स्त्री पुरुष आपसे बड़ा प्रेम करने लगे थे। एक वृद्धा ब्राह्मणी का तो आपके प्रति अत्यन्त वात्सल्य भाव था। वह प्रातःकाल उठते ही बिना नित्यकर्म से निवृत्त हुए एक रोटी सेंक कर आपको दे जाती थी और आप भी बालकों की तरह बिना स्नानादि किये उसे खा लेते थे। इस प्रकार वहाँ के लोगो को आपके प्रति बहुत ही श्रद्धा और अनुराग हो गये थे। अतः एक दिन आप उन्हे बिना कोई सूचना दिये वहाँ से चुपचाप मोहनपुर आ गये।

मोहनपुर से आपका विशेष सम्बन्ध रहा है। यहाँ से आपके जीवन मे कुछ नवीनता भी पायी जाती है। अब तक आपके स्वभाव में बडी गम्भीरता और उदासीनता पायी गयी थी। किन्तु यहाँ आप एक अबोध बालक की तरह रहते थे। यहाँ के भक्त आपको अपने घर का आदमी समझते थे और आपके साथ खूब खुलकर खेलते थे। खान-पान के समय भी काफी विनोद होता था। किसी के घर भिक्षा करने जाते और भोजन में देरी होती तो आप उसका घर का काम करने लगते थे। कभी शाक काटते, कभी मसाला पीसते और कभी कोई अन्य काम करने लगते।

किन्तु यहाँ आपका सारा समय क्रीड़ा-कौतुक में ही बीता हो—ऐसी बात नहीं है। अभ्यास भी यहाँ खूब बढ़ा। यह खेल तो अपने को वहाँ के लोगों से छिपाने और प्रच्छन्न भाव से आत्मानन्द का रसास्वादन करने के लिये ही था। यह तो एक आत्माराम मुनि की बालवत् चर्या ही थी। यहाँ के लोग तो यही

समझने लगे थे कि ये तो अब अपने ही हैं। किन्तु सच्चे सन्त कब किसके होते हैं? अथवा यों कहो कि किसके नहीं होते? सारा संसार तो उन्हीं की दृष्टि का विलास है। फिर वे किसके नहीं हो सकते? और जब सभी उनके हैं तो वे कुछ इने-गिने भक्तों में ही अपने को कैसे बांध सकते हैं? इस प्रकार जो किसी के भी न होकर हर किसी के हो सकते हैं वे जगद्वन्द्य महापुरुष थोड़े ही होते है। हमारे महाराज जी वास्तव में ऐसे ही थे। अस्तु, यहाँ आपका अभ्यास भी खूब बढ़ा। आप घंटों निश्चल भाव से बैठे रहते थे। शरीर का रंचकमात्र भी भान नहीं होता था। कहते हैं, उस समय आपकी खुली हुई आँखों में मक्खियाँ घुस जाती थीं, तब भी आपके शरीर की कोई चेष्टा नहीं होती थी। कभी-कभी चित्त बहुत देर तक निर्विकल्प स्थिति में रहता था। बहुत दिनों से आपका जो प्राणों की निःस्पन्दता का संकल्प था वह भी यहाँ पूरा होगया था। यद्यपि आपकी निष्ठा निर्विशेष ब्रह्म में ही थी तो भी कभी-कभी स्वयं ही भगवान् राम और श्रीकृष्ण आदि साकार रूपों के तथा उनकी दिव्य चिन्मयी लीलाओं के आपको दर्शन होने लगते थे। ये अनुभव इतने स्पष्ट होते थे कि ध्यान टूट जाने पर भी उनका आभास आपके नेत्रों के सामने बना रहता था। इस प्रकार मोहनपुर के ये आठ-नौ मास बड़े आनन्द से बीते।

लीला भूमि में

यहाँ से चलकर आप कासगंज होते हुए रामघाट पहुँचे। आपका सबसे अधिक रहना-सहना रामघाट और अनूपशहर के मध्यवर्ती गंगातट पर ही हुआ है। इसलिये इसे आपकी लीलाभूमि कह सकते हैं। इसकी लम्बाई प्रायः बीस मील है। इस भूमि में भी आप अधिकतर रामघाट और कर्णवास में ही

रहे हैं। इन्हीं दो स्थानों की झाड़ियों में ही आपकी अधिकांश तपस्या हुई है। यहाँ आप सं० १९७२ वि० के आषाढ़ मास में पहुँचे थे। इसके पश्चात्, आपका जीवन प्रायः दस वर्ष तक अत्यन्त वैराग्य और उपरति मे ही व्यतीत हुआ है। आपकी इस दीर्घकालीन तपस्या से धीरे-धीरे इस प्रान्त मे आपका यशः-सौरभ फैलने लगा। यद्यपि आप जनसंसर्ग से बहुत दूर जंगल-झाड़ियों मे छिपे रहते थे, तो भी प्रेमी भक्त आपको ढूंढ़ ही लेते थे। स्त्रियों के संसर्ग से तो इस समय आपको इतनी घृणा थी कि जहाँ आप रहते वहाँ यह नियम कर देते थे कि यदि कोई स्त्री मेरी दृष्टि के अन्तर्गत आ जायगी तो मैं इस स्थान को त्याग दूंगा। इसलिये भक्त लोग इस बात की बड़ी सावधानी रखते थे कि कोई माई आपकी कुटी के पास न जाय। इस समय आपके ध्यान की भी ऐसी गाढ़ स्थिति थी कि आप निरन्तर आठ-आठ घण्टे निश्चल आसन से बैठे रहते थे।

रामघाट में आप शरत्पूर्णिमा तक रहे। जिस समय आप पहुँचे उसी समय बाबू रामसहाय आपके पास पहुँच गये। श्री महाराज के वर्तमान भक्तों में आपको सबसे पुराना कहा जा सकता है। आपने उसी समय महाराजजी से प्रश्न किया—यद्यपि यह संसार स्वप्न है, किन्तु जिसे यह स्वप्न हुआ है वह कौन है?

स्वामीजी—उसे तुम कैसे जानोगे? तुम तो स्वप्नपुरुष हो और वह स्वप्नद्रष्टा है।

बाबूजी—यदि हम स्वप्नपुरुष हैं तो उस स्वप्नद्रष्टा के जागने पर स्वयं ही हमारी मुक्ति हो जायगी। फिर हम कोई साधन क्यों करें?

स्वामीजी—साधन के द्वारा तुम यह जान सकोगे कि वास्तव में वह स्वप्नद्रष्टा तुम ही हो और यह संसार तुम्हारा ही स्वप्न है। बस, जिस समय

तुम्हें यह ज्ञान हो जायगा उसी समय तुम्हारी मुक्ति हो जायगी।

इसी प्रकार बाबूजी के साथ आपकी बहुत देर तक बातचीत होती रही। बाबूजी आपके उत्तरों से बहुत प्रभावित हुए और तभी से आपके अनन्य सेवकों में गिने जाने लगे।

इसी जगह आपकी श्रीउग्रानन्दजी से भेंट हुई। वे बड़े मस्त फकीर थे और किसी के भी हाथ की हरएक वस्तु खा-पी लेते थे। उनके वैराग्य को देखकर तो आपको भी प्रसन्नता हुई। उन्होंने आपको बतलाया कि आगे एक दौला‡ रहता है। वह बड़ा पण्डित है, उससे अवश्य मिलना। रामघाट में आपके कई सेवक हो गये। उनमें पं० बंशीधर का सेवाभाव सराहनीय था।

यहाँ से नरवर, विहारघाट और कर्णवास होते हुए आप भृगुक्षेत्र पहुँचे। नरवर में आपकी ऋषिकल्प बाल-ब्रह्मचारी पं० जीवनदत्तजी से भेंट हुई। आप बड़े ही निष्ठावान् ब्राह्मण हैं और एक सांगवेद विद्यालय के संचालक हैं। आपका जीवन बड़ा ही तपोमय है और आप प्राचीन संस्कृति के बड़े ही पृष्ठपोषक हैं। कर्णवास में श्रीजयरामदासजी और ब्रह्मचारी शरच्चन्द्र मिले। ये ब्रह्मचारीजी ही भविष्य में स्वामी पूर्णानन्दगिरि हुए। इनका ऋषिकेश में मुर्दाघाट पर शिवालय नाम का एक सुप्रसिद्ध स्थान है। इनके शिष्यों में भी कई सुशिक्षित और साधन-सम्पन्न महात्मा हैं।

इन दिनों भृगुक्षेत्र में श्री बंगाली बाबा, पंडित दौलतराम, शास्त्रानन्द, भूमानन्द और मौजानन्दजी आदि कई उच्चकोटि के सन्त थे। इनके कारण कई सत्सङ्गी यहाँ आते-जाते रहते थे।

---

‡ पं० दौलारामजी जो भविष्य मे श्री अच्युत मुनिजी के नाम से प्रसिद्ध हुए।

उस समय वह एक ऋषिस्थान-सा जान पड़ता था। आप जिस दिन वहाँ पहुँचे उसी दिन उसके कुछ ही देर पीछे श्री हरिबाबा जी भी पहली बार यहाँ आये। आप बड़े ही संयमशील, निष्ठावान्, एकान्तसेवी और महान् अध्यवसायी सन्त हैं। भृगु-क्षेत्र में पहुँचने के पश्चात् आपने पं० श्री दौलतरामजी से प्रस्थानत्रय श्रवण किये। किन्तु इसके कुछ काल पश्चात् एक विशेष भगवत्प्रेरणा से आपकी ज्ञाननिष्ठा भक्ति में परिणत हो गयी और आप सर्व-साधारण में भगवन्नाम का प्रचार करने लगे। इस प्रान्त में तो आपको भगवन्नाम-प्रचार का आचार्य कहा जा सकता है। आपकी विशेष ख्याति तो तब हुई जब आप ही के अदम्य अध्यवसाय से अनूपशहर के सामने प्रायः बीस मील लम्बा बाँध बाँधा गया। इस प्रान्त के सैकड़ों गाँवों को प्रतिवर्ष श्री गङ्गाजी की बाढ़ से बड़ी हानि उठानी पड़ती थी। अत्यन्त व्ययसाध्य होने के कारण सरकार भी इसका प्रबन्ध करने का साहस नहीं करती थी। किन्तु आपका सुकोमल हृदय गरीब ग्रामीणों की यह दुर्दशा न देख सका। अतः आप स्वयं कुदाल लेकर खड़े हो गये। आपके सुदृढ़ संकल्प ने जनता को भी बल दिया और भगवत्कृपा से छः मास में ही इतना बड़ा बाँध बनकर तैयार हो गया। इस बाँध पर मिट्टी की प्रत्येक टोकरी हरिनामोच्चारण के साथ पड़ी थी। इसलिये इस प्रान्त के लोग इसे तीर्थवत् समझते थे। किन्तु दुर्भाग्यवश अब तो श्री गङ्गाजी ने इसका बहुत-सा अंश काट दिया है। हमारे महाराजजी के साथ बाबा का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। भावुक भक्तों के लिये तो आप दोनों हरिहर के समान एक प्राण दो देह हैं।

गंगातट पर

भृगुक्षेत्र में कुछ दिनों सन्त-समागम करके हमारे स्वामीजी

उत्तर की ओर बढ़े। भगवानपुर में आपको स्वामी हीरादासजी और भिक्षु गौरीशंकर जी मिले। दोनों बड़े विरक्त और विद्वान् महात्मा थे। आपस में वेदान्त-श्रवण के अधिकार पर विचार हो रहा था। हमारे स्वामीजी जिस समय पहुँचे, सायंकाल के पाँच बजे थे। इस परमार्थ चर्चा में सारी रात निकल गई। महाराजजी को इसमें ऐसा आनन्द आया कि इतनी देर आप एक ही आसन से बैठे रहे। भिक्षुजी ने आपके आसन की प्रशंसा भी की। किन्तु स्वामी हीरादासजी ने उदासीनता प्रकट करते हुए कहा, "इसमें कौन सिद्धि है, कोई चार घंटे अधिक बैठ गया तो इससे क्या हुआ? इस बात की प्रशंसा नहीं करनी चाहिये। इससे व्यर्थ अभिमान बढ़ता है।" इसी समय आपने उनसे पूछा कि-'न किञ्चिच्चिन्तयेद्योगी सदा शून्यपरो भवेत्'* इस वाक्य के 'शून्यपरः' पद से जान पड़ता है कि शून्य का ही चिन्तन करना चाहिये, सो इस विषय में आपका क्या मत है? इस पर श्री-हीरादासजी ने कहा, 'शून्यपरः' का अर्थ है 'शून्यात् परः'—शून्य से अतीत अर्थात् शून्य से परे जो उसका साक्षी है उसका चिन्तन करे।" आपको उनकी यह व्याख्या बहुत पसन्द आयी। उन्होंने आपको वैराग्य और भिक्षावृत्ति पर जोर रखने को कहा तथा गृहस्थ और वैराग्यहीन साधुओं के संसर्ग से बचते रहने का उपदेश दिया।

इसी प्रकार अनेकों महात्माओं से मिलते और उनका सत्सङ्ग करते हुए आप ऋषिकेश तक गये। वहाँ स्वामी श्री मंगलनाथजी और नैपाली बाबा अनन्तानन्दजी आदि प्रमुख महात्माओं से मिले। इससे आगे जाने का आपका विचार नहीं था। अतः

---

* योगी को ध्यान के समय कुछ भी चिन्तन नहीं करना चाहिए, सर्वदा शून्यपर (शून्यपरायण अथवा शून्यातीत) रहना चाहिये।

लक्ष्मणझूला तक जाकर आप फिर दक्षिण की ओर लौट पड़े। तब से अधिकतर आप कानपुर और लक्ष्मणझूला के मध्यवर्ती गङ्गातट पर ही विचरते थे। इन दिनों में आपका गङ्गातट न छोड़ने का नियम-सा ही था। इस नियम को तोड़कर आप सबसे पहले मोहनपुर ही गये थे। आपकी अन्तर्मुखी वृत्ति दिनों-दिन बढ़ रही थी। सं० १९४७ का चातुर्मास्य अपने कर्णवास में किया। यहाँ जोरावर नाम के एक ब्रह्मचारी रहते थे। उन्होंने झाड़ी में एक गुफा बना रखी थी। उनसे आपका मेल-जोल होगया। आप सवेरे आठ बजे तक तो कुटी में रहते थे। उसके पश्चात् दिन भर एक खार मे सिद्धासन लगाये बैठे रहते थे। इस समय आपका अभ्यास बहुत बढ़ा-चढ़ा था। बोध और वैराग्य की मस्ती हर समय चढ़ी रहती थी। मिलना-जुलना तो किसी से था ही नहीं। दिन के समय रहने का भी कोई एक ठिकाना नहीं था। रात्रि में भी केवल दो-तीन घण्टे ही सोते थे, सो भी अधिकतर आसन लगाये ही आगे को कुहनियों के बल झुक जाते थे। पैर फैलाकर सोने की आदत तो आपको बहुत पीछे पड़ी है।

कोई भी साधक जब तेजी से साधन में लगता है तो अनेक प्रकार के विघ्न और प्रलोभन उसे तपोभ्रष्ट करने की चेष्टा करते है। इसी प्रकार आपके सामने भी ऐसे अनेकों प्रलोभन आते रहते थे। किन्तु आप सर्वदा अपनी तपोनिष्ठा में स्थित रहे। एक दिन आपने स्वप्न मे देखा कि आप श्री गंगाजी की रेती में बैठे हैं। मध्याह्न का समय हुआ, इसलिये आप भिक्षा माँगने के लिये चल दिये। कुछ दूर जाने पर आपको एक दिव्य नगर दिखाई दिया। उसके द्वार पर जरी की पोशाकें पहने चौकीदार पहरा लगा रहे थे। आप उनसे पूछ कर भीतर गये तो सारा नगर चाँदी के महलों से जगमगा रहा था। उन महलों के

किवाड़ सोने के थे और उनमें बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे। आपने निरपेक्ष भाव से एक द्वार पर 'नारायण' शब्द किया तो भीतर से नाना प्रकार के वस्त्राभूषणों से सुसज्जिता एक देवांगना आती दिखाई दी। उसने बड़े विनीत भाव से भीतर पधार कर भोजन करने की प्रार्थना की। किन्तु आपने उसकी ओर दृष्टिपात न करते हुए कहा, "देवि! थोड़ी भिक्षा दे दो।" इस पर भी जब उसने भीतर चलने का आग्रह किया तो आप आगे चल दिये। परन्तु फिर तो आप जिस घर के द्वार पर होकर निकलते वहाँ वैसी ही देवांगनाएँ सुवर्ण के थालों में भोजन लिये दिखाई देतीं और आप जैसे-जैसे उनकी उपेक्षा करके आगे बढ़ते वैसे-वैसे ही आपके पीछे लगती जातीं। अब, जहाँ भी आपकी दृष्टि पड़ती वहाँ सुवर्ण के थाल लिये दिव्य ललनाएँ ही दिखायी देतीं। इस प्रकार अपने को उनसे घिरा देख कर आप बहुत घबराये और उनसे छुटकारा पाने का कोई उपाय न देख कर रोने लगे। रोते-रोते ही आपकी निद्रा भंग हुई। उस समय आपको इतना अश्रुपात हुआ कि आपकी गुदड़ी भीग गयी थी।

वास्तव में इसी का नाम सच्ची लगन है। जाग्रत् अवस्था में कनक और कामिनी के जाल से बचने वाले शूरवीरों की संख्या भी अधिक नहीं है। वे भी जितने मिलते हैं उनमें से भी ऐसे कितने हैं जिनमें स्वप्नावस्था में भी वैसी ही सावधानी बनी रहे। परन्तु सच्चे साधक की पहचान तो यही है कि उसकी जो दृष्टि जागृति में हो वही स्वप्न में भी बनी रहे। जिस समय ऐसी स्थिति प्राप्त हो उस समय साधन की सफलता समझनी चाहिये।

इस प्रकार शरत्पूर्णिमा तक आप कर्णवास में रहे। फिर गंगाजी के दूसरी ओर आहरनपुर नामक गाँव में चले आये। यहाँ भिक्षा का कष्ट था। गाँव में मक्का-बाजरे की मोटी-झोटी रोटियाँ मिलती थीं। पास कोई दूसरा गाँव भी नहीं था। किन्तु

आपने अपने संयम को और भी कस दिया। यहाँ रहकर आप 'अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्या:' (संन्यासी को केवल आठ ग्रास खाने चाहिये) इस नियम के अनुसार रात-दिन में केवल आठ ग्रास खाने लगे। आप रोटियों को मलकर पानी में भिगो देते और उनके कुक्कुटाण्ड के समान आठ गोले बना लेते। उस गाँव में दो महीने तक आप इसी नियम से रहे। वहाँ से गंगातट के कई गाँवों में विचरते चातुर्मास्य के लिये रामघाट गये। इस समय आस-पास के गाँवों से कुछ सत्संगी भी आपके दर्शनों के लिये आने लगे थे। आपकी उपरति बहुत बढ़ गयी थी। भक्त बिहारी लाल का कथन है कि उस समय कभी-कभी मैं भिक्षा ले जाया करता था। किन्तु आपकी ऐसी विस्मृति की-सी अवस्था रहती कि आप मेरे कहने पर भी स्वयं भोजन नहीं कर पाते थे। मैं ग्रास तोड़कर हाथ में दे देता तो वह हाथ में ही लगा रहता। फिर मैं कहता, 'बाबा ! भोजन करलो' तो ग्रास मुँह में दे लेते। किन्तु कभी-कभी तो बहुत देर तक वह मुँह मे ही रखा रहता, उसे चबाने का ध्यान भी न आता। इस प्रकार बड़ी देर में भिक्षा हो पाती।

लीलाक्षेत्र का विस्तार

इस समय सं० १९७५ का कार्तिक मास था। आप रामघाट से नरवर होते हुए कर्णवास आये। परन्तु इन दिनों इस प्रान्त में श्लेष्मज्वर (Influenza) का बहुत जोर था। इसके कारण ऐसे इने-गिने घर ही होंगे जिनमें कोई मृत्यु न हुई हो। कर्णवास तो गंगातट ठहरा। इसलिये यहाँ बाहर से गाड़ियों में भरकर मुर्दे लाये जाते थे और बिना ही जलाये गंगाजी मे डाल दिये जाते थे। गंगातट पर जगह-जगह लाशें सड़ती दिखाई देती थीं। रोग की ऐसी प्रबलता देखकर आपने कुछ दिनों के लिये गंगातट

छोड़ने का निश्चय किया । अतः आप अलीगढ़ और हाथरस होते मथुरा-वृन्दावन चले आये । वृन्दावन में आप वहाँ के सुप्रसिद्ध सन्त श्री रामकृष्णदास जी से मिले । उनसे शांकर सिद्धान्त के विषय में कुछ बातें हुईं । उनकी व्रजनिष्ठा और विरक्ति देखकर आपको बड़ी प्रसन्नता हुई । इसी प्रकार और भी एक-दो महात्माओं से बातचीत हुई । वे भी व्रजरस के अनन्य रसिक थे । यह आपकी पहली ही व्रजयात्रा थी । भिक्षा माँगने का भी विशेष अभ्यास नहीं था । इसलिये इसमें खान-पान का भी कष्ट ही रहा । किन्तु इस प्रकार का कष्ट तो आपके आनन्द का ही कारण होता था । इस यात्रा में हाथरस और अलीगढ़ के कई सत्सङ्गी आपके भक्त हो गये और तब से वे अभी तक आपके चरणों में पूर्ण अनुराग रखते हैं । फिर डेढ़ वर्ष तक आप कई स्थानों मे घूमते रहे । भ्रमण के साथ ही आपके भक्तों की संख्या भी बढ़ने लगी । वास्तव में तो यह आपकी तपस्या का ही प्रभाव था ।

कमल जब खिल जाता है तो भ्रमरवृन्द स्वयं ही आकर एकत्रित हो जाते हैं । इसी प्रकार जिन महानुभावों का हृदय-कमल परमात्मतत्त्व रूप प्रभाकर की तमोनाशिनी किरणों का दर्शन पाकर खिल जाता है उनके पुण्य-पराग की दिव्य गंध से स्वयं ही उनके आस-पास भक्त-भ्रमरों की भीड़ होने लगती है । वे भले ही अपने को छिपाना चाहें, किन्तु जिस विशुद्ध सत्व की किरणें उनके दिव्य विग्रह से निकलती रहती है उसके लालची अधिकारी पुरुष किस प्रकार उन्हें छोड़ सकते हैं ? इसी से लोकेषणा से कोसों दूर रहने वाले स्वात्माराम मुनियों के पास भी अनेकों जिज्ञासु उन्हें वन-पर्वतादि में ढूँढ़-ढूँढ़कर पहुँच जाते हैं तथा उनके दर्शन, स्पर्श और वचनों से अपने नेत्र, कर और श्रोत्रों को कृतार्थ करते हैं । अतः आपके पास भी अब

उत्तरोत्तर भक्त एवं जिज्ञासुओ का आना-जाना बढ़ने लगा तथा आप भी धीरे-धीरे अपने संकोच को शिथिल करके यथाप्राप्त परिस्थिति का अनुसरण करने लगे।

सं० १९७७ का चातुर्मास्य आपने रामघाट में ही किया। आपके दर्शनों के लिये हाथरस, अलीगढ़ और अतरौली आदि बाहर के स्थानों से भक्त लोग आने लगे थे। किन्तु स्त्रियों के लिये अब भी निषेध ही था। वे केवल दूर से ही दर्शन कर सकती थीं। इस समय गोमत गाँव की कुछ स्त्रियाँ आईं। वे आपस में कुछ वेदान्तचर्चा किया करती थीं। उन्होंने आपके पास आने का बहुत आग्रह किया और तरह-तरह के प्रश्न भी किये; परन्तु आपने उन्हे कोई उत्तर नहीं दिया। तब वे यह कहकर कि 'हमारे पेट से उत्पन्न होकर हम ही से इतनी घृणा ?' वहाँ से चली गयीं। तब से धीरे-धीरे आपके पास स्त्रियों का आना भी बढ़ने लगा। इन दिनों आपके पास जो सत्सङ्गी आते थे उनसे आपकी परमार्थ-सम्बन्धी बातें हुआ करती थीं तथा वे लोग भी आपका पत्र-पुष्पादि से पूजन करने लगे थे। भक्तों के द्वारा आपके पूजन का आरम्भ यहीं से हुआ। पीछे तो यह क्रम बहुत बढ़ गया था और गुरुपूर्णिमा आदि विशेष अवसरों पर सैकड़ों नर-नारी आपका विधिवत् पूजन करते थे। इसी वर्ष आश्विन मास में स्वामी निर्मलानन्दजी से आपकी भेंट हुई। ये बंगाली महात्मा हैं और बड़े ही नियमनिष्ठ, दृढ़निश्चयी, विरक्त और विनोदी स्वभाव के हैं। हमारे महाराज जी से तभी से इनका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अब ये अधिकतर कर्णवास में ही रहते हैं।

उत्सव और नाम प्रचार

आपके पर्यटन और भिन्न-भिन्न अनुभवों की कथा तो बहुत लम्बी है। आप कहाँ-कहाँ, किस-किस प्रकार गये, इसका

ठीक-ठीक विवरण देना न तो सम्भव है और न विशेष रुचिकर ही हो सकता है। हमें विशेष रूप से तो यही देखना है कि आपके द्वारा जनता का किस प्रकार कितना उपकार हुआ। किन्तु इस बात का दिग्दर्शन कराना तो उससे भी कठिन कार्य है। अपने आध्यात्मिक हिताहित का ज्ञान तो स्वसंवेद्य होता है। उसे दूसरा व्यक्ति कैसे जान सकता है? अतः हम तो केवल तदनुकूल बाह्य प्रवृत्तियों का ही उल्लेख कर सकते हैं।

पूज्य श्री महाराज जी यद्यपि शांकर सम्प्रदाय के संन्यासी थे और उनकी अपनी साधना भी अद्वैतपर ही थी, तथापि वे किसी भी सम्प्रदाय या मतवाद की संकुचित सीमा में बँधे हुए नहीं थे। वे तो सबके थे और सब उनके थे। वास्तव में तो सच्चे संतों का स्वरूप भी यही होता है। जो संपूर्ण प्रपञ्च का अधिष्ठान है वही तो उनका निज रूप भी है और सर्वाधिष्ठान का भला किससे विरोध हो सकता है? सब कुछ उसी में तो अध्यस्त है; उससे भिन्न न तो कोई अन्य परमार्थ सत्य हो सकता है और न ऐसी कोई वस्तु हो सकती है, जो उसमें अध्यस्त न हो। अतः संसार के जितने भी मतवाद हैं, वह भिन्न-भिन्न दृष्टि से उसी का वर्णन करते हैं और ऐसा मतवाद भी कोई नहीं हो सकता, जो साक्षात् रूप से उसका निरूपण कर सके, क्योंकि वह तत्व किसी भी प्रकार मन या वाणी का विषय नहीं हो सकता, प्रत्युत अन्य सब विषयो के समान वह मन और वाणी का प्रकाशक है। अतः जिस प्रकार सम्पूर्ण प्रपंच समान रूप से प्रभु का लीला-विलास है उसी प्रकार संसार के सम्पूर्ण मतवाद एक सच्चे संत की दृष्टि में एक ही परम तत्व का प्रतिपादन करते हैं। इसीलिये सारे मत उसके होते हैं और वह सब प्रकार के मतवादों से परे होता है।

इसी से हमारे श्री महाराज जी को किसी सम्प्रदाय-विशेष

का आग्रह नहीं था। वे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को उनके अधिकार के अनुसार कर्म, उपासना, योग, ज्ञान अथवा लोकसेवा में प्रवृत्त करते रहते थे। उनके दरबार में सभी सम्प्रदायोंके लोग स्वतन्त्रता से आते-जाते रहते थे, तथापि मुख्यतया उनके द्वारा ज्ञान और भक्ति का ही प्रचार हुआ। किसी प्रकार के कथा, व्याख्यान या प्रवचनादि करने का उनका स्वभाव नहीं था। जिज्ञासु लोग सहज भाव से अपनी समस्याएँ सामने रखते थे और श्रीमहाराज उन्हें समाधान करके सुलझा देते थे। किन्तु उनका ज्ञानोपदेश केवल शंका-समाधन में ही समाप्त होने वाला नहीं था। ब्रह्माभ्यास पर उनका बहुत जोर था और यह दृढ़ आग्रह था कि बोध में किसी प्रकार का सन्देह न रहने पर भी तत्त्वज्ञ को आजीवन ब्रह्माकार वृत्ति की आवृत्ति करते रहना चाहिये। खुरजा के सुप्रसिद्ध भक्त श्री केदारनाथजी बड़े ही सन्तसेवी थे। उनसे पहली बार मिलने पर आपने यही कहा था कि मैंने आत्मज्ञानी तो बहुत देखे, किन्तु आत्मप्रेमी कोई नहीं देखा। आपके इसी वाक्य ने उन्हें आपका अनन्य सेवक बना दिया था।

भक्तों को आप प्रधानतया नाम-जप और ध्यान का उपदेश दिया करते थे तथा उन्हें वेदान्त की बातें सुनने से अलग रखते थे। आपका मत था कि श्रद्धाप्रधान व्यक्ति मे प्रायः जिज्ञासा तो होती नहीं है, इसलिये वह यदि वेदान्त की बातें सुनता है तो उन्हें तो ग्रहण नहीं कर पाता और उपासना मे उसकी श्रद्धा शिथिल पड़ जाती है। इसलिये उसे ज्ञानचर्चा से दूर ही रहना चाहिये। किन्तु आपके पास आने वालों मे तो अधिकांश व्यक्ति भक्ति के ही अधिकारी थे। इसीलिये आरम्भ में आप जिज्ञासु भक्तों के साथ एकान्त में ही ज्ञानचर्चा करते थे। सं० १९८० में पूज्य श्री हरिबाबा जी का बाँध बँधा और प्रायः तभी से उनके साथ आपका सम्पर्क रहने लगा। हरिबाबाजी के प्रकाश में आने

के साथ ही इस प्रान्त में श्री हरिनाम संकीर्तन का भी प्रचार होने लगा। आप तो तब तक एक विरक्त महापुरुष की चर्या से ही रहते थे। किन्तु फिर धीरे धीरे आपके समाज में भी श्री हरिनाम संकीर्तन और पदगायन की प्रवृत्ति होने लगी। अब आप जहाँ रहते वहीं भक्तिरस की वर्षा-सी रहने लगी। आप तो स्थिर भाव से सिद्धासन लगाये विराजमान रहते और भक्तजन आपकी सन्निधिसे शक्ति प्राप्त करके नामकीर्तन और पदगायन करते थे। उससे एक ऐसा भक्तिरस का प्रवाह उमड़ता कि भक्तजन उससे भावाविष्ट होकर पागल-से हो जाते थे। बाँध बँध जाने पर श्री हरिबाबाजी प्रत्येक वर्ष होली के अवसर पर श्रीचैतन्य महाप्रभु की जन्म-जयन्ती का उत्सव मनाने लगे। उसमें अखण्ड कीर्तन कथा, व्याख्यान, पदगायन और रासलीला का कार्यक्रम रहता था। इन उत्सवों में आपका भी सहयोग रहने लगा। दो-तीन उत्सवों के पश्चात् तो उन्होंने उनमें आपकी उपस्थिति अनिवार्य कर दी और आप ही पर उनके प्रबन्ध का भार डाल दिया। आपने इस प्रेमपूर्ण उत्तरदायित्व को सहर्ष स्वीकार कर लिया और उसके पश्चात् सम्भवतः ऐसा कोई उत्सव नहीं हुआ जिसमें आप उपस्थित न रहे हों।

बाँध के उत्सवों में लोगों को ऐसा आनन्द आया कि वे अपने यहाँ भी वैसा ही आयोजन करने लगे। फिर तो इन उत्सवों का ऐसा ताँता लगा कि कुछ वर्षों तक तो एक के बाद दूसरा इस प्रकार एक न एक उत्सव होता ही रहता था। अब तो आपका कहीं भी जाना उत्सव के ही निमित्त से होने लगा। उन दिनों में तो आप उत्सवस्वरूप ही जान पड़ते थे। जहाँ भी जाते वहीं भगवन्नाम और भण्डारों की धूम मच जाती थी। इन उत्सवों के कारण आपका भक्तपरिकर और भी बढ़ गया। परन्तु इनमें आपको कितनी दौड़-धूप करनी पड़ती थी, यह तो जिन्होंने देखा

है वे ही जानते हैं। तथापि किसी भी समय आपकी प्रसन्न मुद्रा में कोई अन्तर नहीं आता था। लोगों को भोजन कराने में आपको बड़ा आनन्द आता था। प्रेमी भक्तजन भी आपके हाथ से प्रसाद लिये बिना अपने को तृप्त नहीं मानते थे। किन्तु यह खान-पान की जितनी अधिक धूम होती थी उतना ही आपका आहार कम होता था। भण्डारों में तो भोजन को देखकर ही आपकी तृप्ति हो जाती थी। कभी-कभी घरों में भिक्षा करने के लिये जाते तो एक-एक दिन में पचास-पचास घरों में भिक्षा होती। किन्तु आप सब मिलाकर भी अपनी खुराक से कम ही अन्न ग्रहण करते थे। केवल भक्तों की तृप्ति के लिये ही उनके घर हो आते थे। इस प्रकार दिन भर भारी दौड़-धूप करने पर भी रात्रि मे आप दो-तीन घण्टे ही सोते थे। इतना परिश्रम और फिर इतना कम विश्राम करके स्वस्थ रहना बहुत कम देखने में आया है।

ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी प्रायः सं० १९८२ वि० से आपके पास आने-जाने लगे थे। उस समय ब्रह्मचारीजी राजनैतिक क्षेत्र से आध्यात्मिकता की ओर मुड़ रहे थे। किन्तु संकीर्तनादि में अभी इनका कोई अनुराग नहीं था। कई बार गायत्री पुरश्चरण करने के पश्चात् किसी भगवत्प्रेरणा से इनकी नाम प्रचार की ओर प्रवृत्ति हुई और फिर तो इस भगवत्कार्य मे इनके द्वारा बड़ी सहायता मिली। सं० १९९० वि० में ब्रह्मचारीजी ने संकीर्तन का एक वृहदुत्सव अलीगढ़ में किया, जिसमें महाराजजी तथा श्री हरिबाबा जी ने पूर्ण सहयोग दिया और उसे सफल बनाया। सं० १९९१-९२ में इन्होंने झूसी में एक वर्ष तक भगवन्नामजप और अखण्ड-नामकीर्तन की एक व्यवस्थित योजना की। इसमें प्रत्येक साधक को फलाहार और मौन का नियम लेकर प्रतिदिन एक लक्ष नामजप करना होता था। इस अनुष्ठान की

पूर्ति सं० १९९२ के माघ मास में होने वाली थी । दैवयोग से इसी समय प्रयाग की अर्द्ध कुम्भी भी थी। उन्होंने इस महत्कार्य के लिये आपको आमन्त्रित किया। आप यद्यपि किसी सवारी पर यात्रा नहीं करते थे, तथापि श्रीब्रह्मचारीजी के प्रेमपूर्ण आग्रह की उपेक्षा करना भी सम्भव नहीं था; अतः आपने आठ-दस विरक्त भक्तों के सहित गढ़मुक्तेश्वर से झूँसी की यात्रा की। यह उत्तर भारत का शीत-काल था, तथापि मार्ग में अधिकांश रात्रियाँ आपने वृक्षों के नीचे ही बितायी थीं । इस प्रकार साढ़े तीन सौ मील की यात्रा प्रायः एक मास में पूरी करके आप प्रयाग पहुँचे ।

ब्रह्मचारीजी ने बड़े उत्साह से आपका स्वागत किया। इस उत्सव में अनेकों उच्च कोटि के महात्मा और विद्वान् पधारे थे। अर्धकुम्भी का अवसर होने के कारण हिन्दूधर्म के अनेकों नेता और संत तो स्वतः ही प्रयाग में आये हुए थे । उनमें से किन्हीं विशिष्ट व्यक्ति को आमन्त्रित करके प्रत्येक दिन उनका प्रवचन कराना श्री ब्रह्मचारीजी के लिये कोई बड़ी बात नहीं थी। पूज्य स्वामी श्री एकरसानन्द जी, भक्त श्रीजयदयाल जी और हनुमानप्रसाद जी पोद्दार तो उत्सव के उद्देश्य से ही पधारे थे। इनके सिवा महामण्डलेश्वर श्रीजयेन्द्र पुरीजी, श्रीस्वामी गंगेश्वरानन्द जी, श्री करपात्रीजी महाराज और महामना पं० मदनमोहन मालवीय आदि और भी अनेकों महापुरुषों के सदुपदेश हुए। स्वामी श्री एकरसानन्द जी ने दीक्षान्त भाषण दिया और हमारे श्री महाराज जी के सामने साधकों ने भविष्य में श्री भगवन्नाम जपते रहने की प्रतिज्ञा करके अपना-अपना मौन खोला।

उत्सव के पश्चात् प्रयाग पञ्चक्रोशी की परिक्रमा हुई और फिर श्रीमहाराज जी ने काशी एवं अयोध्या की यात्रा की।

काशी में पं० श्री मदनमोहनजी मालवीय ने आपको हिन्दू विश्व-विद्यालय दिखलाया। अयोध्या में इन दिनों श्री रामनवमी का उत्सव था। यहाँ ब्रह्मचारी जी भी आपके साथ थे। इसलिये बड़ा आनन्द रहा। वहाँ से आप लखनऊ पधारे। इन दिनों यहाँ अखिल भारतीय काँग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हो रहा था। कॉंग्रेस के प्राण महात्मा गांधी भी यहीं थे। एक दिन उनसे भी आपने भेंट की। फिर कानपुर होते हुए जिला आगरा के खाँडा नामक ग्राम में आये। यहाँ पं० चोखेलाल और घूरेलाल ने एक ज्ञानयज्ञ का आयोजन किया था। उसमें दण्डिस्वामी श्री विश्वेश्वराश्रम, श्री करपात्री जी महाराज और स्वामी सच्चिदानन्द आदि कई सुप्रतिष्ठित महात्मा पधारे थे। अतः इस सत्र में खूब ज्ञानचर्चा रही। फिर कई स्थानों में होते हुए आप रामघाट पहुँचे और उस वर्ष का चातुर्मास्य वहीं किया। झूसी के अनुष्ठान की भाँति यहाँ भी आपने एक अनुष्ठान कराया। उसके लिये झाड़ी में पाँच-छः फूस की कुटियाएँ बनायी गईं। उनमें ब्रह्मचारी आनन्दप्रकाश (श्री रमाकान्त जी), स्वामी सियाराम और बाबा रामदास आदि कुछ विरक्त संत रहकर विशेष रूप से ध्यानाभ्यास करने लगे। इससे ब्रह्मचारी आनन्दप्रकाश जी की ध्यान स्थिति बहुत अधिक बढ़ गयी। वे उन दिनों बारह-बारह घंटे तक एक आसन से बैठे रहते थे। यहीं उन्हें कृतकृत्यता का अनुभव हुआ। इसके कुछ ही दिनों पश्चात् कर्णवास में उन्होंने स्वयं ही संन्यास ग्रहण कर लिया। आगे चलकर ये बहुत उच्चकोटि के सन्त माने जाने लगे और महर्षि कार्त्तिकेय तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुए। महाराज जी के शिष्यों मे आप सबसे अग्रगण्य थे। गत वर्ष (सं० २०१० वि० में) आपका देहावसान हो गया है।

झूसी में हीं सबसे पहले आपको पं० शान्तनुबिहारी मिले। उस समय उनकी आयु प्रायः पच्चीस साल की होगी। घर

से वे संन्यास लेने के विचार से निकले थे, किन्तु फिर ब्रह्मचारी जी के यहाँ साधक रूप से रहने लगे। वहाँ श्री ब्रह्मचारीजी ने इन्हे श्रीमद्भागवत प्रवचन करने का काम सौंपा। पूज्य श्री महाराज जी ने इनकी प्रतिभा देखकर इनसे जनता के सामने कथा कहलानी आरम्भ कर दी। फिर तो ये एक उच्चकोटि के सफल कथावाचक प्रमाणित हुए। यहीं से गोरखपुर जाकर ये 'कल्याण' में काम करने लगे। वहाँ कल्याण में इनके द्वारा जो महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है वह किसी से छिपा नहीं है। सं० १६६८ की माघ शु० ११ को प्रयाग के कुम्भमें इन्होंने ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकाराचार्य श्रीब्रह्मानन्द सरस्वती से विधिवत् संन्यास ले लिया। तब से आपस्वामी श्री अखण्डानन्दजी सरस्वती के नाम से प्रसिद्ध हुए। संन्यास के पश्चात् आपका निवास अधिकतर श्री महाराज जी के पास ही हुआ तथा उनका निर्वाण होने पर आप ही उनके आश्रम के ट्रस्टाधिपति हुए। आपकी तत्त्व-प्रतिपादन की शैली बड़ी ही अद्भुत है तथा आपकी-सी भागवत-कथा भी अन्यत्र दुर्लभ ही है।

इनके सिवा हमारे श्रीमहाराजजी से अनेक उच्चकोटि के साधकों का सम्बन्ध हुआ है। उन सबका परिचय देना इस लेख के संकुचित कलेवर में सम्भव नहीं है, तथापि उनमें से कुछ का नामोल्लेख न करना भी अन्याय ही होगा। आप में गुरुभाव रखने वालों में सबसे प्रधान ब्रह्मचारी श्री कृष्णानन्दजी थे। आप श्री महाराजजी के गुरु भाई दण्डिस्वामी श्री सुब्रह्मण्यदेव तीर्थ के शिष्य थे। उनका देहावसान होने पर आप इन्हीं के पास रहने लगे थे और इनमें पूर्ण गुरुभाव रखते थे। इनका शरीर कुछ स्थूल और नाटा था, इसलिये भक्तगण इन्हें 'गणेशजी' कहा करते थे। योग और ज्ञान दोनों ही में इनकी अच्छी गति थी, परन्तु सबसे बढ़कर था इनका बालभाव। आयु में श्री महाराजजी

जी के समवयस्क होने पर भी आप उनके सामने बिल्कुल बच्चे की तरह रहते थे तथा अन्य भक्तों के साथ भी अपने समवयस्क बालकों की तरह चेष्टाएँ किया करते थे। ब्रह्मचारी जोरावर का उल्लेख ऊपर हो चुका है। वे भी स्वामी सुब्रह्मण्यदेव तीर्थ से संन्यास लेकर श्री महाराजजी के पास ही रहते थे। ये स्वामी विवेकानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए। अन्य विरक्त भक्तों में स्वामी प्रबोधानन्द सरस्वती, दण्डिस्वामी आत्मबोध तीर्थ, तत्त्वबोध तीर्थ, सिद्धेश्वराश्रम जी ('सियारामजी'), रामदासजी, ब्रह्मचारी शिवानन्दजी (श्री आञ्जनेयजी), श्रीपल्टू बाबाजी, विज्ञानभिक्षुजी, चेतनदेवजी और प्रकाशानन्दजी के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें अन्तिम चार का देहावसान हो चुका है। पूज्य श्री महाराजजी की शारीरिक सेवा करने वालों में मुख्य थे ब्रह्मचारी श्री रामजी। आरम्भ से ही ये बड़े शान्त और सरल स्वभाव के थे। अन्तिम दिनों में श्री महाराज की रुग्णावस्था में इन्होंने उनकी तन-मन से बड़ी अद्भुत परिचर्या की थी। उनके ब्रह्मलीन होने के कुछ काल पश्चात् इन्होंने ज्योतिषपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य ब्रह्मानन्दजी सरस्वती से दण्ड ग्रहण किया। उन्होंने इनको अपनी वसीयत में अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। अब आप ही श्रीशान्तानन्दजी सरस्वती के नाम से विख्यात होकर ज्योतिर्मठ के पीठाध्यक्ष हैं। गृहस्थ और अर्द्ध-विरक्त भक्तों की नामावली तो कहाँ तक लिखी जाय। इस लेख में प्रसङ्गवश किन्हीं-किन्हीं का उल्लेख जहाँ-तहाँ हुआ ही है।

अस्तु। रामघाट के पश्चात् आप कर्णवास पधारे। शीत-काल में आप यहीं रहे। यहाँ माघ शु० ५ से पूर्णिमा तक आपके तत्त्वावधान में हाथरस के श्री गणेशीलालजी ने महारुद्रयज्ञ कराया। इस यज्ञ में साधु-संन्यासी और ब्राह्मणों का अच्छा सत्कार हुआ। इसके अध्यक्ष थे दण्डिस्वामी श्री कृष्णबोधाश्रम

जी, व्यवस्थापक थे बालब्रह्मचारी पं० जीवनदत्तजी, आचार्य थे काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पं० विद्याधरजी तथा ब्रह्मा थे ऋषिकेश वाले पं० श्री बालकरामजी अग्निहोत्री । इसी यज्ञ की स्मृतिरूप वहाँ एक पक्की यज्ञशाला बनी जो इस समय पक्के घाट पर विद्यमान है । इसके पश्चात् चैत्र के नवरात्र में राधेश्याम सेक्सरिया की प्रार्थना से आपने हाथरस में श्रीरामनवमी का उत्सव किया । उत्सव की पूर्णाहुति एक नगरकीर्तन के द्वारा हुई । उसमें भगवन्नाम-कीर्तन की जैसी धूम मची वैसी इस बस्ती में पहले कभी नहीं देखी गयी । उसमें अनेकों लोग भावावेश में उन्मत्त से हो गये थे ।

इस प्रकार आपके तत्त्वावधान में इस प्रान्त में यज्ञ, भागवत-सप्ताह और नाम-संकीर्तनादि के रूप में सैकड़ों उत्सव हुए थे । आप जहाँ भी रहते थे वहीं एक प्रकार का उत्सव-सा हो जाता था ।

वृन्दावन का आश्रम

अब हमारे श्री महाराजजी का प्रभाव बहुत फैल गया था और आपके भक्त-परिकर में श्रीमानों की भी कोई कमी नहीं थी। किन्तु आपने अपने लिये कहीं कोई कुटी नहीं बनायी थी । आप और श्रीहरिबाबाजी व्रज की ओर प्रायः जाते रहते थे। वृन्दावन तो इनका प्रायः प्रतिवर्ष ही कुछ दिनों के लिये जाना होता था । किन्तु यहाँ इनके और इनके परिकर के ठहरने के लिये कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं था । इस कारण सभी को बड़ी असुविधा रहती थी । अतः आपके कुछ व्रज प्रेमी भक्तों की प्रेरणा से वृन्दावन में एक स्थान बनाने का निश्चय हुआ । इसकी नींव व्रज के सर्वमान्य सन्त श्री ग्वारिया बाबा से रखवाई गई । आरम्भ में तो केवल एक छोटी सी कोठी ही बनी थी; किन्तु यह था तो आपका संकल्प, फिर अल्प कैसे रह सकता था । धीरे-धीरे इसमें अन्य कई स्थान

बने और फिर तो यह एक विशाल आश्रम बन गया। इस आश्रम में सब से अधिक आर्थिक सेवा गोराहो (एटा) के रईस रावबहादुर ठाकुर कंचनसिंह ने की थी। पीछे जब आश्रम का ट्रस्ट बना तो वे ही उसके प्रधान बनाये गये।

सं० १९९४ वि० के माघ मास में इस आश्रम की प्रतिष्ठा का बड़ा विशाल उत्सव हुआ। श्री महाराजजी के द्वारा जितने भी उत्सव हुए हैं उनमें यह सभी से बढ़-चढ़कर था। इसमें प्रायः पाँच हजार दर्शक बाहर से आये थे। आश्रम रेलवे लाइन के समीप ही है, अतः उत्सव के दिनों में वहाँ एक अस्थायी स्टेशन भी बना दिया गया था। इसके सिवा डाक और ओषधि का भी प्रबन्ध था। समागत व्यक्तियों के आवास, प्रकाश, स्वच्छता, भोजन, जल और मंच की व्यवस्था के लिये अलग-अलग विभाग बनाकर उनके अधिकारी नियुक्त कर दिये थे। प्रायः सौ कीर्तनकारों की मण्डलियाँ बारी-बारी से अखण्ड नाम-संकीर्तन कर रही थीं तथा श्रीमद्भागवत का साप्ताहिक प्रवचन होता था। वृन्दावन तो स्वतः ही उत्सव भूमि है, किन्तु यह उत्सव इस उत्सव-भूमि में भी अभूतपूर्व माना गया था।

श्री महाराजजी ने इस आश्रम का नाम श्रीकृष्णाश्रम रखा था और उसका एक ट्रस्ट बनाकर एक्ट २१ सन् १८६० के अनुसार उसकी रजिस्ट्री करा दी थी। यह ट्रस्ट श्रीपूर्णानन्दतीर्थ' (उड़िया बाबा) ट्रस्ट, वृन्दावन के नाम से प्रख्यात है और इसी ट्रस्ट को कृष्णाश्रम सम्बन्धी समस्त वैधानिक अधिकार प्राप्त हैं। यह किसी सम्प्रदाय विशेष का स्थान नहीं है और न इसके साथ महाराजजी ने कोई सम्पत्ति ही रखी थी। इसमें श्रीमहाराजजी अथवा उनके भक्तों के कोई भी प्रेमी ठहर सकते हैं। अपनी स्थायी सम्पत्ति इसके पास प्रायः कुछ भी नहीं थी। पूज्य श्री-

महाराजजी जब इसमें रहते थे तो रासलीला, कथा, कीर्तन और भण्डारों की धूम लगी रहती थी; और जब बाहर चले जाते थे तो यहाँ कोई भी प्रवृत्ति नहीं रहती थी। अब भी जब श्री हरिबाबाजी महाराज अथवा स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी यहाँ रहते हैं तो उक्त सभी प्रकार की सत्प्रवृत्तियाँ बनी रहती हैं, नहीं तो प्रायः शान्ति ही रहती है। यह सब होने पर भी यह आश्रम जब से स्थापित हुआ है तभी से भगवल्लीला और सत्सङ्गादि का प्रधान क्षेत्र माना जाता है। यहाँ कथा, कीर्तन, सत्सङ्ग और लीला-दर्शन का जैसा आनन्द रहता है वैसा श्री वृन्दावन में किसी अन्य स्थान पर नहीं देखा जाता। इसका कारण इन महापुरुषों की सन्निधि ही है। इसके सिवा आश्रम में एक पुस्तकालय भी है। उसमें प्रायः सभी शास्त्रग्रन्थ संगृहीत किये गये हैं। इस पुस्तकालय के विकास का श्रेय प्रधानतया स्वामी श्री अखण्डानन्दजी को है। उन्हीं के सहयोग से इसमें पुस्तकों का ऐसा सर्वाङ्ग-सुन्दर संग्रह हो सका है।

इस आश्रम के कुछ ही काल पश्चात् बाबू रामसहाय के उद्योग से ठाकुर कञ्चनसिंह जी ने एक आश्रम रामघाट में भी बनवाया है। उसमें एक कोठी और कुछ अन्तर देकर अलग-अलग पन्द्रह-सोलह कुटियाएँ हैं। एकान्तसेवी विरक्त महात्माओं के लिये यह स्थान बहुत अच्छा है। यह भी अब श्रीवृन्दावन के आश्रम की ट्रस्ट समिति की ही सम्पत्ति है।

कुछ विशेषताएँ

श्री महाराजजी की विशेषताओं का हम क्या वर्णन करें? श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञानी, भक्त और गुणातीत के जो लक्षण बताये गये हैं वे प्रायः सभी आप में पाये जाते थे। आप नैष्ठिक ब्रह्मचारी तो थे ही, साथ ही जितने महान् थे उतने ही विनम्र

और परदुःख-कातर भी थे। आपको कभी किसी पर क्रोध करते नहीं देखा गया। आपके भक्त-परिकर में सभी प्रकार के लोग थे, किन्तु आप उन्हीं पर अधिक प्रेम करते थे जो आपकी निन्दा करते थे। आपको किसी सम्प्रदाय-विशेष का आग्रह तो था नहीं, इसलिये आपके यहाँ ज्ञान और भक्ति दोनों ही मार्गों का अनुसरण करने वाले भक्त रहते थे। उनमें भक्ति पक्ष वाले भगवन्नाम-कीर्तन भी करते थे। इस नामकीर्तन को अवैदिक और असाम्प्रदायिक मानने वाले कुछ अग्रगण्य संन्यासियों ने आपको इससे विरत करना चाहा और इसी निमित्त से उन्होंने सर्व-साधारण के सामने आपको कुछ उल्टा-सुल्टा भी कहा; किन्तु आप केवल हँसते ही रहे। एक बार उन्होंने काशी के एक प्रख्यात नैयायिक को इस विषय में आपको समझाने के लिये भेजा। किन्तु आपने उनसे यही कहा, "पण्डितजी! आपने मेरी जितनी बुराइयाँ सुनी है उनसे तो मुझमें बहुत अधिक दोष हैं। मैं भला आपकी शकाओं का क्या समाधान कर सकता हूँ? मैं तो यहाँ ग्रामीण लोगों को बहकाता रहता हूँ।" फिर आपके कृपापात्र श्री विश्वबन्धुजी ने ही पण्डितजी की शंकाओं का उत्तर देकर उन्हें सन्तुष्ट किया।

आपकी उदासीनता और साथ ही अनवरत क्रियाशीलता— ये भी ऐसे विरोधी स्वभाव थे जो अन्यत्र प्रायः दुर्लभ ही हैं। आप जब कभी बैठते थे तो प्रायः ध्यानस्थ होकर स्थिर आसन से ही विराजते थे। किन्तु बड़े-बड़े उत्सवों मे प्रातःकाल चार बजे से रात्रि के दस बजे तक बराबर दौड़-धूप भी करते रहते थे, और इस दौड़-धूप में आपकी मुखाकृति में कभी किसी प्रकार के अवसाद या थकान का चिह्न दिखाई नहीं देता था। निरन्तर वही छलकती हुई प्रसन्नता खेलती रहती थी। सैकड़ों की भीड़ होने पर भी सभी की पूछताछ और सुविधा का ध्यान रखते थे।

आज उनके उस वात्सल्य को स्मरण करके भक्तजन अधीर से हो जाते हैं।

क्षमा तो उनका सहज स्वभाव था। किसी को कोई कड़ा दण्ड देना तो वे जानते ही नहीं थे। बड़े से बड़े अपराधी को भी केवल झिड़ककर ही रह जाते थे। बहुत हुआ तो कुछ दिनों के लिये उसका अपने सामने आना बन्द कर दिया। सो, यह दण्ड भी उन्हीं को दिया जाता था जो किसी प्रकार के अपकर्म द्वारा अपना पतन कर लेते थे। अपने प्रति अपराध करने वाले को तो वे उल्टा प्यार ही करते थे। वृन्दावन में आपका सम्मान बहुत बढ़ गया था। इससे चिढ़कर कुछ ईर्ष्यालु लोग किसी प्रकार आपको नीचा दिखाना चाहते थे। उन्होंने हाथरस के एक अर्ध-विक्षिप्त व्यक्ति को कुछ प्रलोभन देकर गाँठ लिया। उसने कथामण्डप में सब लोगों के सामने आपकी नाक काटने का प्रयत्न किया। पर उसका साहस शिथिल पड़ गया। नाक पर कुछ घाव तो किया किन्तु फिर वह चाकू छोड़ कर भागा। लोगों ने उसे पकड़ कर पीटना आरम्भ किया, किन्तु आपने उसे उनसे छुड़ाकर दूध पिलाया और पुलिस के हाथ में भी नहीं पड़ने दिया। ऐसी थी आपकी क्षमा।

एक बार लोगों ने किसी के दोष बतलाकर यह प्रार्थना की कि उसे यहाँ से निकाल देना चाहिये। आप बोले "क्या तुम उसे भगवान् की सृष्टि में से भी निकाल सकते हो?" आपके लिये तो अपना कुछ था नहीं, फिर किसे कहाँ से निकालते? यदि कोई पुरुष आपको तङ्ग करता और दूसरे लोग उसे रोकते तो आप उसी का पक्ष लेते थे। आप कहीं जा रहे हों, उस समय यदि आपके आगे चलने वाले व्यक्ति को कोई हटाना चाहता तो आप उसे तुरन्त रोक देते, अथवा उसके रोकने से पहले ही रास्ता काटकर उससे आगे निकल जाते।

आपकी उदारता तो सर्वजन-प्रसिद्ध थी। आपके पास फल और मिठाइयों का ढेर लगा रहता था और आप मुक्तहस्त से उसे लुटाते रहते थे। किसी ने शंका की, 'महाराज! आप हर समय प्रसाद क्यों बाँटते रहते हैं? तो आप बोले, "यह हमारा शौक है। लोगों को जैसे सुल्फा गाँजा या बीड़ी-सिगरेट का शौक होता है, इसी प्रकार मुझे दूसरों को खिलाने का शौक है।" किन्तु खाने का आपको कभी कोई चाव नहीं था। दूध, फल आदि से भी आपको घृणा ही थी। लोगों के आग्रह से भले ही कुछ ग्रहण करलें। पेट भर अन्न तो आप तभी पाते थे जब भिक्षा की मोटी झोटी रोटियाँ मिलती थीं। कैसे ही व्यंजन हों, उन्हे कभी रस-बुद्धि से खाते तो आपको देखा ही नहीं। भोजन के समय मन और नेत्र मानों कहीं अन्यत्र ही लगे रहते थे।

इस प्रकार श्री महाराजजी की एक-एक बात याद करके भक्तों के हृदय भाव से भर आते हैं। अपनी सुविधा का वे कभी विचार नहीं करते थे। जिसे अपना लिया उसके लिये फिर कैसी ही परिस्थिति में क्यों न पड़ना पड़े, उसे निभाते ही थे। जिससे एक बार जैसा सम्बन्ध बन गया, फिर वह कैसा ही हो जाय, आपके लिये तो वही बात रहती थी। किन्तु इतने परसुखापेक्षी होने पर भी वास्तव में आप सर्वथा निरपेक्ष और निर्विकार थे। ऊपर से अत्यन्त मोहग्रस्त और प्रवृत्तिपरायण प्रतीत होते थे, परन्तु वास्तव में आप सर्वथा निःसंग और निष्क्रिय थे।

चमत्कार

श्री महाराजजी के चमत्कारों के विषय में उनके भक्तजनों में अनेकों बातें प्रसिद्ध हैं। यह शास्त्र का सिद्धान्त भी है कि जब किसी व्यक्ति में संयम और निर्वासना की अधिकता होती है तो सिद्धियाँ उसे स्वभाव से ही प्राप्त होती हैं। पूज्य श्री महाराजजी

में ये दोनों ही गुण बहुत बढ़े हुए थे, इसमें तो कोई सन्देह की बात है ही नहीं।

यह बात तो हम सभी देखते थे कि उनके यहाँ अन्न की कभी कमी नहीं पड़ती थी। कैसी ही नयी या बीहड़ जगह में चले जायँ साथ के सभी लोगों के भोजन की व्यवस्था हो जाती थी। जब किसी एक स्थान पर रहते तो बराबर भण्डारों का तांता लगा रहता था। कई बार यह भी देखा गया कि बहुत थोड़ी खाद्य-सामग्री से ही अनेकों लोगों की पूर्ति हो जाती थी। इसी प्रकार उनकी और भी अनेकों बातें प्रसिद्ध हैं। अनेकों को उन्होंने मरणासन्न अवस्था से उबारा, किन्हीं-किन्हीं को प्राणदान भी दिया, किन्हीं को अर्थकष्ट से मुक्त किया और किन्हीं को अन्य कई प्रकार की आपत्तियों से छुड़ाया। भक्तजन उनमें साक्षात् अपने इष्टदेव की झाँकी करते थे। कोई शिवरात्रि के अवसर पर शंकर भाव से उनका अभिषेक करते थे, कोई श्री कृष्णजन्माष्टमी और शरत्पूर्णिमा पर श्रीकृष्ण रूप में उनकी झाँकी सजाते और आरती उतारते थे तो कोई श्री राधाष्टमी और नवरात्रों में देवीरूप से भी उनका पूजन करते थे। भक्तों के अपने थे। उनके लिये उन्हें कुछ भी बनने में कोई आपत्ति नहीं थी। परन्तु सब कुछ बनकर भी वे कुछ नहीं बनते थे। वे निरन्तर अपने स्वस्वरूप में ही प्रतिष्ठित रहते थे, सब प्रकार खेल करके भी पूर्णतया असङ्ग थे।

रुग्णावस्था

महाराज जी ने अपनी साधनावस्था में हठयोग, राजयोग, ज्ञानयोग, और भक्तियोग आदि सब ही का पर्याप्त अभ्यास किया —इन सब प्रकार के अभ्यासों की सूक्ष्मताओं का भी आपको अनुभव था। जब कभी किसी भी प्रकार की साधना

करने वाला आपके पास आया और उसने अपनी कठिनाई को दूर करने का उपाय पूछा तो उसको उस कठनाई का अनुभवपूर्ण उपाय बतलाया गया, जिससे उस साधक को सफलता प्राप्त हुई। समस्त प्रकार के अभ्यासों के पश्चात् अब महाराज जी को पूर्णतया सहजावस्था प्राप्त होगयी थी। वे सदैव समाधिस्थ ही रहते थे, अपने स्वरूप में स्थिति आपका सहज स्वभाव हो गया था। परन्तु आश्चर्य यह था कि इतने बड़े योगी, संयमी और आत्मज्ञानी होते हुए भी उनको बहुमूत्र का भयङ्कर रोग हुआ। यह क्या लीला थी इसका कारण डाक्टर और वैद्य नहीं बतला सके। एक बार तो महाराज जी ने स्वयं कहा था कि ये लोग मेरे रोग का निदान क्या जानें। अस्तु, इस शारीरिक रोग के होते हुए भी उनकी आत्मस्थिति में कभी कोई अन्तर नहीं पड़ा। शरीर यद्यपि कुछ स्थूल हो गया था और दुर्बलता भी प्रतीत होती थी, परन्तु फिर भी पैदल चलने में इतनी तीव्रता थी कि पच्चीस-पच्चीस तीस-तीस मील एक दिनमें चले जाते थे और साथ चलनेवालों को आपका सङ्ग देने के लिये भागना पड़ता था। सवारी में कभी चलते ही नहीं थे। अन्त में जब शारीरिक निर्बलता के कारण जाना-आना बन्द कर दिया तो उस अवस्था में 'प्रेम में नेम नहीं होता' इस सत्योक्ति का परिचय दिया। वह घटना इस प्रकार हुई:—

पूज्य श्री हरिबाबाजी ने सं० २००४ वि० का होली का उत्सव बाँध पर करने का निश्चय किया। इधर सात-आठ वर्ष से बाबा का उत्तर भारत की सर्वमान्य सन्त, पूजनीया माँ श्रीआनन्द-मयी से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। बाबा के कारण हमारे महाराज जी और माँ की भी बहुत घनिष्ठता हो गयी थी। माँ प्रतिवर्ष ही एक-दो बार श्री वृन्दावन के आश्रम में पधारती थीं। पूज्य बाबा के बाँध के उत्सव में भी माँ ने एक मास के लिये

आना स्वीकार कर लिया था। हमारे श्री महाराज जी तो पहले ही से इस उत्सव में आया करते थे और इस बार भी आना स्वीकार कर चुके थे। किन्तु अब आपका स्वास्थ्य पैदल चलकर यहाँ पहुँचने योग्य नहीं था। माँ ठीक समय पर वहाँ पहुँच गयीं, किन्तु महाराजजी के न पहुँचने से बाबा को बहुत असन्तोष हुआ। अतः वे माँ को साथ लेकर कार द्वारा वृन्दाबन आये और महाराजजी से कार में ही बाँध पर चलने का आग्रह किया। किन्तु अभी तक आपका किसी सवारी में यात्रा न करने का नियम अक्षुण्ण रूप से चल रहा था। अतः आप कोई निश्चित उत्तर न दे सके। एक ओर अपना नियम था और दूसरी ओर बाबा का प्रेम। रात के बारह बज गये, किन्तु कोई बात तय न हो सकी। अन्त में बाबा और माँ तो सो गये, आपने बाबा के प्रेम का ही आदर कर रात के दो बजे उन्हें सूचना दिये बिना ही एक दूसरी कार से बाँध को प्रस्थान कर दिया। बाबा सबेरे पाँच बजे कीर्तन करके जब जाने को तैयार हुए तब उन्हें आपके चले जाने की सूचना मिली। इस प्रकार प्रेम के आगे आपने अपने एक जीवनव्यापी नियम को विदा कर दिया।

उसी साल शीतकाल में बाबा पुनः वृन्दावन आये। एक-दो वर्ष से उनकी इच्छा श्री महाराजजी और माताजी को पंजाब ले जाने की थी। अब सवारी में न चलने का तो आपका नियम टूट ही चुका था। इसलिये यह योजना बनाई गयी कि कुछ महात्मा, भक्तजन और रासमण्डली के साथ पंजाब के कुछ स्थानों की यात्रा की जाय, और महाराजजी के स्वास्थ्य-लाभ के लिये काँगड़ा की दुर्गादेवी के भी दर्शन किये जायँ। अतः दिल्ली, कुरुक्षेत्र, अम्बाला, खन्ना, आनन्दपुर, होशियारपुर, काँगड़ा और अमृतसर आदि स्थानों में जाने का कार्यक्रम बना। सब स्थानों

की तिथियाँ निश्चित हो गयीं और वहाँ उन दिनों में उत्सवों के प्रोग्राम बनाये गये। इस योजना के प्रधान संचालक थे स्वामी श्री कृष्णानन्दजी अवधूत। इस यात्रा का एक प्रधान उद्देश्य उनके गुरुदेव खन्नावाले श्री त्रिवेणी पुरीजी महाराज के दर्शन करना भी था। ये बहुत उच्चकोटि के महापुरुष थे। इनका बालवत् बड़ा ही निर्विकार भाव था और इनकी ब्रह्मनिष्ठा भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। उस प्रान्त में इनकी सिद्धियों की भी बड़ी धूम थी और लोग इन्हें साक्षात् श्री नानकदेव का अवतार मानते थे। अभी हाल ही में इनका देहावसान हुआ है।

यात्रा बड़े आनन्द से होने लगी। सभी जगह जनसमुदाय का बड़ा आन्तरिक प्रेम देखा गया। पूज्य श्री महाराजजी तो इससे पहले कभी इस प्रान्त में गये ही नहीं थे। इस ओर दिल्ली से आगे उनका जाना कभी नहीं हुआ; किन्तु उनका यशःसौरभ तो सभी ओर फैला हुआ था। अतः उनके पास दर्शनार्थी नर-नारियों की हर समय भीड़ लगी रहती थी। तीन दिन दिल्ली में, एक दिन कुरुक्षेत्र में और तीन दिन अम्बाले मे ठहरकर खन्ना पहुँचे। यहाँ नौ दिन का कार्यक्रम था। पूज्य श्री त्रिवेणी पुरीजी महाराज इन अपूर्व अतिथियों को पाकर आनन्द से गद्गद् हो गये और इन सबको भी उनके दर्शन पाकर बड़ा सुख मिला। इस यात्रा में प्रायः सौ व्यक्ति थे। सभी के खान-पान और विश्राम की बड़ी सुन्दर व्यवस्था थी। नौ दिन तक कथा, कीर्तन, प्रवचन और रासलीलाओं का बड़ा आनन्द रहा। अब आगे चलने के विषय मे विचार होने लगा। आगे की यात्रा मे इतने व्यक्तियों को ले जाना सम्भव नहीं था, अतः उनमें से पच्चीस-तीस व्यक्तियों को साथ लेकर और सबको लौटाने का निर्णय हुआ। परन्तु हृदय से सभी आगे जाना चाहते थे। इस प्रकार अधूरी यात्रा से लौटने में सभी के चित्तों में असन्तोष था; हमारे श्री

महाराजजी के चित्त पर इसका बड़ा आघात लगा। उनका स्वास्थ्य तो पहले ही बहुत गिरा हुआ था। इस आघात से वह और भी बिगड़ गया। उनको, माताजी को तथा अन्य कुछ व्यक्तियों को लेकर एक दिन श्री हरिबाबा जी सरहिन्द में गुरु गोविन्दसिंहजी के पुत्रों के बलिदान-स्थान के दर्शनार्थ गये। वहाँ महाराजजी के स्वास्थ्य की ऐसी शोचनीय स्थिति देखकर माँ और बाबा को बहुत दुःख हुआ और उन्होंने आगे जाने का संकल्प त्याग दिया। बस, दूसरे दिन सबेरे चार बजे ही सोलन के राजा साहब की मोटर से माँ और महाराजजी ने प्रस्थान किया और सीधे श्री वृन्दावन लौट आये। उसी रात को और सब लोग भी रेल और मोटर द्वारा वृन्दावन चले आये।

वृन्दावन लौटने पर आपको बड़ा उग्र ज्वर हुआ। श्रीहरि बाबाजी और माँ श्री आनन्दमयी ने कई आध्यात्मिक अनुष्ठान महाराजजी के स्वास्थ्य लाभ के लिये प्रारम्भ कर दिये। परन्तु वहाँ तो कुछ लीला ही दूसरी थी। इन अनुष्ठानो का कोई फल न देखकर श्री बाबा और माँ ने स्वयं महाराज जी से कहा कि आपके अस्वस्थ होने से सबको दुःख है, इसका निवारण आप अपने संकल्प ही से कर सकते हैं। इस प्रेम-प्रार्थना का फल यह हुआ कि महाराज जी ने अपने संकल्प ही से अपने आपको पूर्णतया स्वस्थ करके सबके कष्ट और चिन्ता को दूर कर दिया। यह महाराजजी की अपनी ही लीला और आत्मिकशक्ति का चमत्कार था। इतने ही में होली के दिन समीप आ गये और प्रतिवर्ष की भाँति पूज्य बाबा श्री मन्महाप्रभुजी के जन्मोत्सव की तैयारी करने लगे। पूज्यनीया माँ भी इस समय वृन्दावन में ही थीं। इसलिये इस वर्ष यह उत्सव यहीं हुआ।

निर्वाण

उत्सव सानन्द समाप्त हुआ। पूजनीया माँ अपने भक्त-

परिकर सहित काशी चली गयीं और स्वामी श्री अखण्डानन्दजी कुछ प्रेमियों के आग्रह से अमृतसर चले गये। इन दिनों श्रीमहाराज जी की विनोदवृत्ति और भी बढ़ गयी थी। कुछ सिंधी भक्तों ने एक हल्की रंगीन गदा-सी लाकर रख दी थी। उससे खेल करते रहते थे। मुख्यतया श्री पल्टू बाबा से अधिक छेड़छाड़ रहती थी। इन दिनों ये रूठे हुए थे और आश्रम में भिक्षा न करके नगर से माधूकरी करके लाते थे। गोवर्धन से पं० गयाप्रसादजी आये हुए थे। उनसे कह दिया था, "मैं गोवर्धन चलूँगा।" बात बड़ी पक्की-सी कह रहे थे। कभी-कभी गाते थे, "गोवर्धन कूँ जाऊँ मेरी वीर, न माने मेरो मनुआँ।" किन्तु मुझे आपका यह विनोद ही जान पड़ता था। मैंने कहा, "तो फिर वहाँ जाने का दिन भी निश्चित कर दीजिये।" आप बोले, "मंगलवार को जाऊँगा।" मैंने कहा, "अभी आपको दुर्बलता अधिक है, ज्वर से छुटकारा मिले थोड़े ही दिन हुए हैं, इसलिये नवरात्र के पश्चात् जब कुछ शक्ति आ जाय तब जायँ।" आपने मानो मेरी बात मान ली।

पूज्य श्री हरिबाबा जी को ब्रह्मचारी श्री प्रभुदत्त जी ने झूँसी बुलाया था, इसलिये वे वहाँ जाने वाले थे। रविवार का दिन आया। आज बाबा झूँसी जाने वाले थे। प्रातःकाल मैं भी हाथरस चला गया और सायंकाल में बाबा ने प्रस्थान किया। आपने स्वयं मोटर तक जाकर बाबा को विदा किया। ऐसा आप पहले प्रायः कभी नहीं करते थे। अब सोमवार आया। आज चैत्र कृष्णा चतुर्दशी सम्वत् २००५ वि० थी। किसको पता था कि आज अपने ही वार और अपनी ही तिथि में ये जंगम शिव स्वरूपस्थ होना चाहते हैं, वह भी एक ऐसे मर्मभेदी ढङ्ग से जिसकी किसी को कभी स्वप्न में भी कल्पना नहीं थी और जिसका चित्र सामने आते ही हृदय चीत्कार कर उठता है, शरीर

सुन्न हो जाता है और मस्तिष्क घूमने लगता है। विधाता की कैसी विचित्र गति है ? कहीं-कहीं उसकी क्रूरता की भी हद हो जाती है। आज भी ऐसा ही हुआ।

प्रातःकाल प्रायः पौन घण्टे तक श्री महाराजजी ने गीता के दो श्लोकों की व्याख्या की। श्लोक ये थे—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥
(अ० २ श्लो० २७, २८)

श्रोताओं का कथन है कि ऐसी व्याख्या पहले आपके मुख से बहुत कम सुनी गयी थीं। मध्याह्नोत्तर ढाई बजे से सत्सङ्ग प्रारम्भ होता था। उसके पहले आप स्नानगृह में लघुशंका से निवृत्त होकर बाहर आये। सामने स्वामी प्रबोधानन्द खड़े थे। उन्हें दिखाकर कहा, 'प्रबोधानन्द ! देख सामने के वृक्ष पर गिद्ध बैठा है, मालूम होता है यहाँ श्मशान होगा।' प्रबोधानन्द ने आपके इस कथन पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। फिर बगल में रामचरितमानस की एक नवीन पोथी दबाकर कथामण्डप में आये। उसी पोथी से उस दिन श्री रामायणजी का गायन हुआ। उसके पश्चात् श्री आनन्द ब्रह्मचारी ने ब्रह्मचारी प्रभुदत्तजी की 'भागवती कथा' पढ़नी आरम्भ की। आप समाधिस्थ होकर बैठ गये। इस प्रकार तो आप सर्वदा ही बैठते थे। किन्तु आज की समाधि कुछ विशेष गम्भीर थी। आज आप अत्यन्त निश्चल भाव से बैठे हुए थे। स्वामी अद्वैतानन्द पीछे खड़े हुए मोरछल कर रहे थे। अनेक श्रोताओं के सामने कथा हो रही थी। इतने ही में पीछे से ठाकुरदास आया। उसने अद्वैतानन्द जी से मोर-

छुल माँगा, किन्तु उन्होंने मना कर दिया। इस पर वह वहाँ से चला गया और प्रायः दस मिनट में पुनः लौट आया। लौटकर पीछे से ही उसने बड़ी तेजी से एक गडासे के द्वारा श्री महाराजजी के सिर पर तीन वार किये। यह घटना इतनी तेजी से हुई कि उपस्थित लोगों की समझ में कुछ भी न आया क्या हो रहा है। चोट लगने पर श्री महाराजजी का हाथ सिर पर गया और उसकी भी एक अँगुली कट गयी।

अब लोगों को पता चला कि क्या हो रहा है। कुछ ने तो श्री महाराजजी को सँभाला और कुछ उसके पीछे भागे। उन्होंने उसे पकड़कर उसी गड़ासे से समाप्त कर दिया। इधर श्रीमहाराज जी उसी शान्त मुद्रा में मूर्च्छित हो गये। उनके मुख से कोई शब्द नहीं निकला। डाक्टरों के लिये दौड़-धूप होने लगी। किन्तु घाव चार इञ्च गहरा था। अब कोई उपाय नहीं हो सकता था। ऐड्रीनेलीन (Adrenaline) इंजेक्शन देने पर एक-बार चेत हुआ। फिर शान्त हो गये। बस, थोड़ी देर में यह सब लीला समाप्त हो गयी। अब रह गया भक्तों का रोना-बिलखना। जहाँ-तहाँ तार और टेलीफोन से सूचना दी गयी। दूसरे दिन तक बहुत से भक्त एकत्रित हो गये। उस दिन अमावस्या थी और मङ्गलवार था। शायद इसीलिये आपने गोवर्धन जाने के लिये मङ्गलवार नियुक्त किया था। आज संवत्सर का अन्त था, इस विलक्षण नाटक का भी अन्त हो गया। श्री यमुनाजी की गोद में आपको जलसमाधि दी गयी और हम सबके देखते-देखते वह चिरपरिचित मधुर मूर्ति सदा के लिये हमारे नेत्रों से ओझल हो गयी।

उपसंहार

श्री महाराज जी की जीवन लीला के इस दुःखमय अन्त से सभी भक्तों को बड़ी गहरी चोट लगी। कोई भी देहधारी हो,

एक दिन उसे शरीर त्यागना ही होगा तथा उसके देहत्याग का निमित्त उसके प्रारब्ध के अनुसार पहले ही से निश्चित होता है। महापुरुषों की पहिचान उनके जीवन में आने वाली परिस्थितियों से नहीं होती, प्रत्युत उन परिस्थितियों में उनके चित्त की कैसी स्थिति रहती है—इससे होती है। महापुरुषों के जीवन में दुःख और आपत्तियों की तो प्रायः प्रचुरता ही रहती है। सामान्य जीवों में भला उतना दुःख सहन करने की शक्ति ही कहाँ होती है? संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उन्हें विपत्ति के समय धैर्य और सम्पत्ति के समय संयम धारण करने के कारण ही तो वह गौरव प्राप्त हुआ था। यदि शरणागतवत्सलता के कारण महाराज शिवि अपना मांस न देते, सत्यपालन के लिये हरिश्चन्द्र श्वपच की सेवा न करते, पिता की आज्ञा का पालन करने के लिये राम वन-वन में न भटकते और अपने स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिये महाराणा प्रताप जंगल और पर्वतों की खाक न छानते तो उन्हें कौन जानता? ऐसी ही बात मृत्यु के विषय में भी है। मृत्यु के निमित्त से उसकी श्रेष्ठता या निकृष्टता का निर्णय नहीं होता, अपितु उस समय चित्त की वृत्ति कैसी रहती है, उसी से उसका निर्णय हो सकता है। कई बार देखा जाता है कि अत्यन्त नीच प्रकृति के लोग भी बैठे-बैठे मर जाते हैं। इससे क्या उनकी सद्गति हो जाती है? इसके विपरीत अनेकों महापुरुषों को अपने अन्तकाल में बड़ी विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा है, इसी से क्या उनका सारा साधन-भजन व्यर्थ हो जायगा। साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण के गोलोकगमन का कारण उनके चरण में लगा हुआ जरा-व्याध का बाण हुआ था; महाराज परीक्षित को सर्प ने डसा था; भगवान् ऋषभदेव वन की आग में भस्म हो गये थे; महर्षि जमदग्नि का शिर काट लिया गया था; पाण्डवों ने हिमालय में गलकर देह त्याग किया था; आजन्म

अहिंसा के पुजारी महात्मा गाँधी को गोली खानी पड़ी थी और परमहंस रामकृष्णदेव के गले में नाड़ीव्रण (Cancer) हो गया था। इसके सिवा शास्त्र का तो ऐसा भी मत है कि शूरवीर के लिये संग्रामभूमि में शत्रु के हाथ से मारा जाना और पतिव्रता के लिये अपने पतिदेव के साथ सती हो जाना साक्षात् परमपद की प्राप्ति के कारण हैं। आपातदृष्टि से इन मृत्युओं में भी तो कोई सुख-शान्ति की बात नहीं होती। अतः मृत्यु के निमित्त को देखकर किसी के विषय में कोई निर्णय नहीं किया जा सकता।

इसके सिवा मृत्यु के निमित्तों का विचार तो सामान्य अविवेकी पुरुषों की सद्गति-दुर्गति की दृष्टि से किया जाता है। ब्रह्मवेत्ता तो सब प्रकार के गमनागमन से मुक्त होता है, उसे न कहीं जाना होता है न आना और न उसकी कोई सद्गति-दुर्गति ही होती है। वह तो सर्वदा अपने स्वरूप में स्थित होता है। उसकी दृष्टि में तो जीवन-मरण भी कुछ नहीं होते। वह तो सम्पूर्ण प्रपञ्च का अधिष्ठान है। प्रशान्त जलराशि में खेलती हुई तरह-तरह की तरंगें जैसे जल के सिवा और कुछ नहीं होतीं, उसी प्रकार यह नाना प्रकार के कर्त्ता, कर्म और कारण रूप से प्रतीत होने वाला प्रपञ्च अपने अधिष्ठानभूत शुद्ध चेतन से भिन्न कुछ भी नहीं है और वह चेतन ही ब्रह्मवेत्ता का स्वरूप होता है। अतः वह सर्वदा अखण्डैकरस है और कोई भी निमित्त उसकी इन अखण्डैकरसता में बाधा नहीं पहुँचा सकता। यह देहादि तो केवल दूसरों की दृष्टि से हैं, स्वदृष्टि से तो इनका अत्यन्ताभाव है। मिट्टी का घड़ा किसी भी निमित्त से फूटे, वह पहले भी मिट्टी था और पीछे भी मिट्टी ही रहता है। मिट्टी से भिन्न वह किसी भी देश या काल में कुछ नहीं बनता। इसी प्रकार तत्त्ववेत्ता की देहादि उपाधि का किसी भी निमित्त से नाश हो, वह तो तीनों कालों में एक अखण्ड चिद्घन सत्ता के सिवा और कुछ

नहीं होता। अतः उसकी मृत्यु के निमित्त के शुभाशुभ का विचार करना बड़ी भूल है।

पूज्य श्रीमहाराजी का सारा जीवन एक आध्यात्मिक शूर-वीर का जीवन है। उन्होंने सिद्ध गुरु की खोज मे सारे भारत का भ्रमण किया, तत्त्वज्ञान की प्रीप्ति के लिये कड़ी से कढ़ी तपस्या की, निवृत्ति का आदर्श उपस्थित करने के लिये अहर्निश समाधि-निष्ठा में स्थित रहे, जब लोक-कल्याण के लिए भक्त और जिज्ञासुओं के बीच में आये तो कभी अपनी सुविधा का विचार नहीं किया; रुग्णावस्था में कभी रोग की ओर नहीं देखा तथा बड़े से बड़े प्रलोभनों के बीच में रहकर भी कभी उनका स्पर्श नहीं किया। अन्त में इस नाटकीय ढङ्ग से अपनी लीला का संवरण करके भी आपने इस शरीर की तुच्छता और जीवन की अस्थिरता का ही उपदेश दिया है। इससे आपकी विलक्षण समता भी सूचित होती है। आपने यह दिखा दिया कि जिस मस्तक पर पुष्प चढ़ाये जाते हैं उसी पर शस्त्र प्रहार भी हो सकता है, जिसके लिये लोग प्राण निछावर करने के लिये तत्पर रहते हैं उसी के प्राणों के ग्राहक भी हो सकते हैं और जिसका जीवन संसार में अत्यन्त मूल्यवान् समझा जाता है, वही किसी के लिये सर्वथा असह्य भी हो जाता है। अतः किसी भी मनुष्य को अपने बाह्य वैभव से भूल कर अपना अनुचित मूल्य नहीं करना चाहिये, प्रत्युत इन मान-अपमान, सुख-दु.ख एवं सम्पत्ति-विपत्ति आदि द्वन्दों की उपेक्षा करके सर्वदा अपने लक्ष्य पर दृष्टि रखनी चाहिये और निरन्तर अपनी निष्ठा में स्थित रहना चाहिये। यही आपके सम्पूर्ण जीवन का सार है और यही आपकी अन्तिम शिक्षा है।

ॐ

श्रीउड़िया बाबाजी के उपदेश

आचार खण्ड

(१)

संत महिमा

प्र०—महापुरुष या महात्मा किसे कहते है ?

उ०—जिनके अन्दर दैवी सम्पत्ति और भगवत्प्रेम पूर्णरूप से हो, जिनकी दृष्टि बिना ही दृश्य के स्थिर हो, जिनके प्राण बिना प्राणायाम के स्थिर हों और जिनका मन बिना अवलम्ब के स्थिर हो।

प्र०—महापुरुष की पहचान कैसे होती है ?

उ०—महापुरुष की पहचान और भगवान् की पहचान एक ही है। काम-क्रोधादि युक्त मनुष्य तो महापुरुष हो नहीं सकता। भगवान् की पूर्ण पहचान होने से महापुरुष की पहचान होती है।

प्र०—उनके पहचानने का सरल उपाय क्या है ?

उ०—मान, क्रोध और धन का त्याग ही मैंने मुख्य उपाय समझा है। इनका त्याग होने से कामादि विकार स्वतः नष्ट हो जायेंगे। महापुरुषों में कोई विरक्त और कोई गृहस्थ होते हैं।

गृहस्थ महापुरुष अन्यायोपार्जित धन के त्यागी होते हैं और विरक्त धन के सर्वथा त्यागी होते हैं। मान और क्रोध का त्याग दोनों में ही होता है।

प्र०—महापुरुषों में काम-क्रोध रहते हैं या नहीं ?

उ०—लेशमात्र भी काम-क्रोध नहीं रहते। उनमें काम-क्रोधादि का अत्यन्ताभाव होता है; पर दूसरे पुरुषों को उनमें इनका आभास दीख सकता है। उनमें काम-क्रोधादि क्यों नहीं रहते ? इसीलिये कि वे सम्पूर्ण विश्व को भगवान् की लीला तथा भगवद्रूप देखते हैं, अथवा उसे आत्मस्वरूप ही अनुभव करते हैं। इन दोनों दृष्टियों से उनमें काम-क्रोधादि नहीं होते—

उमा जे राम-चरन-रत, विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत्, का सन करहिं विरोध॥

प्र०—महापुरुष के समीप रहने मात्र से ही कल्याण हो जाता है या कुछ करना भी पड़ता है ?

उ०—जो महापुरुषों के समीप रहेगा वह तो सभी साधन करेगा, उसमें क्या बाकी रहेगा ? क्योंकि उनके समीप रहने वाले से पाप कर्म तो स्वतः ही छूट जायेंगे, और सत्संग की बातें सुनने से उससे साधन भी कुछ न कुछ बनेंगे ही। महापुरुषों का सत्सङ्ग एक प्रकार से भजन ही है। जिस वासना (कामना) से भक्त महापुरुषों के समीप रहेगा उसी की उसे प्राप्ति होगी। यदि यह महापुरुष में सचमुच प्रेम रखता है तो और कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है। केवल उनमें जो प्रेम है वही सब कुछ करा लेगा।

प्र०—महापुरुष में अपनी शक्ति के अनुसार विश्वास होने पर भी उनके सङ्ग से जैसा लाभ होना चाहिये वैसा क्यों नहीं होता ?

उ०—श्रद्धा की कमी के कारण नहीं होता।

प्र०—श्रद्धा कैसे हो ?

उ०—निष्काम कर्म और भजन करने से महापुरुषों में और परमात्मा मे श्रद्धा होगी।

प्र०—भगवद्दर्शन केवल संतकृपा से हो सकते हैं या नहीं ?

उ०—यद्यपि भगवद्दर्शन कृपासाध्य हैं तथापि ऐसे महात्मा प्रायः देखने मे नहीं आते। हाँ, शास्त्रों में इसके अनेकों प्रमाण मिलते हैं। इसलिये भगवद्दर्शन तथा भगवत्प्राप्ति के लिये चार उपाय ये भी हैं—(१) श्रद्धा (२) सत्सङ्ग (३) भजनक्रिया और (४) पाप तथा दुर्गुणों का त्याग। भगवान् में आसक्ति होने से विषयों में वैराग्य होगा।

भगवान् में आसक्ति हुए बिना विषयों में वैराग्य नहीं हो सकता, चाहे कोई परमहंस या दिगम्बर ही क्यों न हो जाय। भगवत्प्राप्ति के लिये भगवान् में आसक्ति करनी चाहिये। उनमें आसक्ति होने का मुख्य उपाय है उनका चिन्तन। वह चिन्तन भी चार प्रकार से होता है—(१) उनके नाम का जप (२) उनके स्वरूप का ध्यान (३) उनके गुणों का श्रवण और कथन अर्थात् सत्सङ्ग तथा (४) उनकी पूजा-सेवा। इन साधनों का निरन्तर तीव्र अभ्यास होने से भगवान् में आसक्ति हो सकती है।

प्र०—सच्चे संन्यासी की पहचान क्या है ?

उ०—महात्माओं के भक्त ही महात्मा की पहचान कर सकते हैं। जो महात्माओं के भक्त नहीं वे उन्हे कैसे पहचानेंगे ?

प्र०—साधु के कर्त्तव्य क्या हैं ?

उ०—(१) किसी की बुराई-भलाई न करे।

(२) भले से भला और बुरे से बुरा न कहे। अर्थात् दोनों से उदासीन रहे।

(३) अपनी निन्दा-स्तुति में हर्ष-शोक से रहित रहे।

(४) किसी प्रकार का असच्चिन्तन न करे तथा अपने लक्ष्य पर स्थिर रहे।

प्र०—महात्मा और दुरात्मा के लक्षणों में क्या अन्तर है ?

उ०—जिनके मन में और, वाणी में और तथा कर्म में कुछ और ही हो वह दुरात्मा हैं। इसके विपरीत जिसके मन में, वाणी में, और कर्म में एक ही बात हो वह महात्मा है—

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्॥

प्र०—महात्मा के दर्शन करने का क्या फल है ?

उ०—महात्मा के दर्शनों से पाप टल जाते हैं यह तो साधारण फल है। मुख्य फल तो यही है कि महात्मा के दर्शन करके अन्त में दर्शन करने वाला महात्मा ही हो जाता है।

प्र०—महात्मा के दर्शनों के लिये जाते समय प्रसाद क्यों ले जाना चाहिये ? तथा महात्मा के हाथ से प्रसाद लेने में भी क्या लाभ है ?

उ०—प्रसाद या भेंट ले जाने से सेव्य-सेवक भाव की पुष्टि होती है। भगवान्, देवता, महात्मा और गुरु ये सब एक ही हैं। इनके पास भेंट लेकर जाने से अपना सेवक-भाव पुष्ट होता है। अतः महात्मा के पास खाली हाथ कभी नहीं जाना चाहिये। इसी प्रकार जो महात्मा के हाथ से स्वयं प्रसाद ग्रहण करते हैं, उनका अन्तःकरण शुद्ध होता है।

× × ×

१. सूर्य के उदय से अन्धकार का नाश होता है, पदार्थों का प्रकाश होता है और शीत जाता रहता है। इसी प्रकार महात्मा के पास जाने से अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश होता है, अच्छे बुरे का ज्ञान होता है और संसार-भय रूपी शीत निवृत्त हो जाता है।

२. गङ्गा पापों का नाश करती है, कल्पवृक्ष कामनाओं की पूर्त्ति करता है और चन्द्रमा से उष्णता की निवृत्ति होती है। किन्तु महात्मा के सङ्ग से ये तीनों एक साथ प्राप्त हो जाते हैं तथा ज्ञान की प्राप्ति भी होती है, जिससे जीव कामनारहित हो जाता है।

३. भगवान् के सच्चे प्रेमी को ही सत्पुरुष कहते हैं और सत्पुरुष ही सद्गुरु हो सकता है।

४. महात्माओं की बाह्य क्रियाओं पर ध्यान न देकर उनकी अन्तरंग धारणा देखनी चाहिये।

५. जो संत-महात्माओं और भक्तों का भक्त होगा वह भगवान् का भक्त अवश्य होगा, और जो भगवान् का भक्त होगा वह संत-महात्माओं और भक्तों का भक्त अवश्य होगा।

६. तुलसीदास जी कहते हैं—

निष्किंचन इन्द्रिय-दमन, रमारमण इकतार।
तुलसी ऐसे सन्तजन, बिरले या संसार॥

७. संत-महात्माओं की सेवा से यह फल होता है कि उनके शुद्ध परमाणु निकलकर सेवा करने वाले के अन्दर चले जाते हैं और पापी मनुष्य की सेवा करने से पाप के परमाणु भीतर जाते हैं। इसीलिये पापी की सेवा न कर महात्माओं की सेवा करनी चाहिये।

८. एक बार की बात है कि मैं एक बूढ़े विद्वान् पण्डित के घर भिक्षा करने के लिये गया। भिक्षा पा लेने के उपरान्त मैंने पण्डित जी से कहा—पण्डितजी ! आप वृद्ध हो गये, घर में पुत्र-पौत्र सभी हैं, घर की कोई चिन्ता नहीं। अब आप कहीं श्री गङ्गातट पर एकान्त और शान्त स्थान में निवास करें।' पण्डितजी ने कहा—"गङ्गा कहती है कि जिसने परस्त्री, परद्रव्य और परनिंदा से अपने को पृथक् रक्खा है, उसके लिये मैं प्रतीक्षा करती रहती हूँ, अपने को पवित्र करने के लिये।"

९. गङ्गाजी का महात्म्य बहुत विचित्र है। एक बार की बात है, गङ्गाजी ने भगीरथ से कहा, "राजन् ! मैं पुण्य की सदा प्यासी रहती हूँ, कलियुग में पाप की प्रधानता रहेगी तो बताइये मैं क्या करूँगी ?" भगीरथ ने कहा, "तुम्हारे दिव्य तट पर घोर कलियुग में भी विरक्त, विद्वान्, भक्त और तत्त्वदर्शी विचरण करते रहेंगे। इससे तुम्हारा तट सदैव पवित्र रहेगा। वे तुम में स्नान करेंगे, इससे तुम पवित्र रहोगी।"

१०. संतों की महिमा अपार हैं, एक जगह कहा है—

द्विधा वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च ।
तासु तेषु विरक्तो यः साक्षाद् भर्गो नराकृतिः ॥

विधाता ने भ्रम को स्त्री और सुवर्ण इन दो रूपों में बाँट दिया है। अतः इन दोनों में जिसे राग नहीं है, वह तो मनुष्य रूप में साक्षात् भगवान् है।

ज्ञानयोगपराणां तु पादप्रक्षालितं जलम् ।
भावशुद्ध्यर्थमज्ञानां तत्तीर्थं मुनिपुङ्गव ॥

हे मुने ! ज्ञानयोगपरायण पुरुषों के पादप्रक्षालन का जो जल है वह अज्ञानियों की भावशुद्धि के लिये तीर्थ है।

यद्यत्स्पृशति पाणिभ्यां यद्यत्पश्यति चक्षुषा ।
स्थावराण्यपि मुच्यन्ते किं पुनः पामरा जनाः ॥

" महात्मा जिस-जिस को हाथों से छू देते हैं, जिस-जिस को आँखों से देख लेते हैं वे स्थावर (वृक्षादि) भी बन्धन से छूट जाते हैं; तो फिर पामर जनों का क्या कहना है। (वे तो पापमुक्त हो ही जायेंगे।)

११. साधुओं में चार बातें नहीं देखनी चाहिये—

(१) साधु गोरा है या काला ?
(२) किस जाति है ?
(३) कितनी आयु का है ?
(४) कुछ पढ़ा है या नहीं ?

क्योंकि भगवान् की भक्ति में गोरा या काला हो, किसी जाति का हो, छोटा हो या बड़ा और विद्वान् हो या निरक्षर- इनमें से कोई बात नहीं देखी जाती।

१२. संसारी मनुष्य साधुओं को पागल समझते हैं, सो क्यों न समझें ? क्योंकि जिस संसार को ये प्राणों से भी प्यारा समझते हैं उसे तो साधु लोग स्वप्न बतलाते हैं। संसारी के लिये स्त्री-पुत्रादि प्राणों से भी बढ़कर हैं और साधु उन्हें स्वप्न अथवा माया समझते है। अँगरेजों ने सैकड़ो वर्ष परिश्रम करके रेल निकाली और ये उसे एकदम असत्य बतलाते हैं। फिर भला संसारी लोग उन्हें पागल क्यों न कहें। उनके लिये तो ये वस्तुएँ ही सब कुछ हैं। सचमुच साधु और संसारी लोगों में बड़ा अन्तर है।

१३. जो सच्चे साधु होते हैं उनका यदि कोई अनादर करे तो उसमें भी वे आनन्द मानते हैं। वे अनादर करने वालों

से लड़ते नहीं। राजा भर्तृहरि ने तो भगवान् शंकर से यह वर माँगा था कि मुझे कोई आदर से भिक्षा न दे।

१४. महात्मा भगवान् के स्वरूप ही होते है। वे यदि खुदा नहीं होते तो खुदा से जुदा भी नहीं होते।

१५. भगवान् भक्त से प्रेम करते हैं और भक्त-भगवान् एवं भक्त दोनों से प्रेम करते हैं। किन्तु अभक्त भक्त और अभक्त दोनों की निंदा करते हैं। उनका स्वभाव ही निंदा करने का होता है। मानो निंदा ही उनका व्यापार है। भगवान् को तो भक्त ही प्यारे होते हैं, किन्तु भक्त तो भक्त अभक्त सभी को प्यार करते हैं।

१६. कोई महात्मा के दर्शन करते है और किन्हीं के महात्मा दर्शन करते हैं। महात्मा के दर्शन करने से उनसे धीरे-धीरे अनुराग होता है और फिर भक्ति की भी प्राप्ति हो जाती है। किन्तु जिनके महात्मा दर्शन करते हैं उन्हें फिर कुछ भी कर्त्तव्य नहीं रहता। वे संत कृपा से तत्काल कृतकृत्य हो जाते हैं।

१७. महात्माओं से दो चीजें प्राप्त होती हैं—(१) यदि सकाम हो तो जिस वस्तु की इच्छा हो वह मिल जाती है, और (२) यदि निष्काम हो तो महात्मा से तद्रूपता प्राप्त होती है अर्थात् स्वयं भी महात्मा हो जाता है।

१८. महात्मा और क्रोध ये दोनों एक साथ नहीं रह सकते। महात्मा कभी क्रोध नहीं करते। उनका क्रोध केवल दूसरों को दिखाने के लिये होता है। महात्मा के अन्दर राग-द्वेष होते ही नहीं। यही महात्मा का लक्षण है महात्मा उसी का नाम है जिसमें काम, क्रोध आदि का सर्वथा अभाव हो। गोस्वामी श्री तुलसीदास जी कहते हैं—

'कामादिक मद दम्भ न जाके। तात निरन्तर बस मैं ताके।।'

१६. महात्मा पर क्रोध कभी नहीं करना चाहिये। उसकी उपेक्षा कर देना ही उसके प्रति क्रोध या द्वेष करने के समान है।

२०. मुनि वह है जो निन्दा-स्तुति नहीं करता अर्थात् जिसकी गुण-दोष पर दृष्टि नहीं होती। निंदा-स्तुति तो गुण-दोष-दृष्टि हुए बिना हो नहीं सकतीं। गुणों पर दृष्टि होने से स्तुति होती है और दोषों पर दृष्टि होने से निन्दा। ये दोनों त्याज्य हैं। अतः इनके त्यागी का नाम ही मुनि है।

२१. फरुखाबाद में मौज बाबा नाम के एक संत रहते थे। लोग उन्हें पागल समझकर उनसे रात-दिन काम कराते रहते थे। यहाँ तक कि स्त्रियाँ उनसे खाट बिछवातीं और कपड़े धुलवा लेतीं। एक स्त्री निःसन्तान थी। वह जान गई कि ये कोई सिद्ध हैं, इनसे मैं संतान उत्पन्न कराऊँ। उसने उनसे अपना अभिप्राय प्रकट किया तो वे बोले—'बस, यहीं तक मौज है, आगे मौज नहीं है।" इससे मालूम होता है कि सिद्धों में भी कुछ नियम रहता है। वह नियम यद्यपि हर किसी को मालूम नहीं होता, तथापि वे सिद्ध पुरुष कभी अपने नियम से नहीं हटते।

२२. महात्माओं का एक नाम निजजननिष्ठुर है। जो महात्मा के निजी सेवक होते हैं उन पर वे बड़े निष्ठुर रहते हैं, उनके साथ बड़ी कठोरता का बर्ताव करते हैं और सदा ही उन्हें तङ्ग करते हैं। यदि सेवक उस निष्ठुरता को सहन कर लेता है और उसके कारण महात्मा के प्रति उनके अनुराग में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता तो बिना कुछ और साधन किये ही उसका कल्याण हो जाता है।

२३. संत-महात्माओं के पास रहने से ही यह नौ प्रकार के साधन बन जाते हैं—

(१) संतोंके सङ्ग रहना—यह सत्सङ्ग रूपी पहला साधन है।

(२) उन संतों के मुख से भक्त और भगवान् की कथाएँ सुनकर उनमें रत हो जाना।

(३) कथा आदि सुनकर उनका विशेष रस मिलने पर संतों में विशेष प्रेम बढ़ जाने से उनके चरण-कमलों की सेवा में लग जाना।

(४) श्रवण करते-करते उत्कण्ठा बढ़ जाने पर स्वयं भगवान् के गुण गाने लगना।

(५) गुरुदेव से प्राप्त मंत्र में दृढ़ विश्वास हो जाने से उसके जप में तत्पर हो जाना।

(६) सत्सङ्ग के प्रभाव से इन्द्रियों का दमन होना तथा नाना प्रकार के सांसारिक कर्मों से निवृत्त होकर मन का भगवद्भजन मे लग जाना।

(७) राग-द्वेष की निवृत्ति होकर समबुद्धि का प्राप्त होना और सम्पूर्ण संसार में भगवद्बुद्धि होना।

(८) यथा-लाभ-संतुष्ट रहना और द्वेष तथा तृष्णा का सर्वथा त्याग हो जाना।

(९) चित्त की सरलता, व्यवहार की निश्छलता, केवल भगवान् का भरोसा रखना तथा हृदय का हर्ष, विषाद एवं दीनता से रहित हो जाना।

२४ संतों के कुछ प्रधान गुण ये हैं—

(१) दुखियों के प्रति करुणा।

(२) वेद, शास्त्र, महात्मा, गुरु और परमेश्वर के वचनों में पूर्ण विश्वास।

(३) सत् और असत् का यथार्थ ज्ञान।

(४) ब्रह्मलोक पर्यन्त सम्पूर्ण पदार्थों में
अभाव।

(५) ममत्वबुद्धि से संग्रह न करना।

(६) अन्तःकरण में संशय और विक्षेप का अभ

(७) पापाचरण का त्याग तथा श्रेष्ठ पुरुषों
नुसार शुभकर्मों में प्रवृत्त होना।

(८) अपराध करने वाले को किसी भी प्रका
देने का भाव न रखना।

(९) भारी विपत्ति पड़ने पर भी अपनी स्थिति
मान न होना।

(१०) अपने प्रति द्वेष करने वाले से भी द्वेष

(११) भय का सर्वथा अभाव।

(१२) अन्तःकरण में इच्छा और वासना का अ

(१३) निरन्तर प्रसन्न रहना।

२५. महात्माओं के प्रति जो राग होता है वह
नहीं होता। यह तो बड़े सौभाग्य की बात है। भग
राग तो अत्यन्त दुर्लभ है।

अक्ष्णोः फलं त्वादृशदर्शनं हि जिह्वाफलं त्वादृशकी
तन्वाः फलं त्वादृशस्पर्शनं हि सुदुर्लभा भागवता भ

इस प्रकार का राग तो सांसारिक राग की
सबसे प्रधान साधन है।

---

*आप जैसों का दर्शन ही नेत्रों का फल है। आप जैस
ही जिह्वा का फल है। आप जैसों का स्पर्श ही शरीर

सत्संग

प्र०—सत्सङ्ग किसे कहते हैं।

उ०—सत्पुरुष या सत् अर्थात् परमात्मा के संग को सत्सङ्ग कहते हैं। सत्—परमात्मा का सङ्ग होने के लिये हमें उसका सङ्ग करने की आवश्यकता है कि जो परमात्मा के मार्ग में तत्पर—तत्परायण है, जिसने परमात्मा की प्राप्ति कर ली है या जो उसे पाने के लिये प्रयत्नशील है। ऐसे सिद्ध या साधकों के सङ्ग को सत्सङ्ग कहते हैं।

प्र०—सत्सङ्ग क्यों करना चाहिये ?

उ०—सत्सङ्ग करने से भगवत्प्राप्ति का मार्ग दिखलायी पड़ता है। जिस मार्ग से सत्पुरुष गये हैं, उनका सङ्ग किये बिना वह भगवत्प्राप्ति का मार्ग हमें नहीं मिल सकता। जो भगवान् के पास गये हैं, अथवा उनके पास रह रहे हैं वे ही मार्ग बता सकते हैं। सत्सङ्ग तो ऐसे सिद्ध पुरुषों को भी करना चाहिये जिनको भगवान् की प्राप्ति हो गई है। साधक को तो भगवत्-प्राप्ति का मार्ग देखने के लिये और भगवान् का स्वरूप जानने के लिये सत्संग करना चाहिये तथा सिद्ध पुरुषों को, सत्संग में अपने प्यारे का चिंतन होता है—इसलिये सत्संग करना उचित है।

प्र०—सत्सङ्ग करने से क्या लाभ है ?

उ०—सत्सङ्ग करने से भगवान् में हमारी आसक्ति दिनों-दिन बढ़ती है। जिस वस्तु का निरन्तर चिंतन होगा उसमें आसक्ति बढ़ेगी ही, इसलिये निरन्तर सत्सङ्ग करना चाहिये।

प्र०—सत्सङ्ग न करने से क्या हानि है ?

उ०—भजन तो एकान्त में भी कर सकते हैं, परन्तु काम,

क्रोध, लोभ मोह आदि दोष सत्सङ्ग किये बिना दूर नहीं हो सकते। सत्सङ्ग में इन्हीं के नाश करने की बातें होती हैं। इसलिये सत्सङ्ग में जाने से अवगुण छोड़ने का इच्छा होती है और फिर प्रयत्न करने पर अवगुण छूटते हैं। बिना सत्सङ्ग किये, प्रायः बहुत भजन करने वालों के भी दोष नहीं छूटते और जो सत्सङ्ग करेगा वह भजन अवश्य करेगा। जो सत्सङ्ग करेगा उसके पाप न छूटें, यह असम्भव है। सत्सङ्ग में एक बिजली है, उस वायुमण्डल मे बैठ जाने मात्र से ही अन्तःकरण पवित्र हो जाता है, क्योंकि वहाँ का वायु-मण्डल ही पवित्र है, इसलिये सत्सङ्ग की निंदा करने वाले भी वहाँ जानें लगने पर पवित्र हो जाते हैं और धीरे-धीरे वे भी भगवत्परायण होने लगते हैं। सत्सङ्ग की महिमा का कोई वर्णन ही नहीं कर सकता। सत्सङ्ग से महापुरुषोंमें प्रीति होगी। कुछ भी न करके यदि सत्सङ्ग में जाकर केवल बैठ ही जाय, तो भी लाभ होता ही है।

प्र०—सत्सङ्ग करने का कौन अधिकारी है।

उ०—मनुष्य ही नहीं, जीवमात्र इसके अधिकारी हैं। मुसलमान, ईसाई, यहूदी, चांडाल आदि सभी सत्सङ्ग कर सकते हैं, क्योंकि उसके सभी अधिकारी हैं। जब सत्संगसे चूहे, बिल्ली, कुत्ते, और तोते, आदि भी पवित्र हो जाते हैं तब मनुष्य की तो बात ही क्या है?

प्र०—सत्सङ्ग करने वालों से पाप-कर्म क्यों नहीं छूटते?

उ०—यह बात वे ही लोग कह सकते हैं जो सत्सङ्ग में नहीं जाते। पाप का कितना भंडार भरा पड़ा है और उसमें से कितना कम हुआ है—यह बात सत्सङ्ग करने वाला ही जान सकता है। सत्सङ्ग से प्रति दिन अनन्त पाप क्षीण होते हैं—यह सत्सङ्ग में नित्यप्रति जाने वाले लोगों का अनुभव है। हम चाहते हैं कि

तुरन्त ही सारे पाप नष्ट हो जायें; पर पाप की कमी तो धीरे-धीरे होती है, इसी से पापों का पूरा नाश प्रतीत नहीं होता।

प्र०—सत्सङ्ग पुरुषार्थ से मिलता है या भाग्य से ?

उ०—भक्तों का यही सिद्धांत है कि सत्संग भगवत्कृपा से मिलता है। पुरुषार्थवादी कहते हैं कि वह पुरुषार्थ से मिलता है। किन्तु मेरे विचार से तो इनमें भगवत्कृपा ही प्रधान है।

प्र०—यदि भगवत्कृपा से ही सत्संग मिलता है तो फिर पुरुषार्थ क्यों करना चाहिये ?

उ०—प्रभुकृपा से हमें कोई खजाना मिल जाय तो उसकी रक्षा करने के लिये भी कुछ परिश्रम करने की आवश्यकता होती ही है। किन्तु यह पुरुषार्थ भी भगवत्कृपा से ही होता है । भक्त तो भगवत्कृपा के सामने पुरुषार्थ को कोई चीज नहीं मानता। सत्संग में जाने के लिये पुरुषार्थ की आवश्यकता है, पर यह पुरुषार्थ करेगा वही जिसमें कृपा का अंकुर होगा। बिना कृपा के तो सत्संग में कोई पैर भी नहीं रक्खेगा।

प्र०—सत्संग मिलने के लिये क्या उपाय करना चाहिये ?

उ०—प्रभु से या भक्तों से प्रार्थना करनी चाहिये। भक्त और भगवान् तो एक ही हैं।

प्र०—महाराज जी ! सन्तों में अनुराग भी तो भगवान् की कृपा से ही होगा ?

उ०—अनुराग तो दोनों ओर से होता है। जब तक लोहा और पारस दोनों नहीं मिलते तब तक सुवर्ण कैसे होगा ?

प्र०—सत्संग में प्रीति कैसे बढ़े ?

उ०—प्रतिदिन सत्संग करने से सत्संग में प्रीति बढ़ती है। एक दिन सत्संग में गये और चार दिन नहीं गये, इससे प्रीति नहीं बढ़ती।

प्र०—सत्संग करने पर भी लोग सत्संग के परायण क्यों नहीं होते ?

उ०—वे नियमपूर्वक नित्यप्रति निरन्तर सत्संग नहीं करते। जो वैसा करते हैं वे परायण हो जाते हैं।

प्र०—महात्मा की परीक्षा करने के लिये सत्संग करने से भी लाभ है या नहीं ?

उ०—परीक्षा करने के लिये सत्संग करने से भी लाभ है, क्योंकि इस निमित्त से वह सत्संग में आता है और महात्मा भी उसके लिये भगवान् से प्रार्थना कर सकते हैं कि इसकी आपमें प्रीति हो। यदि ऐसा न हो तो भला, सत्संग की महिमा ही क्या रहेगी।

प्र०—दम्भ या मानवृद्धि के लिये सत्संग करने से भी लाभ होता है या नहीं ?

उ०—इससे भी लाभ ही है। पहले-पहल यह सब नकली होता है, पीछे धीरे-धीरे सब दोष दूर हो जाते हैं। पहले नकल होती है, पीछे वह असल हो जाती है। परन्तु दम्भ और मानवृद्धि की इच्छा को त्याग कर ही सत्संग करना चाहिये।

प्र०—सत्संग किनका करना चाहिये ?

उ०—जो पुरुष भगवान् के गुणानुवाद तो करता है, किन्तु स्वयं कामी, क्रोधी, अथवा लोभी है, उसके विषय में पहले मेरा ऐसा विचार था कि उसका संग न करें, किन्तु एक महात्मा ने मुझसे कहा, "हलवाई की मिठाई खाने वाला उस हलवाईके गुण-दोष नहीं देखता।" परन्तु यह बात ऊँची कोटि के लिये है, साधारण साधक के लिये नहीं। अतएव साधक के लिये तो सर्व-सद्गुणसम्पन्न भगवद्भक्त का ही संग करना लाभप्रद है, नहीं

तो दोष देखकर उसकी सत्संग से अरुचि हो जायगी, या वह दोषों का अनुकरण करने लगेगा।

प्र०—सत्संग से बढ़कर भी कोई सुलभ और सर्वोत्तम साधन है क्या ?

उ०—सब साधनों का सर्वोच्च मूल कारण सत्सङ्ग है। यह बीज रूप है और सब शाखा-प्रशाखा हैं। सत्संग सबसे सुलभ साधन है।

प्र०—सत्संग के अभाव में सत्शास्त्र विचार करने के लिये प्रधान ग्रन्थ कौन-कौन से हैं ?

उ०—मैंने तो चार ग्रन्थ प्रधान मान रखे हैं—उपनिषद्, गीता, रामायण और भागवत। विनयपत्रिका तो रामायण में ही आ जाती है। यों तो और भी अनेक उत्तम सद्ग्रन्थ हैं।

प्र०—सत्-शास्त्र के विचार से भी सत्संग के समान ही लाभ हो सकता है या नहीं ?

उ०—जो सत्-शास्त्र का विचार कर लेगा वही सत्संग से अधिक लाभ उठावेगा। यद्यपि सत्-शास्त्र विचार की अपेक्षा सत्संग का महत्व बहुत बड़ा है, किन्तु सत्संग के साथ-साथ शास्त्र-विचार भी करना अवश्य चाहिये। जो अद्वैतवादी हैं उनके लिये भी उपनिषदों में और श्रीमद्भागवत में सब सामग्री मिल सकती है।

प्र०—महाराज जी, यदि सत्संग में जाकर चुपचाप बैठा रहे, कुछ भी न करे तो भी अच्छा है या नहीं ?

उ०—अरे ! चुपचाप बैठना तो बहुत अच्छा है, परन्तु चुपचाप बैठता कौन है ? मन तो काम करता ही रहता है। फिर भला चुपचाप बैठना कहाँ हुआ ?

प्र०—सत्सङ्ग किन्हें करना चाहिये ?

उ०—सत्सङ्ग के अधिकारी तो सभी जीव हैं। मुख्यतया सत्पुरुषों को तो सदा ही सत्सङ्ग करते रहना चाहिये। सत्पुरुषों की दो कोटियाँ हैं—साधक और सिद्ध। इन दोनों को ही निरन्तर सत्सङ्ग करने की आवश्यकता है। इनमें साधक को तो सत्सङ्ग करने से भगवान् की प्राप्ति होती है और सिद्ध को अपने प्यारे का गुणगान सुनने से आनन्द होता है। अतः दोनों ही को सत्सङ्ग करते रहना चाहिये।

प्र०—सत्सङ्ग न करने से क्या हानि है ?

उ०—बिना सत्सङ्ग के भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। जो एकान्त में रहकर भजन-साधन तो करता है, किन्तु सत्सङ्ग नहीं करता, उसके आचरण में यदि कोई त्रुटि होगी तो वह निवृत्त नहीं हो सकेगी। अतः सत्सङ्ग में चुपचाप बैठकर सत्पुरुषों के वचन सुनते रहना यह उत्तम पुरुषों का लक्षण है, सत्सङ्ग में प्रश्न करना मध्यम कोटि के सत्सङ्गियों का लक्षण है तथा तर्क या वाद-विवाद करना निकृष्ट पुरुषों का स्वभाव है। जो बिल्कुल मूर्ख हैं उन्हें सत्सङ्ग से और कोई लाभ न होगा तो सत्पुरुषों में प्रीति तो होगी ही और फिर प्रेमवश उनसे तद्रूपता भी प्राप्त हो जायगी।

प्र०—सत्सङ्ग का अधिकारी कौन है ?

उ०—हर एक जीव सत्सङ्ग का अधिकारी है। यहाँ तक कि पशु-पक्षी भी सत्सङ्ग कर सकते हैं। देखो हरिदास के सत्सङ्ग से गणिका का भी उद्धार हो गया था। फिर किसी सत्पुरुष का उद्धार होने में तो सन्देह ही क्या है ?

× × ×

१. सन्त और भगवान् में अनुराग हो तो तीनों ताप मिट जाते हैं।

२. सच्छास्त्र और सन्त-महात्माओं का सङ्ग हो तो फिर किसी बात की कमी नहीं रहती।

३. सत्सङ्ग का फल तो यही है कि संसार धोखे की टट्टी जान पड़े। बेटा-बेटी तथा धन-माल सब झूठा दिखाई पड़े। एक दिन मृत्यु अवश्य होगी, केवल चार दिन की जिन्दगी है।

४. अधिक लाभ उन्हीं लोगों के सत्सङ्ग से होता है जिनसे अपने इष्ट, साधन-क्रम और मन का मेल होता है। दूसरी निष्ठा के साधकों का सङ्ग करने से कई बार अपने साधनों में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। अतः उन्हीं सत्पुरुषों का सङ्ग करना चाहिये जिनसे अपना इष्ट मिले, क्रिया मिले और मन मिले।

५. जिस मनुष्य को कुत्ते में अधिक प्रेम हो और वह अपना सारा समय और ध्यान उसी में लगाये रहे तो उसे कुत्ते की योनि में ही जाना पड़ता है अर्थात् अगले जन्म में वह कुत्ता बनता है। इसी प्रकार जो पहरेदार सूअरों का पहरा देते हैं और जिनका ध्यान हर समय उन्हीं में लगा रहता है, वे फिर सूअर की योनि में ही जन्मते हैं। इसी प्रकार जिन मनुष्यों का साधुओं से अधिक प्रेम होता है और जो अधिक साधुसेवी होते हैं वे अगले जन्म में अवश्य साधु बनते हैं।

६. जिस प्रकार के पुरुषों का सङ्ग होता है उनमें वैसी ही बातें हुआ करती हैं, जैसे व्यापारियों में व्यापार की, साधुओं में परमार्थ की तथा भक्तों में भगवान् की चर्चा होगी। अतः ऐसे लोगों का ही संग करना चाहिये, जिनसे अपने पक्ष की विशेष पुष्टि हो।

७. सत्संग में धर्म से प्रेम और अधर्म से घृणा करने की तथा भगवान् से अनुराग और संसार से वैराग्य करने की बातें

कही जाती हैं। इसीसे सत्संग की इतनी महिमा है। मनुष्य को अपने छोटे से छोटे दोष सत्संग से प्रतीत तो हो जाते हैं, किन्तु उन्हे त्यागने की प्रतिज्ञा करनी चाहिये, तभी उनसे छुटकारा मिल सकता है। 'हम किसी से मजाक नहीं करेंगे', 'क्रोध नहीं करेंगे', अथवा 'निन्दा नहीं करेंगे'—ऐसी प्रतिज्ञाएँ करने पर ही दोषों का अन्त होता है। और सच पूछा जाय तो दोषों की निवृत्ति का प्रधान साधन तो गुरुकृपा ही है--यह मेरा अपना अनुभव है।

साधक के लिये

प्र०—आजकल लोगों में नास्तिकता के भाव बहुत बढ़ रहे हैं, न जाने इनकी क्या गति होगी ?

उ०—कुछ भी हो, इससे हमें क्या लेना है ? जिस पुरुष का भजन में प्रेम हो और जो शान्ति चाहता हो, उसे लौकिक समस्याओं पर विशेष दृष्टि नहीं देनी चाहिये । भगवान् जिससे जैसे करा रहे हैं, वह ठीक ही है । जिनकी स्थूल दृष्टि है उन्हें श्रद्धालुओं की बातें अविश्वसनीय जान पड़ती हैं और तत्त्वदर्शियों को स्थूल जगत् में आस्था नहीं होती । अतः भजनानन्दियों को किसी प्रकार के गुण-दोषों का चिन्तन न करते हुए अपने काम से काम रखना चाहिये । मुझे तो श्रीमद्भागवत के ये दो श्लोक बहुत प्रिय हैं—

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा ।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ्मुनिः ।
न कुर्यान्न वदेत् किञ्चिन्न ध्यायेत्साध्वसाधु वा ।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः ॥

(११।११।१६, १७)*

वास्तव में श्रीमद्भागवत और रामायण दोनों ही बड़े अमूल्य ग्रन्थ हैं । इनका प्रत्येक शब्द माननीय है । हमारे महर्षियोंने

---

* गुण-दोषो से रहित समदर्शी मुनि को उचित है कि किसी के भले या बुरे कर्म करने पर अथवा वाणी से भला या बुरा बोलने पर न तो स्तुति करे न निन्दा ही । मुनि को चाहिये कि किसी प्रकार का भला या बुरा कर्म न करे न भला या बुरा कहे और न चित्त मे ही विचारे । आत्मा में रमण करता हुआ उदासीन वृत्ति से विचरे ।

जितने ग्रन्थ रचे हैं, उनमें से किसी एक में भी श्रद्धा हो जाने से जीव का अवश्य कल्याण हो जायगा। मेरे विचार से तो बाइबिल और कुरान भी जीव का कल्याण करने में समर्थ हैं। उनके कथनानुसार खुदा चौथे या सातवें आसमान पर बैठा है और हमारे शास्त्रों के अनुसार वह वैकुण्ठ, गोलोक या कैलाश में है, तो इसमें तत्त्वतः कोई भेद नहीं है; क्योंकि वे भी उसे सच्चिदानंदघन तो मानते ही हैं। उस सच्चिदानन्दघन का चिन्तन हम विष्णु या शिव के रूप में करते हैं, इसलिये हमें वह उन्हीं रूपों में दिखायी देता है। इसी प्रकार ईसाई या मुसलमान भी अपनी भावना के अनुसार उसका अपने अभीष्ट रूपों में दर्शन कर सकते हैं। वह तो सर्वसमर्थ है, इसलिये सभी रूपों में प्रकट हो सकता है।

प्र०—हमें योग सीखना चाहिये या नहीं ?

उ०—अरे ! बस, केवल भगवन्नाम जप करते रहो और भगवन्नाम का ही कीर्तन करो। इसीसे सब कुछ हो जायगा।
नहिं कलि कर्म न भक्ति विवेकू। राम नाम अवलम्बन एकू ॥'

प्र०—महाराज जी ! हमारे यहाँ एक महात्मा पधारे हुए हैं, वे सबको ध्यान लगाना सिखाते हैं।

उ०—आजकल ऐसे बहुत योगी घूमते हैं। अलीगढ़ में एक योगी आये थे। वे पाँच रुपये लेकर सबको योग सिखाते थे। कई लोगों ने रुपया देकर उनसे योग सीखा। किन्तु उनमें से अधिकांश पागल बन गये। भैया ! योग और भोग सीखने की चीज नहीं हैं। वे समय आने पर स्वतः प्राप्त होते हैं, बस, भजन करते रहना चाहिये। यही ठीक है।

प्र०—मनुष्य का स्वतन्त्र रहना अच्छा है या परतन्त्र ?

उ०—परतन्त्र ! स्वतन्त्रता का अर्थ है, अपने भीतर जैसा स्फुरण हो, उसी के अनुसार कार्य करना। ऐसा तो सिद्ध पुरुष

ही कर सकते हैं। सामान्य मनुष्यों को तो ईश्वर, शास्त्र और गुरुदेव के अधीन ही रहना चाहिये । संसार में रहते हुए इस प्रकार की परतन्त्रता तो सिद्धों में भी रहती है । यहाँ तक कि अवतार लेने पर ईश्वर को भी परतन्त्र रहना पड़ता है। देखो, स्वयं भगवान् राम भी प्रातःकाल होते ही गुरुदेव से पहले उठकर उनके पास जाते और उन्हें प्रणामादि करते थे । व्यावहारिकी स्वतन्त्रता तो ईश्वर, पशु या गंगातीर पर विचरनेवाले सिद्धों में ही रह सकती है। यदि जीव स्वतन्त्र होकर आचरण करेगा तो अपने धर्म से भ्रष्ट हो जायगा।

× × ×

१. जिसका मन एकाग्र हो, विषय में आसक्ति न हो तथा जिसे किसी नवीन विषय की इच्छा न हो, वह भगवान् को प्राप्त कर सकता है।

२. विषय की महान् शक्ति ही ज्ञानी, भक्त और विद्वान् को क्षोभ करा देती है। अतः विषय-चिन्तन नहीं करना चाहिये। इन्द्रियों में विचरनेवाले पुरुष का मन विषय में आसक्त हो जाता है। इसलिये मैं तुम्हें यह सिद्धान्त की बात बताता हूँ कि तुम विषय त्याग करने के लिये सर्वदा वीर बने रहो—विषयों के प्रति सर्वदा सावधान रहो।

३. साधक के लिये विषयी पुरुष का सङ्ग और विषय में प्रेम, ये पतन के कारण हैं।

४. ईश्वर में प्रेम होने से विषय-प्रेम दूर हो जाता है।

५. परमात्मा में चित्त आसक्त हुए बिना कोई साधक सिद्धावस्था को प्राप्त नहीं होगा।

६. साधक को शरीर स्वस्थ और खान-पान का संयम रखना चाहिये।

७. भजन गुप्त रूप से करना चाहिये। अपने को भजनानन्दी प्रकट नहीं करना चाहिये।

८. भजन से कभी तृप्त नहीं होना चाहिये।

९. भगवान् से किसी सांसारिक विषय की याचना नहीं करनी चाहिये।

१०. साधकको सांसारिक बातें अच्छी नहीं लगनी चाहिये। परन्तु साथ ही यह भी प्रकट नहीं होने देना चाहिये कि उसे सांसारिक बातें अच्छी नहीं लगतीं। दिखावटी तो कुछ भी नहीं होना चाहिये।

११. पापकर्म, छल, कपट, मान, धन और स्त्री की आसक्ति परनिन्दा और परचर्चा की आदत, गर्व, धूर्त्तता तथा पाखंडादि दोषयुक्त मनुष्यों का संग—इन सब दोषों से साधक को सर्वदा दूर रहना चाहिये।

१२. परदोषदर्शन भगवत्प्राप्ति में महान् विघ्न है।

१३. साधक को साम्प्रदायिक झगड़ों में नहीं पड़ना चाहिये। निरंतर जप, पाठ, पूजन और ध्यान में ही समय बिताना चाहिये।

१४. एकान्त स्थान मे रहने का अभ्यास करना चाहिये। निद्रा या आलस्य सतावे तो ऊँचे शब्द से सद्ग्रन्थ पाठ अथवा भगवन्नाम जप करना चाहिये।

१५. आसक्ति छोड़कर किये हुए सब कर्म भजन के ही अन्तर्गत हैं।

१६. सब प्रकार के दुःखों को शान्तिपूर्वक सहना चाहिये।

१७. क्रोधी के प्रति क्षमा और वैरी के प्रति प्रेम करना चाहिये। तथा अपना बुरा करने वाले के साथ भी भलाई करनी चाहिये।

१८. अपने को सबसे छोटा समझना, अभिमान न करना, किसी का दोष न देखना, किसी से घृणा न करना, कम बोलना, सदा सत्य और मीठे वचन बोलना, यथासाध्य सबकी सेवा करना, दीनों पर दया करना, विवाह-उत्सव आदि जनसमूह में कम सम्मिलित होना, पापों से सावधान रहना और ईश्वर मे पूर्ण विश्वास रखना-ये साधक के आवश्यक गुण हैं।

१६. सुवर्ण और स्त्री-इन दोनों से बचकर रहो। ये भगवान् और जीव के बीच में खाई बनाते हैं, जिससे यमराज मुँह में धूल डालता है।

२०. अविनाशी भगवान् और जीव के बीच में तीन धाराएँ (नदियाँ) है—(१) कुल, (२) काञ्चन और (३) कामिनी। जो इन तीनों को पार कर लेता है—इनमे आसक्त नहीं होता, वह भगवान् के पास पहुँच जाता है।

२१. तीन बातें सदा याद रखनी चाहिये-(१) दीनता, (२) आत्मचिन्तन और (३) सद्‌गुरुसेवा।

२२. भजन के विघ्न ये हैं—

(१) लोक में मान-प्रतिष्ठा होना।
(२) देशदेशान्तर में ख्याति होना।
(३) धन लाभ होना।
(४) स्त्री मे आसक्ति होना।
(५) संकल्पसिद्धि अर्थात जिस पदार्थ की इच्छा हो उसी का प्राप्त हो जाना।

२३. भगवत्प्राप्ति के लिये ये साधन अवश्य करने चाहिये—

(१) सहनशीलता का अभ्यास।
(२) समय को व्यर्थ न गँवाना।

(३) पदार्थ पास होते हुए भी भोगने की इच्छा न करना।

(४) निरन्तर इष्टदेव का चिन्तन करना।

(५) सद्गुरु की शरण ग्रहण करना।

२४. श्री भगवान् चार मनुष्यों पर अधिक प्रेम करते हैं और चार पर अधिक क्रोध करते हैं।

इन चार पर अधिक प्रेम करते हैं--

(१) दान करने वाले पर प्रेम करते हैं, किन्तु जो कंगाल होते हुए भी दान करता है उस पर अधिक प्रेम करते हैं।

(२) शूरवीर पर प्रेम करते हैं, किन्तु जो शूरवीर विचारवान् होता है उस पर अधिक प्रेम करते हैं।

(३) दीन पर प्रेम करते हैं, किन्तु जो धनी होकर भी दीन हो उस पर अधिक प्रेम करते हैं।

(४) भक्त पर प्रेम करते है, किन्तु जो बचपन या जवानी से ही भक्ति करता है उस पर अधिक प्रेम करते हैं।

इन चार पर अधिक क्रोध करते हैं--

(१) लोभी पर क्रोध करते हैं, किन्तु जो धनी होकर लोभ करता है उस पर अधिक क्रोध करते हैं।

(२) पाप करने वाले पर क्रोध करते हैं, किन्तु जो बुढ़ापे में पाप करता है उस पर अधिक क्रोध करते हैं।

(३) अहङ्कारी पर क्रोध करते हैं, किन्तु जो भक्त होकर अहङ्कार करता है उस पर अधिक क्रोध करते हैं।

(४) क्रिया-भ्रष्ट पर क्रोध करते हैं, किन्तु जो विद्वान् होकर क्रिया-भ्रष्ट होता है उस पर अधिक क्रोध करते हैं।

२५. विश्वास करो, मंगलमय श्रीहरि तुम्हारे साथ निरन्तर

खेल रहे हैं। दुःखी क्यों होते हो ? दुःखी होना अपने को अविश्वास की अवस्था में डालना है। सारी परिस्थितियों के रचयिता ईश्वर हैं। जिन प्रभु ने तुम्हें पैदा किया है, जिन प्रभु ने तुम्हारी जीवन-रक्षा के लिये नाना वस्तुओं की सृष्टि की है, जिन प्रभु ने सूर्य और चन्द्रमा-जैसी मनोहर दिव्य वस्तुएँ दी हैं, वे ही प्रभु तुम्हें बुद्धियोग भी प्रदान करेंगे। किन्तु आवश्यकता है सर्वतोभावेन अपने को उनके ऊपर छोड़ देने की—निछावर कर देने की। अपनी सारी अहंता और ममता को उन्हीं के चरणों में रख दो। अहंता और ममता ही बन्धन है। बन्धन में क्यों पड़े हो ? इस महादुःखदायी बन्धन को अपना महाशत्रु समझ उतार कर फेंक दो।

२६. जिस कार्य से भगवच्चिन्तन में कमी हो उसे कभी न करे। एक समय या दो समय भूखे रहने से यदि भजन बढ़ता हो तो वह करना चाहिये। जहाँ तक हो खर्च कम करे, आवश्यकताओं को न बढ़ावे। विरक्त को तो माँगना ही नहीं चाहिये। साधु दाल-रोटी माँग कर खा ले, या गृहस्थ के घर में जो मिले उसी से निर्वाह कर ले।

२७. जिसे अपना कल्याण-साधन करना हो उसे तीन काम करने चाहिये—जप, ध्यान और स्वाध्याय। इन तीनों कार्यों को नित्य नियमपूर्वक करते रहने से भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की सिद्धि हो जायगी। इसलिये इन तीनों कार्यों में कमर कस कर लग जाना चाहिये।

२८. विचारवान् पुरुष के लिये निन्दा और स्तुति दोनो ही फूलों की तरह हैं। निन्दा भी फूल हैं और स्तुति भी फूल हैं। दोनों की माला बनाओ और अनासक्त भाव से पहन कर चलो।

२९. सबसे पहले अपने चित्त की चिकित्सा करनी चाहिये।

काम-क्रोधादि से चित्त ही तो जल रहा है। अतः उसी को शान्त करना चाहिये।

३०. जो संसार की भक्ति करते हैं उन्हें संसार मिलता है और जो भगवान् की भक्ति करते हैं उन्हें भगवान् मिलते हैं। पुरुषार्थ है, इसे चाहे जिस ओर लगा दो।

३१. जिसकी भजन में आसक्ति नहीं है उसे एकान्त में नहीं रहना चाहिये। उसके लिये एकान्त दुःखदायी हो जायगा। एकान्त पाकर उसका मन उस पर शासन करने लगेगा। उसे तो सत्संग करना चाहिये।

३२. जप और भजन करनेवाला पुरुष यदि अश्लील शब्द बोलता है तो उसका भजन व्यर्थ हो जाता है। ऐसे भजन से क्या लाभ?

३३. जिसका देहाभिमान गल गया है, वस्तुतः उसी ने कुछ पाया है।

३४. जिसका भगवान् के साथ सम्बन्ध है उसे राग-द्वेष नहीं होते। जिसके हृदय में राग-द्वेष हैं उसका यह कहना कि मुझे भगवान् का दर्शन हो चुका है, सर्वथा मिथ्या है। राग-द्वेष वाले व्यक्ति को भगवान् कभी नहीं मिल सकते।

३५. एक भट्टाचार्य थे। वे किसी की बुराई सुनना नहीं चाहते थे। यदि उनसे कोई कहता कि अमुक जगह लड़ाई होरही है तो वे कहते, "ऐसी बातें मत सुनाओ; बस, 'कृष्ण-कृष्ण' कहो।" वे बड़े अद्वितीय पंडित थे और हर समय 'कृष्ण-कृष्ण' कहते रहते थे।

३६. भक्त, ज्ञानी और योगी—ये तीनों ही शान्त रहते हैं। इन्हें व्यर्थ बातें करने की फुर्सत नहीं होती। भक्त हर समय

भगवच्चिन्तन में लगा रहता है, ज्ञानी आत्मानुसन्धान में तत्पर रहता है और योगी प्राण-स्पन्दन के निरोध में लगा रहता है। इस प्रकार ये तीनों ही शान्त रहते हैं, कभी व्यर्थ बात नहीं करते।

३७. जिनकी बुद्धि संसार की ओर है वे धीर नहीं कहला सकते। जिन्होंने बुद्धि को संसार की ओर से हटाकर भगवान् में लगा दिया है वे ही वास्तव में धीर हैं।

३८. जो व्यक्ति कुप्रवृत्ति में तत्पर, मनुष्यत्वहीन, संसार-विष्ठा का कीड़ा, पशुधर्मी, मोहान्ध, उन्नति की आशा से रहित तथा प्रवृत्तिपरायण होता है, उसे भगवत्प्राप्ति नहीं होती।

३९. जो व्यक्ति विचारपरायण, सत्यनिष्ठ, संयमशील, शान्ति-कामी, दुःखनिवृत्ति में तत्पर, पवित्रता का ही आदर्श वाला, श्रद्धा और वीर्य को ही बन्धु बनाने वाला तथा भगवन्नाम का ही आभूषण पहननेवाला होता है, वह भगवान् को प्रेम-रज्जु से बाँध लेता है।

४०. जिस प्रकार सुकरात ने प्रसन्न वदन से विषपान कर लिया, किन्तु सत्य को नहीं त्यागा, हरिदास ने काजी के अत्याचार से हरिनाम नहीं त्यागा, हिरण्यकशिपु के अत्याचार से प्रह्लाद विचलित नहीं हुआ, इसी प्रकार धर्मनिष्ठ, सत्यवादी और कर्त्तव्यपरायण भगवद्भक्त को भगवन्निष्ठा से विचलित नहीं होना चाहिये।

४१. साधक के लिये लोकसंग्रह अत्यन्त विघ्नकारी है तथा ब्रह्मचर्य, सरलता, निर्भयता और वैराग्य सहायक हैं। साधन परिपक्व हो जाने पर लोकसंग्रह हानिकारक नहीं होता।

४२. गुण-दोष संसारी पुरुष ही देखता है, साधक और सिद्ध दोनों गुण-दोष नहीं देख सकते; क्योंकि साधक को अपने

साधन के अतिरिक्त समय नहीं होता, जिसमें वह दूसरों के गुण-दोष देखे तथा सिद्ध को अपने लक्ष्य के अतिरिक्त कुछ प्रतीत ही नहीं होता। फिर वह गुण-दोष किसके देखे ?

४३. विरक्त और भगवत्प्रेमियों के लिये ये दोहे बहुत उपयोगी हैं। उन्हें सर्वदा इनका मनन करना चाहिये—

राजकथा अरु जगकथा, भोगकथा तू त्याग ।
ये तीनों त्यागे बिना, पावें नहिं अनुराग ॥
रामकथा अरु सन्तकथा, भक्तकथा तू जान ।
इन तीनों के ज्ञान से, पावे पद निरवान ॥
रूखा सूखा खाय के, ठण्डा पानी पीव ।
देखि पराई चूपरी, मत ललचावै जीव ॥
छिनहिं चढ़ै छिन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय ।
अघट प्रेम पञ्जर वसै, प्रेम कहावै सोय ॥
प्रेम सदा बढ़िवौ करे, ज्यों शशिकला सुवेश ।
पै पूनो यामै नहीं, ताते कबहुँ न शेष ॥
एक नेम यह प्रेम को, नेम सबै छुटि जाहिं ।
पै जो छाड़ै जानिकै, तहाँ प्रेम कछु नाहिं ॥

४४. जिसका मन एकाग्र हो तथा जिसे विषय में आसक्ति और किसी नवीन विषय की इच्छा न हो, वही भगवान् को प्राप्त कर सकता है।

४५. जिसके चित्त में राग-द्वेष है उसका चित्त हलका (ओछा) हो जाता है और उसमें चंचलता बढ़ जाती है।

उपयोगी साधन

प्र०—चित्त-शुद्धि का साधन क्या है और यह कब समझना ाहिये कि चित्त शुद्ध हो गया ?

उ०—चित्त-शुद्धि के लिये दो बातों की आवश्यकता है—विवेक और ध्यान । केवल आत्मा-अनात्मा का विवेक होने पर ी यदि ध्यान के द्वारा उसकी पुष्टि नहीं की जायगी तो वह स्थिर हीं रह सकेगा। इसके सिवा इस बात की भी बहुत आवश्यकता कि हम दूसरों के दोष न देखकर निरन्तर अपने चित्त की रीक्षा करते रहें।

जिस समय चित्त में राग-द्वेष का अभाव हो जाय और चत्त किसी भी दृश्य पदार्थ में आसक्त न हो उस समय समझना ाहिये कि चित्त शुद्ध हुआ। परन्तु राग-द्वेष से मुक्त होने के लिये रमात्मा और महापुरुषों के प्रति राग होना तो परम आवश्यक है।

प्र०—राग-द्वेष किन्हें कहते हैं ?

उ०—जिस समय मनुष्य नीति को भूल जाय, उसे दाचार के नियमों का कोई ध्यान न रहे, तब समझना चाहिये क वह राग-द्वेष के अधीन हुआ है—राग-द्वेष का मूल अहंकार । अहंकार के आश्रित ही ममता और परत्व की भावनाएँ रहती । ममता ही राग है और परत्व ही द्वेष है।

प्र०—समय को किस प्रकार बिताना चाहिये ?

उ०—सब के लिये एक मत नहीं है। जो गुरु के पास रहने ाले भक्त हैं उन्हें गुरु की सेवा में अधिक समय लगाकर भजन कम समय लगाना चाहिये। और जो गुरु के समीप नहीं रहते

उन्हें भजन में अधिक समय लगाना चाहिये। यदि गुरु सेवा न कराते हों तो भजन मे ही अधिक समय लगाना चाहिये। गुरु गृहस्थ हों तो उनकी सेवा करने की आवश्यकता रहती है। यदि वे भी सेवा स्वीकार न करे तो भजन में ही अधिक समय लगावे। विरक्त संन्यासी को धन नहीं देना चाहिये। उन्हें धन देने से पाप लगता है। सबको अधिक समय तो भजन में ही लगाने की चेष्टा करनी चाहिये।

प्र०—भगवान् तो हमें दीखते नहीं, इसलिये उनकी शरण कैसे हों ?

उ०—विराट्स्वरूप भगवान् तो दीखते ही हैं। शक्ति, शान्ति और सौन्दर्य ये भगवान् के ही स्वरूप हैं।

प्र०—महाराज जी ! भजन में जो निद्रा आजाती है उसको हटाने के लिये क्या करना चाहिये ?

उ०—ज़ोर-ज़ोर से कीर्तन करो, खड़े होकर जप करने लगो। इस दुश्मन से खड़े होकर लड़ो। भक्तों के बनाये हुए पद ज़ोर-ज़ोर से गाने लगो। इसका यह मतलब नहीं कि लोगों को दिखाने के लिये भजन किया जाय। लोग देखें—इस निमित्त से भजन करना तो बहुत नीचा भाव है।

प्र०—महाराज जी ! बुरे कामों में जो मन जाता है, उसे कैसे रोकें ?

उ०—उन कामों से घृणा करो, दोष-दृष्टि करो।

प्र०—सबका सर्वोच्च ध्येय क्या होना चाहिये ?

उ०—परमानन्द की प्राप्ति और दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही सबका ध्येय होना चाहिये। उनके साधन ये हैं:—

(१) निष्काम भाव से परोपकार—प्राणिमात्र की सेवा।

(२) भगवद्विग्रह और भगवद्भक्तों की सेवा।

(३) भगवन्नामजप और ध्यान।

प्र०—शरीर, वाणी, धन और अन्तःकरण किस प्रकार शुद्ध होते हैं ?

उ०—झूठ, हिंसा और व्यभिचार के त्याग से शरीर शुद्ध होता है। भगवन्नामजप से वाणी शुद्ध होती है। दान से धन शुद्ध होता है। धारणा और ध्यान से अन्तःकरण शुद्ध होता है।

प्र०—राग-द्वेष कैसे दूर किया जाय ?

उ०—पहले शुभ कर्म का आचरण और अशुभ कर्म का त्याग करे। त्याग-द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाने से साधक ईश्वरोपासना का अधिकारी होता है। फिर उपासना परिपक्व होने पर भगवान् का मिलन होता है। भगवान् का मिलन होने पर राग-द्वेष की निवृत्ति होती है और ईश्वर, जीव तथा जगत का पूर्ण एवं यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

प्र०—राग-द्वेष का स्वरूप क्या है ? ये कैसे पैदा होते है ? इनकी निवृत्ति कैसे होती है ? इनके रहने से मनुष्य की क्या गति होती है ?

उ०—यदि किसी चीज में चित्त ऐसा फँस जाय कि कैसा ही अपमान, निरादर या दुःख होने पर भी न हटे तो इसे राग कहते हैं, जैसा कि गोपियों का श्रीकृष्ण में था। जब किसी चीज से चित्त ऐसा हट जाय कि उसमें दोष ही दोष दिखाई दें, गुण कोई मालूम ही न हों तो यही द्वेष है, जैसे कंस का श्रीकृष्ण के प्रति था। राग-द्वेष की उत्पत्ति गुण-दोष या स्तुति-निन्दा के चिन्तन से होती है। और राग-द्वेष हीं संसार के कारण हैं, क्योंकि इनके विषयों का निरन्तर चिन्तन रहना है, इसलिये वे हर समय सामने खड़े रहते हैं। जो पूर्ण ज्ञानी या पूर्ण भक्त होता है उसमें राग-द्वेष नहीं रहते। अतः ऐसे महापुरुष का ध्यान करने से राग-द्वेष जाते रहते हैं। इसके सिवा किसी की निन्दा-स्तुति न करने की प्रतिज्ञा करने से भी इन दोषों की निवृत्ति हो जाती है।

राग-द्वेष न रहने से चित्त हल्का हो जाता है और उसमें सत्वगुण की प्रधानता हो जाती है।

× × ×

१. केवल चार बातों से ज्ञान की प्राप्ति होती है—

(१) कथा-पुराण सुनने से।

(२) लोगोंका मरना देखकर अपनी मृत्युका विचार करनेसे।

(३) साधु-महात्मा और विरक्त पुरुषों की संगति करने से।

(४) संसारी व्यवहार को झूठा समझने से।

२. राजसिंहासन पर बैठते ही राजा के समीप मन्त्री और अन्य कर्मचारी स्वतः ही आ जाते हैं। इसी प्रकार अविवेक का उदय होते ही काम, क्रोध, मद और लोभ आदि आ जाते हैं। 'अहं' का उदय होते ही स्वस्थता नष्ट हो जाती है। स्वस्थता का अर्थ है—'स्व' में स्थित होना। 'स्व' में तुम तभी स्थिर रह सकोगे जब तुम अपने 'अहं' को अलग कर दोगे। तुम अभ्यासी बनो, त्यागी बनो, किन्तु बिना अभ्यास के आगे नहीं बढ़ सकते। ज्यों ही अभ्यास में प्रमाद करोगे, त्योंही चित्त में नाना प्रकार की स्फुरणाएँ होनी प्रारम्भ हो जायेंगी।

३. अज्ञान और अविवेक को नष्ट करना ज्ञान और प्रेम-तत्त्व को आमन्त्रित करना है। सारे अज्ञान और अविवेक की सृष्टि 'अहं' ने की है। इसलिये 'अहं' को ही अपराधी समझ कर गिरफ्तार करो। उसी को नष्ट करो। 'अहं' का नाश होते ही दिव्यता का अनुभव होने लगेगा। फिर तुम अपने अन्दर एक बढ़ती हुई ज्योति का अनुभव करने लगोगे।

४. छः घंटे ध्यान करो, परन्तु यदि चित्त अपने लक्ष्य पर न रहकर विषय-चिन्तन में भटकता रहता है तो सब मिट्टी हो जाता है, इसके विपरीत यदि सब प्रकार के कार्य करते हुए भी लौकिक

चिंतन न हो, निरन्तर भगवत्स्मृति बनी रहे तो यही सच्चा ध्यान है।

५. यदि तुम ज्ञान की प्राप्ति करना चाहते हो तो आवश्यकता इस बात की है कि देश, जाति और शरीर की आसक्ति को अलग करो।

६. शरीर की रक्षा करना चाहते हो, हृदय को सुरक्षित रखना नहीं चाहते। शरीर को पवित्र करना चाहते हो, हृदय को पवित्र करना नहीं चाहते। शुद्ध करना चाहिये शरीर, वाणी और हृदय तीनों ही को। आचार से शरीर की शुद्धि होती है। चोरी, हिंसा, व्यभिचार, राग, द्वेष, ईर्ष्या एवं मद-मोहादि के त्याग से हृदय शुद्ध होता है और अश्लील भाषण के त्याग से वाणी शुद्ध होती है। मन की शुद्धि के प्रधान साधन सत्सङ्ग, विचार और सहनशीलता हैं, इनमें विचार मुख्य है।

७. जो चित्त दृश्य जगत् मे आसक्त है वह परमात्मतत्त्व का चिन्तन नहीं कर सकता। जिस अवस्था में पहुँचने के लिये तुम तड़प रहे हो उसके समीप पहुँचने के पूर्व तुम्हें बहुत से कामों को समाप्त करना होगा। अपनी सारी बुराइयों को दूर करके सात्त्विक संसार में उतरना होगा।

८. क्रोध पाप का प्रधान कारण है। पापियों का चिन्ह क्रोध है। जिसमें क्रोध है, चाहे वह कोई भी हो, उसे पापी ही समझना चाहिये। राग-द्वेष-मिश्रित क्रोध मनुष्य को उत्थान-की ओर जाने से रोकता है। विशेषतया गुरुजनों और श्रेष्ठजनों के प्रति तो क्रोध करना ही नहीं चाहिये।

९. जिस किसी ने राग-द्वेषमय जीवन बिताया है वही उन्नति की सुनहली पगडंडी पर चलने से वंचित रहा है। आवश्यकता है उद्दण्ड मन पर शासन करने की।

१०. निठल्ले आदमी ही दूसरों के गुण-दोष देखते हैं। ज्ञानी आत्मदर्शी होता है, भक्त केवल भगवान् को देखता है और कामी केवल अपने इच्छित विषय को देखता है । इन सबको तो दूसरे की ओर देखने का अवकाश ही नहीं होता।

११. गीता का एक श्लोक मुझे बहुत ही पसंद है। यह सभी के लिये उपयोगी है। सभी सम्प्रदायों के लोग इससे लाभ उठा सकते हैं।

'अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् * ॥ (८।८)

१२. जिसने अभ्यासमय जीवन बिताया है, उसी ने परम दिव्य पुरुष की प्राप्ति की है।

१३. भेरिया (भृगुक्षेत्र) के बङ्गाली बाबा सुनाते थे कि एक बार ऋषिकेश की झाड़ी में सत्सङ्ग हो रहा था। सभी साधु-महात्मा अपने-अपने अनुभव प्रकट कर रहे थे। इतने ही में झाड़ी में से एक वृद्ध महात्मा निकले। लोगों के बहुत आग्रह करने पर उन्होंने कहा—"साधन दो तरह के हैं—(१) अन्तरङ्ग और (२) बहिरङ्ग। दोनों ही आवश्यक हैं । अन्तरङ्ग साधन यह है कि निरन्तर चिंतन करता रहे। किसी भी क्षण चित्त मे तत्त्वचिन्तन से भिन्न विचार न हो। बहिरंग साधन है प्रतिग्रह (दूसरे से लेना,) परिग्रह (संचय करना), उपग्रह, (बार-बार खाना) और परचर्चा (निन्दा-स्तुति करना) इन चारों से बचना। इनसे बच जाय तो भजन का फल प्राप्त हो।"

---

*हे पार्थ ! कहीं अन्यत्र न जाने वाले अभ्यासयोगयुक्त चित्त से परम दिव्य पुरुष का निरन्तर चिन्तन करते हुए जीव उसी को प्राप्त हो जाता है ।

१४. अविवेकी के लिये शास्त्र भारस्वरूप प्रतीत होता है। रागी को ज्ञान भार है, अशांत लोगों को मन भार है और अनात्मदर्शी को शरीर भार है। इसी आशय का एक श्लोक है—

'भारोऽविवेकिन. शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणः।
अशान्तस्य मनो भारं भारोऽनात्मविदो वपुः॥'

१५. शुद्धि छः प्रकार की होती हैं उनका विवरण इस प्रकार है—

(१) मन की शुद्धि—मन को विषय-भोग के पदार्थों से पृथक करके सत्य चिन्तन करने से होती है।
(२) वाणीशुद्धि—सत्य, मधुर और सरल भाषण तथा श्री हरि का गुण-गान करने से होती है।
(३) अन्नशुद्धि—साधु के लिये भिक्षान्न तथा गृहस्थ के लिये शुद्ध जीविका होने पर होती है।
(४) हस्तशुद्धि—प्रतिग्रह न लेने तथा हाथों से शुभ कर्म करने पर होती है।
(५) कच्छशुद्धि—वीर्य की रक्षा करने तथा शुद्ध ब्रह्मचर्यमय जीवन बिताने से होती है।
(६) क्रियाशुद्धि—शुद्ध, निष्कपट व्यवहार करने से होती है।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में ये छहों प्रकार की शुद्धियाँ होनी चाहिये।

१६. प्रेम या भय के बिना वैराग्य नहीं होता। भय इस बात का होना चाहिये कि ये सब वस्तुएँ भगवान् की हैं, अतः इन्हें भोगने का मुझे अधिकार नहीं—इन्हें अपनी समझकर भोगना तो पाप है। इस प्रकार जब तुम्हारा मन भगवान् की ओर लग जायगा तब वह विषयों में और विषयी लोगों में नहीं लगेगा। भगवान् में प्रेम न होने से ही मन अन्य पदार्थों में जाता

है। जब तक बड़प्पन का अभिमान रहेगा तब तक प्रेम या वैराग्य नहीं हो सकता।

१७. क्रोध न करने की प्रतिज्ञा करने से क्रोध का त्याग हो सकेगा। यदि किसी दिन क्रोध आजाय तो उस दिन उपवास करो।

१८. प्रेम सत्त्वगुण, काम रजोगुण तथा प्रमाद या मोह तमोगुण हैं, सत्त्वगुण हुए बिना ज्ञान नहीं होता। अतः प्रेम परमार्थ है और काम स्वार्थ है। जहाँ स्वार्थ है वहाँ काम है। जिस समय स्वार्थ नहीं रहता उसी समय प्रेम होता है।

१९. जीव का स्वभाव प्रेम करना है। ज्ञानी का प्रेम वैराग्य में होता है, कामी का संसार मे तथा भक्त का भगवान् में। ज्ञानी शिवरूप है, वह काम का शत्रु है, भक्त विष्णु-रूप है, काम उसके अधीन है, तथा मन ब्रह्मरूप है, संसार उसकी सन्तान है।

२०. ज्ञान अज्ञान का नाश करता है, व्यवहार का नाश नहीं करता। दैवी सम्पत्ति ज्ञान को पुष्ट करती है और आसुरी उसका आच्छादन करती है। इसलिये शुभ कर्मों को छोड़ना नहीं चाहिये। चित्त का स्वभाव ही चिन्तन करना है। शुभ कर्म छोड़ देने से चित्त विषय-चिन्तन करेगा। कर्म बुद्धि का विषय है, आत्मा का नहीं। अतः विचारवान् पुरुष कर्म करता हुआ उसका साक्षी बना रहता है।

२१. जो परमात्मा का दर्शन करना चाहे, सदा सुख भोगना चाहे तथा भव-बन्धन से छूटना चाहे उसे कामिनी और काञ्चन में आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। जो इनमें मन लगाये रहते हैं उन्हें सिद्धि नहीं मिलती। भगवान् उनसे सदा दूर रहते हैं।

२२. रूप और शब्द में जिसका थोड़ा सा भी अनुराग है वह सगुणोपासना का ही अधिकारी है। निर्गुणोपासना का अधिकारी तो वही है जिसका रूप या शब्द में बिलकुल प्रेम न हो।

२३. बंगला में एक कहावत है 'जेमनि मन तेमनि भगवान्' अर्थात् जैसा मन होता है वैसे ही भगवान् हो जाते हैं। भगवान् का स्वरूप भक्त की भावना के अनुसार ही होता है।

२४. जिस भाषण से सत्त्वगुण, ज्ञान और भक्ति की वृद्धि हो तथा मन शान्त हो, वैसा ही भाषण करना चाहिये।

२५. निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, विक्षेप और संशय ये सब साधन के विघ्न हैं।

२६. श्रद्धा, भक्ति, नम्रता, उत्साह, धैर्य, मिताहार, आचार, शरीर वस्त्र और गृह आदि की पवित्रता, सच्चिन्ता, इन्द्रियसंयम, सदाचार का सेवन तथा कुचिन्ता और कुसङ्ग का त्याग–ये सब साधन सत्वगुण को बढ़ाने वाले है।

२७. भगवच्चिन्तन में समय व्यतीत करना मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है। भक्त के लिये भगवान् की दी हुई सम्पत्ति का अपव्यय करना महापाप है।

२८. अनावश्यक कर्म एवं अनावश्यक भाषण का त्याग करना चाहिये तथा 'भगवान् सर्वदा मेरे समीप हैं' ऐसा निश्चय रखना चाहिये।

२९. सरलता :भक्तिमार्ग का सोपान है तथा सन्देह और कपट अवनति के चिह्न हैं।

३०. सर्वदा नियमनिष्ठा में तत्पर रहना चाहिये। मन को प्रसन्न रखने के लिये प्रयत्न करना चाहिये तथा भगवान् को सर्व-व्यापी समझकर ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, शत्रुता और कुत्सित भाव का त्याग करना चाहिये।

३१. शारीरिक स्वास्थ्य, संयम एवं भगवत्सेवा ही भग-वत्प्राप्ति के मुख्य साधन हैं।

३२. संसार की चमकीली वस्तुओं को देखकर अपने को भूल न जाना चाहिये।

३३. विश्वास करो, फल अवश्य मिलेगा।

३४. रोते-रोते आये हो। ऐसा काम करो कि हँसते-हँसते जाओ।

३५. न्याय-मार्ग का उल्लंघन नहीं करना चाहिये।

३६ यदि कोई मनुष्य फुर्सत के समय किसी महात्मा के पास जाकर गप-शप मात्र कर लेता है, किन्तु उनके कथनानुसार साधन कुछ भी नहीं करता और कहता यह है कि हम तो बड़े-बड़े महात्माओं का सत्सङ्ग करते हैं, तो इससे कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता। परमानन्द की प्राप्ति के लिये तो सद्गुरु के कथनानुसार विश्वासपूर्वक साधन करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

३७. जिसको जैसा राग हो उसे वैसा ही साधन करना चाहिये। यदि तुम्हे सिनेमा देखने का राग है तो वृन्दावन में जाओ और भगवान् की लीलाओं का सिनेमा देखो; और यदि सुन्दर सुन्दर रूप देखने का राग है तो श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी की झाँकी करो। फिर तो तुम ये झूठे सिनेमा और स्त्रियों का रूप देखना पसन्द ही नहीं करोगे।

३८. श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ करें वही नहीं करना चाहिये, प्रत्युत वे जो कुछ कहें वही करना चाहिये, क्योंकि महापुरुषों की सब क्रियाएँ समझ में नहीं आतीं।

३९. भगवान् के नाम पर चाहे लाखों रुपये खर्च कर दो, किन्तु यदि हृदय में भाव नहीं तो परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती।

४०. उत्तम भजन की पहली श्रेणी यही है कि किसी की निन्दा-स्तुति न करे।

४१. चारों वेद, छहों शास्त्र और सभी पुराण यही उपदेश करते हैं कि निन्दा किसी की भी न करे।

४२. मनुष्य एक ही शौक कर सकता है, दो-चार नहीं। जो कई प्रकार के शौक करना चाहते हैं वे एक भी नहीं कर पाते। यदि विचार में मन लगता है तो विचार ही करता रहे, फिर किसी दूसरे साधन की ओर न जाय।

४३. मन से किसी का बुरा न सोचे और दीनों की सेवा करे—यही सब कुछ है।

४४. संसार में सबसे कठिन काम सेवा है। मनुष्य भजन और ध्यान तो कर सकता है, किन्तु सेवा करना कठिन है। सेवा तो वही कर सकता है जिस पर भगवान् की अत्यन्त कृपा हो।

४५. संसार के प्रवाह से बचने के चार सेतु हैं। इनके द्वारा संसार-समुद्र को सुगमता से पार किया जा सकता है—

(१) ईश्वर, गुरु और शास्त्र में श्रद्धा।

(२) क्षमा।

(३) सहनशीलता।

(४) सत्य और दान।

४६. शरीर के लिये आहार है, आहार के लिये शरीर नहीं।

४७. भक्त सच्छास्त्र, सत्संग, सदालोचना, सद्विचार और सत्कर्म की सहायता से भगवान् के प्रेममयत्व, मङ्गलमयत्व, सर्वमयत्व, ज्ञानमयत्व और सर्वकर्तृत्व का अनुभव करने के योग्य होता है।

४८. भगवद्विषय का प्रश्नकर्ता उत्तरदाता और श्रोता तीनों ही पवित्र हो जाते हैं।

४९. चेष्टाहीनता, मौन और प्राणायाम से क्रमशः शरीर, वाणी और मन वशीभूत होते हैं।

५०. गार्हस्थ्य-सम्बन्धी कार्य यथासमय नियमानुसार सम्पादन करने से भजन में सहायता मिलती है।

५१. जब तक क्रोध, द्वेष, कपट, स्वार्थपरता, अभिमान और लोकनिन्दा का भय—ये दोष हमारे हृदय में विद्यमान रहेंगे तब तक कठोर तप करने पर भी भक्ति-लाभ करना कठिन है।

५२. सद्भाषण, सद्विचार, सद्भावना और न्यायनिष्ठा को छोड़कर बाह्य आडम्बर से कोई धर्मात्मा नहीं बन सकता।

५३. देह में अहंता और भोग्य पदार्थों में ममता—ये ही दुःख के प्रधान कारण हैं। लोग इन अहंता-ममता को लेकर ही सुख पाना चाहते हैं। परन्तु इनसे तो वे उल्टे दुःख में ही पड़ते हैं।

५४. राग-द्वेष इन दोनों को ही छोड़ दोगे तभी कुछ लाभ हो सकेगा। गुरु नानक साहब कहते हैं—

'राग-द्वेष दोनों खोइये, खोजिये पद निरवान।
नानक कहे पथ कठिन है, कोइ कोइ गुरुमुख जान॥"

५५. दूसरे का अनिष्ट-चिन्तन, पर-धन की इच्छा और शरीर में आत्म-बुद्धि—इनसे मानसिक शान्ति नष्ट हो जाती है। इसलिये इन बातों से बचना चाहिये।

५६. यदि कोई क्रोध से तप रहा है तो उसका भजन किस काम का, उसका तो सब कुछ किया-कराया नष्ट हो जाता है। काम, क्रोध और लोभ तो सारे भजन को नष्ट कर देते हैं। देखो, एक सन्त ने कहा है—

"कामी क्रोधी लालची, इनसों भक्ति न होय।
भक्ति करे कोई सूरमा, जाति वरन कुल खोय॥"

५७. भजन का फल तो शान्ति है और शान्ति यही है कि तुमसे कोई दस बात कह जाय फिर भी तुम हँसते रहो। सारे दिन बातें तो करो अद्वैत की और जहाँ-तहाँ झगड़ते डोलो तो इससे

क्या होना है। अरे! तुम्हें जो गाली देता है वह तो तुम्हारा संकल्पमात्र है, उसे तुम अपना शत्रु क्यों समझते हो?

५८. कुसंगी और सत्संगी एक-से नहीं होते। जो काम-क्रोध के अधीन है और दूसरों से झगड़ा करता है वह कुसंगी है। और जो सबकी सह लेता है वह सत्संगी है। सहनशीलता ही साधक के लिये सबसे पहला साधन है।

५९. हमारा भावी जीवन बहुत कुछ हमारी भावनाओं के अधीन है। हमारी जैसी भावना होगी वैसे ही हम बन जायँगे। यदि हम नीच भावनाएँ रखेंगे तो नीच से नीच हो जायँगे और उच्च भावनाएँ रखेंगे तो ऊँचे से ऊँचे चढ़ जायँगे। इसीलिये यथासम्भव उच्च और शुभ भावनाओं का पोषण करना चाहिये।

६०. अच्छे-अच्छे साधकों से भी मिथ्या भाषण और व्यर्थ भाषण आदि कई प्रकार के वाणी के दोष बन जाते हैं। इनसे बचने में मौन से बड़ी सहायता मिलती है। किन्तु जो लोग केवल दिखाने के लिये मौन रहते हैं उनका मौन तो ढोंग ही है। साधन तो अपने लिये ही होना चाहिये, तभी उससे लाभ होता है।

६१. रसास्वाद का लोभ रखकर भोजन करने से, तमोगुण बढ़ता है तथा रसनेन्द्रिय वशीभूत न होने पर अन्य इन्द्रियाँ भी वश में नहीं होतीं।

६२. सन्ध्या के समय भोजन नहीं करना चाहिये। भोजन के समय भाषण नहीं करना चाहिये। भोजन के समय हाथ-पैर धोना चाहिये तथा पवित्र वस्त्र धारण कर पवित्र स्थान में उत्तर अथवा पूर्व की ओर मुँह रखकर भोजन करना चाहिये। तामसी भोजन सर्वथा वर्जनीय है।

६३. दूसरों के अवगुण देखना अवनति का ही कारण है तथा प्रत्येक व्यक्ति से गुण ग्रहण करना ही उन्नति का कारण है।

६४. राग-द्वेष अल्प ज्ञान और अभिमान—ये जीव के बन्धन हैं।

६५. कुचिन्ता, कुप्रवृत्ति और कुसंग अवनति है तथा सच्चिन्ता सत्प्रवृत्ति और सत्संग उन्नति का उपाय है।

६६. विश्वास ही फल-लाभ का उपाय है।

६७. देवता, वेद, गुरु, मन्त्र, तीर्थ, ओषधि और महात्मा —ये सब श्रद्धा से फल देते है, तर्क से नहीं।

६८. अनेक विघ्न होने पर भी जो धीर कर्त्तव्य से चलायमान नहीं होता वही भगवान् का कृपापात्र है।

६९. दया, तितिक्षा, संयम, वैराग्य, अमानित्व, अदम्भित्व, शिष्टाचार, सत्य-परायणता, सदाचार, असूयारहित उत्साह, अध्यवसाय और अव्यभिचारिणी भक्ति—ये सब उन्नति के लिये आवश्यक हैं।

७०. अधिक भाषण करना मिथ्यावादी का चिन्ह है।

७१. हास-परिहास करना, तमाशा देखना, छल से बात करना और अन्याय से दूसरों का धन हरण करना अभक्तों के लक्षण हैं।

७२. दूसरों की समालोचना न करना वैराग्य का लक्षण है।

७३. विद्वान् होकर शान्त रहना अर्थात् वाद-विवाद न करना श्रेष्ठ पुरुषों का लक्षण है।

७४. श्रद्धापूर्वक विधिवत् तीर्थभ्रमण करने से चित्त-शुद्धि होती है। तीर्थों में कुभावना का उदय होने से पाप संग्रह होता है।

७५. 'मैं दुर्बल हूँ, मैं अपवित्र हूँ' यह मन की दुर्बलता का लक्षण है। धैर्य एवं उत्साह से कार्य में तत्पर होना पवित्र मन का लक्षण है।

७६. मन शान्त रहना ही नीरोग शरीर का लक्षण है।

७७. विधर्म, परधर्म, धर्माभाव, उपधर्म और छलधर्म भी अधर्म की तरह त्यागने योग्य हैं।

७८. काम-क्रोधादि मन की तरंगें हैं; मन शान्त हो जाने से ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य और आनन्द प्राप्त होते हैं।

७९. भोग्य वस्तु के साथ अधिक प्रेम होने से चित्त के नीचे जाने की सम्भावना है—इस बात को अच्छी तरह याद रखो।

८०. प्रीति, सन्तोष, प्रसन्नता, उत्साह, धैर्य, साहस और निर्भयता भगवत्प्राप्ति में सहायक हैं।

८१. जब किसी व्रत या विचार को ग्रहण करके अनेक विघ्न होने पर भी त्यागने की सामर्थ्य न रहे तो उसी को निष्ठा समझना चाहिये। निष्ठा अनेक प्रकार की है; जैसे—धर्मनिष्ठा, नियमनिष्ठा, समयनिष्ठा, भक्तिनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा आदि।

८२. शारीरिक स्वास्थ्य से मन की शान्ति होती है। अति-भोजन और अपथ्य-भोजन सर्वथा त्याज्य हैं। जिस वस्तु को खाने से शरीर में रोग हो उसे सर्वथा त्याग देना चाहिये। भजन, भोजन और निद्रा प्रतिदिन नियत समय पर ही होने चाहिये। बिछौना, ओढ़ना और वासस्थान परिष्कृत रखने चाहिये, किन्तु विलासिता से सर्वथा दूर रहना चाहिये। शिष्टाचार को कभी नहीं छोड़ना चाहिये। हाँ, परनिन्दा का अवश्य त्याग करना चाहिये।

८३. आलस्य सबसे अधिक विघ्नकारक है। आलस्य से शरीर और मन दोनों ही दुर्बल होते हैं।

८४. जिस समय विघ्न उपस्थित हो उस समय सरल भाव से भगवान् की प्रार्थना करनी चाहिये।

८५. इष्टदेव में प्रेम होने से निद्रा नहीं आती।

८६. विश्वास और निर्भरता होने से निद्रा आदि सम्पूर्ण दोष दूर हो जाएँगे।

८७. निद्रा, घृणा, द्वेष और अभिमान जीव के लिये बन्धन की शृङ्खला हैं।

८८. समय व्यर्थ न बिताना चाहिये। जिस समय कोई काम न हो उस समय जप, मानस-पूजा अथवा सद्ग्रन्थों का पाठ करना चाहिये।

८९. मन में कुत्सित चिन्ता उत्पन्न होने से उसके हटाने के लिये जप अथवा धर्मचिन्ता या वैराग्य-भावना करनी चाहिये।

९०. मैं चार बातें सबको बतलाता हूँ—(१) सहनशक्ति, (२) निरभिमानता, (३) निरन्तर नामस्मरण और (४) 'भगवान् अवश्य मिलेंगे' इस बात में पूर्ण विश्वास। जहाँ इसमें सन्देह हुआ कि सब गया। इन चार बातों में जब तुम पास हो जाओगे तब समझ लो कि सब कुछ हो गया।

९१. सबको भगवत्स्वरूप समझकर परोपकार करना, एकांत में भजन करना और जिनमे श्रद्धा हो ऐसे किसी महात्मा का संग करना—ये बहुत लाभदायक साधन हैं।

९२. कर्म और उपासना करने पर ही कोई जिज्ञासु हो सकता है और जिज्ञासा होने पर ही ज्ञान होता है। किन्तु आज-कल तो कर्म या उपासना किये बिना ही बहुत लोग ज्ञानी बन बैठते हैं। भला, जिन्हें जिज्ञासा ही नहीं हुई वे ज्ञानी कैसे हो सकते हैं?

९३. दु:ख का हेतु देह में अहंता और स्त्री, पुत्र, एवं धन आदि में ममता है। अहंता स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों देहों में होती है। जीव इन अहंता-ममता को लेकर ही सुख पाना चाहते हैं; परन्तु ये तो दु:ख की खानि हैं।

९४. यदि तुम्हारे फोड़ा है तो इसकी चिन्ता मत करो कि हुआ क्यों। बस, इसी का उपाय करो कि वह अच्छा किस प्रकार हो। फोड़ा क्यों निकला—इसका निर्णय तो चिकित्सक करेगा। इसी प्रकार सारी शंकाओं को छोड़कर यह सोचो कि हमारा उद्धार कैसे होगा।

९५. तीन बातें सदा याद रखनी चाहिये—(१) किसी से द्रव्य लेने की इच्छा न रखना, (२) किसी की बुराई न करना और (३) संसारी मनुष्यों से राग न करना।

९६. तीन बातों का ध्यान रखो—(१) कम बोलना, (२) कम खाना और कम सोना।

९७. जो भी काम करे, नियम से करे। भगवान्‌ने भी नियम को अपना स्वरूप ही बताया है। यह नहीं करना चाहिये कि आज तो चार मालाएँ जप लीं और कल दो ही जपीं। इस प्रकार कोई नियम न रहने से सब निष्फल होगा। सब कुछ नियम से ही करना चाहिये।

९८. हमारे शास्त्रों में पापी का चिन्तन करने का निषेध है, पापी को याद करने का निषेध है, क्योंकि इससे याद करने वाले में पापी के दोष आ जाते हैं। पापी का दर्शन मत करो, पापी का स्पर्श मत करो, पापी की बात मत करो, पापी का चिन्तन मत करो। केवल धर्मात्मा का दर्शन करो, धर्मात्मा का स्पर्श करो, धर्मात्मा की बात करो और धर्मात्मा का ही चिन्तन करो।

९९. जब सत्संग, सत्‌शास्त्र, सद्विचार और वैराग्य हो तभी कुछ समझ सकते हो।

१००. जिस चीज का शौक होगा वही हमें मिलेगी। हमें

तत्त्वज्ञान क्यों नहीं मिलता, इसी लिये कि इसका हमें शौक नहीं है।

१०१. तुम्हें यदि कोई सदुपदेश दे तो यह मत देखो कि वह स्वयं भी कुछ करता है या नहीं। तुम तो उसका उपदेश सुनो और उस पर आचरण करो। देखो, हलवाई की दूकान पर तरह-तरह की मिठाइयाँ बनती हैं, परन्तु बहुत से हलवाई स्वयं मिठाईं नहीं खाते। तो भी दूसरे लोग तो उससे मोल लेकर खाते ही हैं, वे यह नहीं देखते कि इसने भी खायी है या नहीं।

१०२. जहाँ क्रोध है वहीं कलियुग है; जहाँ सत्संग है या भजन-कीर्तन है वहाँ कलियुग का क्या काम ?

१०३. हम दृढ़ संकल्प से सब कुछ कर सकते हैं। संकल्प दृढ़ होगा तो सृष्टि के उत्पत्ति और प्रलय भी किये जा सकेंगे। ईश्वरप्राप्ति भी दृढ़ संकल्प से ही हो सकती है। चार महीने कुछ किया, छः महीने कुछ—इसी से काम बिगड़ जाता है।

१०४. प्रत्येक साधक को इन नियमों का सर्वदा पालन करना चाहिये:—

(१) यथासम्भव साधु-संग करता रहे।
(२) नाम-जप, नाम-कीर्तन और भगवद्-गुणगान—ये भक्ति के मुख्य साधन हैं। इन्हें नियमपूर्वक करता रहे।
(३) सांसारिक चर्चा से बचता रहे।
(४) परनिन्दा न तो सुने, न करे।
(५) स्वयं अमानी रहकर दूसरों को मान दे।
(६) किसी का चित्त न दुखावे, यदि कोई दूसरा दुःख पहुँचावे तो स्वयं दुखी न हो तथा अपनी निन्दा सुनकर कभी क्षोभ न करे। क्रोध से यथासम्भव सर्वदा दूर रहे।

(७) प्रतिष्ठा को विष्ठा के समान त्याज्य समझे।
(८) सर्वदा सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करे।
(९) व्यवहार में कभी दिखावट न करे, सर्वदा सरल भाव रखे।
(१०) यथासम्भव ब्रह्मचर्य का पालन करे।
(११) प्रातःकाल नित्यप्रति ब्राह्ममुहूर्त्त में शय्या त्याग करे।
(१२) परिमित आहार करे। जो भोजन प्रिय हो उसे यथासम्भव कम खाय।
(१३) सोने से पहले अपने दिन भर के आचरण का निरीक्षण करे तथा भगवान् से प्रार्थना करे।

१०५. सम्भाषण के चार दोष हैं और पाँच गुण हैं—(१) हुक्म देने के समान बोलना, (२) चिल्लाकर बोलना, (३) अश्लील शब्द उच्चारण करना तथा (४) कटु भाषण करना—ये चार दोष हैं। तथा हित, मित, शान्त, मधुर और प्रिय भाषण करना—ये पाँच गुण हैं।

संसार में चार बातें दुर्लभ हैं—(१) देने की शक्ति, (२) प्रिय भाषण, (३) सहन-शक्ति और (४) निरपेक्षता।

१०६. श्रद्धा, तत्परता और जितेन्द्रियता—इन तीन के बिना ज्ञान या भक्ति कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकते।

१०७. अधिक सोना, अधिक बोलना, अधिक खाना—ये तीन बातें प्रायः संसारी पुरुषों में ही होती हैं। यदि इन तीनों को छोड़ दिया जाय तो स्वयं ही सत्त्वगुण आ जायगा।

१०८. नेत्र, वाणी और हाथ की चंचलता रुकने से स्वतः ही मन की चंचलता रुक जाती है।

१०९. झूठ, निन्दा, चुगली और कठोरता—ये वाणी के

पाप हैं। जब सत्य, मृदु, परिमित और सरस भाषण होने लगेगा तो ये वाणी के पाप स्वयं ही दूर हो जायँगे।

११०. निष्काम कर्म से तीन बातें होती हैं—अन्तःकरण की शुद्धि, भगवत्प्राप्ति और तत्त्वज्ञान।

१११. इन चार बातों से शत्रु भी मित्र हो जाते हैं:—

(१) जो क्रोध करे उस पर क्रोध न करे।
(२) जो अपने से न बोले उससे स्वयं बोले।
(३) वाद-विवाद होने लगे तो चुप रहे।
(४) किसी का अपमान या तिरस्कार न करे।

११२. कर्म का त्याग त्याग नहीं अपितु कर्मफल का त्याग ही वास्तविक त्याग है।

११३. सत्कर्म और सच्चिन्तन से अपना और संसार का लाभ है तथा असत्कर्म और असच्चिन्तन से अपनी और संसार की हानि है।

११४. साधक को स्त्री, धन और नास्तिक-सम्बन्धी चरित्रों की चर्चा नहीं करनी चाहिये।

११५. स्त्री और रजोगुणी पुरुषों के सङ्ग से भी अधिक विघ्नकारक नास्तिकों का संग है।

११६. भक्त और अभक्त दोनों ही भोजन करते हैं, किन्तु भक्त तो शरीररक्षाबुद्धि से भोजन करता है और अभक्त स्वाद के लिये खाता है।

११७. इन बारह नियमों का पालन करनेवाला पुरुष धर्मात्मा बन सकता है—

(१) सत्य भाषण।
(२) दम—इन्द्रियों को उनके विषयों से रोकना।

(३) शम—निरन्तर चित्त में शान्ति रखना।
(४) तप—नियमपूर्वक आश्रम-धर्म का पालन करना।
(५) शौच—बाहर-भीतर पवित्रता रखना।
(६) सन्तोष—प्रारब्धवश जो प्राप्त हो उसी में सन्तुष्ट रहना।
(७) लज्जा—अधर्माचरण में संकोच होना।
(८) क्षमा—सुख-दुःख को धैर्यपूर्वक सहना।
(९) आर्जव—सरल भाव से बर्ताव करना।
(१०) ज्ञान—प्रत्येक कार्य को विचारपूर्वक करना।
(११) दया—यथाशक्ति दीनों की सेवा करना।
(१२) ध्यान—भगवान् का भजन, स्मरण, ध्यान और कथा श्रवण आदि।

११८. प्रतिदिन सोने से पहले विचार करो कि आज हमारा कितना समय सत्वगुण में बीता और कितना रजोगुण-तमोगुण में। इसका नित्य-प्रति का हिसाब रखने से मनुष्य सत्वगुणी बन सकता है और उसमें दैवी सम्पत्ति के गुण आ जाते हैं।

११९. ध्यान, जप, सेवा, स्वाध्याय और सत्सङ्ग—ये पाँच प्रधान साधन हैं। इन्हें बराबर करते रहना चाहिये। यदि एक से चित्त हटे तो दूसरा करने लगे। इस प्रकार एक-एक करके पाँचों का अभ्यास करता रहे। यही साधक का प्रधान कर्त्तव्य है।

१२०. निष्ठा के आठ प्रकार हैं; जैसे—(१) ज्ञाननिष्ठा, (२) वैराग्यनिष्ठा, (३) सत्यनिष्ठा, (४) जपनिष्ठा, (५) दाननिष्ठा, (६) उपकारनिष्ठा, (७) भक्तिनिष्ठा और (८) ध्याननिष्ठा।

१२१. अपने से बड़ों को देखकर हर्ष करना चाहिये, समान स्थितिवालों से मैत्री करनी चाहिये, छोटों को देखकर करुणा करनी चाहिये तथा दुष्ट और पापियों के प्रति उपेक्षा का भाव रखना चाहिये।

१२२. साधन में ये आठ नियम बहुत उपयोगी हैं—

(१) दिखावट न होनी चाहिये।

(२) ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये।

(३) सर्वदा ब्राह्ममुहूर्त्त में उठो। भजन के लिये यह सबसे अच्छा समय है।

(४) मिताहार का पूरा ध्यान रखो।

(५) जो भोजन चित्त को अधिक प्रिय हो वह कम करो।

(६) क्रोध से सर्वदा बचो, चित्त को क्षुब्ध न होने दो।

(७) जप, ध्यान, पाठ ये सब नियत समय और नियत संख्या में करो।

(८) सोने से पूर्व इस बात का निरीक्षण करो कि आज का समय किस-किस प्रकार किस-किस काम में लगा है।

१२३. सबसे बड़ी चीज है चाह अर्थात् तीव्र लगन। चाह से ही सिद्धि होती है और इसी से साक्षात्कार होता है।

१२४. साधन के दो भेद हैं—(१) क्रमसाधन और (२) मुख्य साधन। इनमें से क्रम साधन के अनुसार तो पहले कर्मकाण्ड का आचरण करना चाहिये। उसके द्वारा मल की निवृत्ति होने पर उपासना में प्रवृत्ति होती है। उपासना से विक्षेप का नाश होने पर जिज्ञासा होती है और फिर विचार के द्वारा ज्ञान होने पर आवरण भङ्ग होता है। यह तो हुआ क्रमसाधन। मुख्य साधन तो केवल विचार ही है, जो प्रायः सत्सङ्ग से ही प्राप्त होता है।

१२५. सत्पुरुषों की वाणी में चार गुण होते हैं—सत्य, परिमितता, मृदुता और सरसता। जब ये चार बातें आ जाती हैं तो वाणी शुद्ध हो जाती है तथा कठोरता, निन्दा, चुगली और झूठ जो वाणी के पाप हैं, नष्ट हो जाते हैं।

१२६. राग-द्वेष होता है कार्य पर दृष्टि होने से, कारणदृष्टि होने से राग-द्वेष नहीं होता; क्योंकि कारण तो शुद्ध सत्त्वमय है, और कार्य केवल मायामात्र है। अतः सर्वदा कारणदृष्टि रखो।

१२७. जो कुछ कार्य किया जाय उसमें भगवत्सेवा का भाव रखना चाहिये।

१२८. शास्त्र और गुरु की आज्ञा पालन करने से तथा नियमनिष्ठा से साधन में कोई विघ्न नहीं हो सकता। इनमें भी शास्त्राज्ञा की अपेक्षा गुरु की आज्ञा श्रेष्ठ है।

१२९. ईश्वर से प्रेम होना—यही 'विधि' है और जगत् से प्रेम न होना—यही 'निषेध' है।

१३०. काम्य कर्म के त्याग को संन्यास कहते हैं। जिस कर्म के द्वारा लोक या परलोक के सुख, अष्ट-सिद्धियों, नव-निधियों अथवा ब्रह्मलोक प्राप्त होने की भी आशा हो वह काम्य-कर्म ही है। इसी प्रकार कर्म का त्याग, त्याग नहीं है, अपितु कर्मफल का त्याग ही त्याग है।

१३१. पश्चात्ताप करने से पाप नष्ट हो जाता है और पाप नष्ट हो जाने पर चित्त ऐसा शुद्ध हो जाता है कि उससे भगवान् का साक्षात्कार किया जा सकता है।

१३२. मन, वाणी और शरीर तीनों की एकता होने पर ही संकल्पसिद्धि होती है। मन में जिसका संकल्प हो वही बात वाणी से कही जाय और वही कर्म शरीर से किया जाय तो वह संकल्प किसी प्रकार असफल नहीं हो सकता। अन्त तक दृढ़ बना रहता है।

१३३. क्रोध को वश में करने के साधन हैं प्रतिज्ञा और विचार। जब क्रोध का वेग आवे तो उसे सहन करके रोकने का

प्रयत्न करो। यदि कभी क्रोध करना आवश्यक जान पड़े तो इस प्रकार करो, जिससे हृदय में जलन न हो। यदि किसी बच्चे के एक चपत लगाने से काम चल सकता हो, तो चार चपतें लगाने की क्या जरूरत है। यह तो हुई विचार की बात। दूसरा साधन है क्रोध न करने की प्रतिज्ञा। प्रतिज्ञा के साथ ही प्रायश्चित्त का नियम भी कर लेना चाहिये। जब प्रमादवश प्रतिज्ञा भंग होजाय, तब प्रायश्चित्त करके पुनः क्रोध न करने की प्रतिज्ञा करे। इस प्रकार यह प्रतिज्ञा ही एक दिन पार लगा देगी। बिना प्रतिज्ञा किये किसी भी नियम का पूर्णतया निर्वाह नहीं हो सकता। जो आदमी प्रतिज्ञा नहीं करता वह अपने लिये झूठ न बोलने पर भी दूसरे के अनुरोध से उसकी प्रसन्नता के लिये झूठी गवाही दे देगा। परन्तु जो असत्य भाषण न करने की प्रतिज्ञा कर लेगा वह कभी मिथ्याभाषण नहीं करेगा। इसी प्रकार क्रोध से भी प्रतिज्ञा और प्रायश्चित्त के द्वारा ही छुटकारा मिल सकता है।

१३४. ये सात बातें सभी को धारण करनी चाहिये :—

(१) तृष्णा का सर्वथा अभाव।

(२) स्वधर्मपालन के लिये कष्ट सहना।

(३) शीत-उष्ण एवं सुख-दुःखादि द्वन्द्वों को सहना।

(४) वेद-शास्त्रों का अध्ययन एवं भगवान् के नाम और गुणों का कीर्तन करना।

(५) मन को वश में रखना।

(६) इन्द्रियों को अपने अधीन रखना।

(७) शरीर और इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण की सरलता।

१३५. चित्त में कोई चिन्तन न हो—इसी का नाम मौन है।

१३६. भोजन, स्त्री और धन-इन तीन की लिप्सा त्याग देने से सब कुछ हो सकता है।

१३७. पाँच बातें सर्वदा याद रखनी चाहिये :—

(१) सहन करना ।

(२) निरभिमानता ।

(३) धार्मिक पुस्तको का स्वाध्याय ।

(४) पदार्थ कितना ही मिले, किन्तु उसे परिमित रूप से खाना ।

(५) समय व्यर्थ न खोना ।

१३८. मन पर अधिकार प्राप्त करने के लिये ये पाँच बातें बहुत उपयोगी है :—

(१) मनोराज्य का त्याग ।

(२) मौन अथवा मितभाषण ।

(३) स्त्री-सङ्ग का त्याग ।

(४) एकान्त सेवन ।

(५) धार्मिक पुस्तकों का पाठ ।

१३९. लौकिक और वैदिक धर्मों का त्याग साधन-अवस्था में तो पतन का कारण है, किन्तु सिद्ध के लिये स्वाभाविक है ।

१४०. अपमान और निन्दा सहन करने से तप बढ़ता है । सेवक की सेवा करने से सेव्य का तप क्षीण होता है । अतः सेवा करने से सेवक का ही लाभ होता है, सेव्य का नहीं । इसलिये जो कोई सेवा करता है वह अपने लाभ के लिये ही करता है ।

१४१. सात जगह मौन रहना चाहिये ।

(१) भजन में, (२) भोजन करते समय, (३) शौच में, (४) लघु-शंका करते हुए, (५) स्नान के समय, (६) यज्ञ या हवन करते हुए और (७) मार्ग में ।

त्यागने योग्य

१. इन पाँच बातों का त्याग ज्ञानी और भक्त सभी साधकों को करना चाहिये:—

(१) व्यर्थ चिन्तन।
(२) व्यर्थ भाषण।
(३) व्यर्थ दर्शन।
(४) व्यर्थ श्रवण।
(५) व्यर्थ भ्रमण।

(१) भगवान् के नामस्मरण, भगवल्लीलाओं के स्मरण और भगवत्स्वरूप के स्मरण से व्यर्थ चिन्तन दूर होता है।

(२) भगवद्गुणानुवाद और भगवन्नामकीर्तन से व्यर्थ भाषण निवृत्त होता है।

(३) भगवन्मूर्ति, महात्मा और गुरुदेव के दर्शन करने से व्यर्थ दर्शन दूर होता है।

(४) भगवत्कथा-श्रवण से व्यर्थ श्रवण की निवृत्ति होती है।

(५) भगवत्सेवा और भक्तजनों की सेवा करने से व्यर्थ भ्रमण निवृत्त होता है।

२. इन पाँच बातों से प्रेम में कमी आ जाती है—

(१) बहुत ग्रन्थ पढ़ना।
(२) बहिर्मुख पुरुषों की बनायी पुस्तकें पढ़ना।
(३) बहिर्मुख पुरुषों का संग करना।
(४) किसी भी व्यक्ति में अतिशय आसक्त होना।
(५) उपदेशक बनना।

३. काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर और मद सर्वथा त्याज्य है, इनकी निवृत्ति के उपाय इस प्रकार है—काम उपासना से, क्रोध सत्सङ्ग से, मोह एकान्तवास से, लोभ त्याग से, मत्सर किये हुए कर्म को ईश्वरार्पण करने से और मद भिक्षावृत्ति से निवृत्त होता है।

४. जो बाह्य त्याग अभिमानपूर्वक किया जाता है वही 'दम्भ' कहा जा सकता है। निरभिमान रहकर किया हुआ बाह्य त्याग तो साधन रूप है। दम्भ बहुत दूर तक चलता है। इसकी गति अच्छे-अच्छे महात्माओं को भी नहीं जान पड़ती। अतः इससे बहुत सावधान रहना चाहिये।

५. दूसरे के अवगुणों को देखना, सुनना, कहना या चिन्तन करना—यही द्वेष का कारण है तथा इसी से क्रोध भी आता है, अतः इसका त्याग करना चाहिये। इसका प्रधान साधन है—परचर्चा का त्याग। हमें दूसरों के गुण और दोष दोनों पर ही दृष्टि नहीं देनी चाहिये। ये दोनों माया हैं, अतः इन्हें देखना ही दोष है और इनसे उदासीन रहना ही गुण है। श्री गोसाईं जी कहते हैं—

'सुनहु तात मायाकृत, गुण अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखियहिं, देखिय सो अविवेक॥'

६. काम से तृष्णा हुई है, तृष्णा को ही लोभ कहते हैं और लोभ से ही इच्छा होती है तथा इच्छा में विघ्न पड़ने पर ही क्रोध होता है। अतः निरिच्छ व्यक्ति ही अक्रोधी हो सकता है।

७. वाणी, नेत्र, हाथ और पैरों की चञ्चलता मूर्खता का लक्षण है। अतः इन चारों प्रकार की चञ्चलताओं का त्याग करो। इनमें से एक का होना भी मूर्खता का चिह्न है, जिसमें चारों हों वह तो महामूर्ख है। संक्षेप में इनका विवरण इस प्रकार है:—

(१) वाक्चाञ्चल्य—जोर से बोलना, अधिक बोलना अथवा बिना प्रयोजन बोलना।
(२) नेत्रचाञ्चल्य—इधर-उधर या ऊपर-नीचे देखना।
(३) हस्तचाञ्चल्य-तिनका तोड़ना या पृथ्वी पर लिखना।
(४) पादचाञ्चल्य—पैर हिलाना अथवा बेढंगे ढङ्ग से चलना।

८. साधन के प्रधानतया छः विघ्न हैं—(१) अति भाषण, (२) अति परिश्रम, (३) अति भोजन, (४) संसारी नियमों में बँधना, (५) दुष्टों का सङ्ग और (६) लोभ। अधर्म से कमाई करना भी लोभ के ही अन्तर्गत है।

९. किसी की हानि करानी हो तो उसे क्रुद्ध करा दो। क्रोध से तप नष्ट हो जाता है।

१०. अपने कर्म को छोड़कर दूसरे के कर्म में लग जाना भी प्रमाद है। यह रजोगुण से होता है। अतः रजोगुणी से तो तमोगुणी ही अच्छा है। यह तो मूर्ख होता है, अतः सात्विक पुरुष पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। रजोगुणी के सङ्ग से वृत्ति खराब हो जाती है। अतः उसका संग सर्वथा त्याज्य है।

११. अनात्मा का चिन्तन करना अथवा दूसरों के गुण-दोषों का विचार करना या दूसरों की समालोचना करना ही राग-द्वेष है। जिस विषय का चिन्तन होता है वैसा ही मनुष्य बन जाता है। अतः किसी की निन्दा या पाप का चिन्तन नहीं करना चाहिये।

१२. काम, क्रोध, लोभ, मोह—ये जीव के प्रधान शत्रु हैं। अतः इनसे सर्वदा बचना चाहिये। ये ज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदि सभी को नष्ट कर देते हैं। कहा भी है—

काम बिगाड़े भक्ति को, ज्ञान बिगाड़े क्रोध ।
लोभ विराग बिगाड़हि, मोह बिगाड़े बोध ॥

१३. अधिक सोना, अधिक बोलना और अधिक खाना— ये तीन बातें अधिकतर संसारी पुरुषों में होती हैं। यदि ये तीन बातें छोड़ दी जायँ तथा और कोई साधन न भी किया जाय तो भी सत्त्वगुण आ जायगा। इनके अथवा इन छः बातों के त्यागने से भी सत्त्वगुण की वृद्धि हो सकती है—(१) विशेष भोगों में लगना। (२) सांसारिक पुरुषों से प्रेम करना। (३) बहुत बोलना। (४) बहुत खाना। (५) बहुत सोना। (६) आपस में हँसी-मजाक करना।

१४. राग से क्रोध होता है; अतः राग को निवृत्त करना चाहिये। जिस प्रकार धुएँ से आग, दर्पण के मैल से प्रतिबिम्ब और झिल्ली से गर्भ ढका रहता है वैसे ही राग से क्रोध आच्छादित है। यहाँ ये तीन दृष्टान्त, तीन प्रकार की प्रकृति के पुरुषों की दृष्टि से दिये गये हैं। तमोगुणी पुरुष का क्रोध धूएँ से छिपी आग के समान है। जैसे आग फूँक मारने से ही प्रज्वलित हो जाती है वैसे ही तमोगुणी पुरुष का क्रोध सहज ही में प्रकट हो जाता है। रजोगुणी पुरुष का क्रोध मल से आच्छादित दर्पण के प्रतिबिम्ब के समान है; इसके प्रकट होने के लिये थोड़ा प्रयत्न करना पड़ता है। सत्वगुणी पुरुष का क्रोध झिल्ली में छिपे गर्भ की तरह है, जो एकाएक प्रकट नहीं होता, प्रायः अन्तःकरण के भीतर ही रहता है।

१५. राग तो केवल भगवान् या आत्मा में ही होना चाहिये, और कहीं नहीं।

१६. आज-कल के ज्ञानी और भक्त अभ्यास या भजन की आवश्यकता ही नहीं समझते, किन्तु घर के धन्धे को छोड़ नहीं

पाते। ज्ञानी उसे अन्तःकरण का धर्म बताकर और भक्त भगवान् का काम कहकर करते रहते है। इसी प्रकार कर्मकाण्डी अपनी कर्मठता के अभिमान में डूबे रहते हैं। इसी से इन तीनों का पतन होता है।

१७. जिनमें ये दस दोष हों उन्हें पापी समझना चाहिये—(१) चोरी, (२) हिंसा, (३) व्यभिचार, (४) झूठ, (५) चुगली, (६) परधन की इच्छा, (७) पराया अनिष्ट-चिंतन, (८) अश्लील भाषण, (९) असम्बद्ध प्रलाप और (१०) देहाभिमान।

१८. निन्दा करने वाले की अपेक्षा निन्दा सुनने वाला अधिक पापी होता है। थोड़े दिन भी निन्दा सुनता रहे तो अन्तःकरण मलिन हो जाता है।

१९. निन्दक, हिंसक और शठ–इन तीन* के प्रति क्रोध न करे।

२०. ये छः बातें साधक का पतन कर देने वाली हैं—

(१) गुरु को मनुष्य समझना।

(२) भगवान् के विग्रह में पाषाणबुद्धि करना।

(३) मन्त्र को केवल शब्द समझना।

(४) चरणोदक को सामान्य जल जानना।

(५) महाप्रसाद को केवल अन्न मानना।

(६) साधु की जाति पर दृष्टि रखना, उसका प्रेम न देखना।

२१. जब तक विषयोंमें भोग-बुद्धि है तब तक सुख नहीं। संसार में सद्बुद्धि होने से ही संसार में सुख जान पड़ता है। जब उपास्य देव में सद्बुद्धि हो जाती है तो संसार में सुख नहीं रहता। संशय बुद्धिवाले को तो न संसारमें सुख है और न उपास्य-

---

* अर्थात् जो अपनी निन्दा, अपनी हिंसा और अपने प्रति शठता करने वाले हों।

देव में। जब तक विषयों से पूर्ण विरक्ति नहीं होती तब तक उपास्यदेव में पूर्ण आसक्ति भी नहीं होती। रामायण का आशय है कि पूर्णतया रामाकार वृत्ति हो जाय और भागवत का आशय है कि सर्वथा कृष्णाकार वृत्ति हो जाय। तथापि जो थोड़ा भी साधन में लग गया है उसे संशयात्मा नहीं कह सकते। संशयात्मा तो उस उद्दण्ड का ही नाम है जिसका कहीं भी विश्वास नहीं है।

२२. इच्छा दो प्रकार की होती है—काम्यमान और भुज्यमान। वस्तु सामने आने पर जो भोगने की इच्छा होती है उसे भुज्यमान इच्छा कहते हैं, और वस्तु सामने न होने पर जो सुन-सुनाकर ही भोगने की इच्छा होती है उसे काम्यमान इच्छा कहते हैं। इन दोनों ही प्रकार की इच्छाओं को त्याग देना चाहिये। यदि मन में कोई इच्छा रखकर भजन किया जायगा तो इससे इच्छा ही की पुष्टि होगी। इच्छा की निवृत्ति तो इष्टाकार वृत्ति होने से ही होती है।

२३. विष और विषय दोनों ही त्याज्य हैं। इनमें विष के तो खाने से मृत्यु होती है किन्तु विषय के तो स्मरण से ही पतन हो जाता है।

२४. अन्तःकरण की शीतलता काम, क्रोध, लोभ, मोह से दब जाती है और एक आग-सी उत्पन्न होती है, जो पहले शरीर को गर्म करती है और फिर वाणी को। यह आग ही क्रोध है। शास्त्र में काम और क्रोध इन दोनों को अग्नि ही कहा है।

२५. पापी पुरुष चाहे जप करे अथवा ध्यान, भले ही ज्ञानी हो जाय, तो भी पतित हो जायगा। पापी का उद्धार किसी प्रकार नहीं हो सकता; अतः पापात्मा से सदा दूर रहो।

२६. माँगने से पाँच चीजें चली जाती हैं—ह्री (लज्जा),

श्री (लक्ष्मी), धी (बुद्धि) तथा ज्ञान और सम्मान। अतः कभी कोई चीज माँगो मत।

२७. मन के तीन दोष मुख्य है, इनसे छूटने का यथासाध्य प्रयत्न करना चाहिये। वे हैं—तृष्णा, द्वेष और क्रोध। तरह-तरह के तुच्छ विषयों की आशा रखना तृष्णा है। दूसरे के दोषों पर दृष्टि रखने से द्वेष बढ़ता है और अपनी किसी इच्छा में व्याघात होने से क्रोध होता हैं। अतः आशा, दोष-दृष्टि और इच्छाओं के त्याग से इनका त्याग भी हो सकता है।

२८. परनिन्दा, मिथ्याभाषण और कटुभाषण—ये वाणी के दोष हैं; यथासम्भव इन्हें दूर करने का प्रयत्न करो। चोरी, व्यभिचार और हिंसा—ये शरीर के दोष हैं, इनसे भी सर्वदा बचते रहो।

२९. संसार में मुख्य रोग है राग और वह दूर भी राग ही होता है। सांसारिक वस्तुओं में राग होना ही मोह है। इसकी निवृत्ति का साधन है भगवत्प्रेम। धर्म या कर्मकाण्ड में जो राग होता है उसे श्रद्धा कहते हैं और भगवान् में राग होना ही प्रेम है। जब तक भगवान् से अतिरिक्त कोई और वस्तु दिखायी देती है तब तक पूर्ण प्रेम नहीं कहा जा जकता। जब केवल भगवान् ही रह जायँ तभी पूर्ण प्रेम समझना चाहिये।

३०. चित्त छः जगह फँस जाता है—(१) भोजन,(२) वस्त्र, (३) धन और (४) स्त्री में मुख्य रूप से तथा (५) स्थान और (६) शास्त्र में गौण रूप से। जो चित्त इन छहों स्थान में न फँसे उस पर विश्वास किया जा सकता है।

ब्रह्मचर्य

१. ब्रह्मचर्यमय जीवन परमपुरुषार्थमय जीवन है।

२. जो भक्त ब्रह्मचर्य धारण कर शेष रात्रि में ध्यान-भजन का अभ्यास करता है, उसे प्रातःकाल स्नान करने की आवश्यकता नहीं है।

३. भोग-बुद्धि को नष्ट कर देना, उसे उखाड़ कर फेंक देना ही उत्तम ब्रह्मचर्य है। वासनाओं का मुख्य कारण भोग-बुद्धि ही है। अतः ब्रह्मचारियों को सावधान होकर उसका निराकरण करना चाहिये। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना-अपना ब्रह्मचर्य है। अच्छी बातें कहना वाणी का ब्रह्मचर्य है, अच्छी बातें सुनना कानों का ब्रह्मचर्य है और अच्छी चीजें देखना आँखों का ब्रह्मचर्य है। इन सब इन्द्रियों को वश में रखकर ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। इन्द्रियों को स्वच्छन्द रखना ठीक नहीं, इसीलिये श्री सूरदास जी ने अपनी आँखों को फोड़ लिया था।

४. आजीवन ब्रह्मचर्य-पालन करने की इच्छावाले व्यक्ति को यह दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि मैं जीवन-पर्यन्त किसी भी प्रकार ब्रह्मचर्य खंडन नहीं करूँगा तथा प्राणपण से इन नियमों का पालन करूँगा :—

(१) अष्ट प्रकार के मैथुनों का सर्वथा त्याग।

(२) स्त्री का सङ्कल्प ही न करना।

(३) स्त्री या स्त्री के चित्र का, जहाँ तक बने, दर्शन ही न करना।

(४) यदि एकबार भूल से दृष्टि चली जाय तो उधर से

तत्काल हटा लेना और दूसरी बार भूलकर भी उधर न देखना।

(५) स्त्रियों को भगवती-स्वरूप समझना।

(६) स्त्री-संगियों का संग न करना।

(७) एकान्त में किसी भी स्त्री से भाषण न करना।

(८) किसी भी जीव को मैथुन करते न देखना।

५. वीर्य, प्राण और मन इन तीनों का परस्पर बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें से एक के स्थिर होने से तीनों स्थिर हो जाते हैं। इसी से शास्त्रों में ब्रह्मचर्य-पालन पर बहुत जोर दिया गया है।

६. ब्रह्मचारी को इन इक्कीस नियमों का यथासम्भव सर्वदा पालन करना चाहिये—

(१) कब्ज कभी मत होने दो। यदि शौच की हाजत न हो तो थोड़ा-सा जल पीकर सूर्यस्वर चला दो और बायें स्वर को बन्द कर दो।

(२) मैदा आदि गरिष्ठ वस्तुएँ तथा चाय आदि कब्ज करते हैं, अतः इनसे बचो।

(३) अत्यन्त आवश्यक कार्यवश रोगी या सेवक आदि के सिवा और किसी व्यक्ति को कभी स्पर्श न करो।

(४) कभी किसी को गाली मत दो।

(५) बाल, कपड़े और बूट आदि का शौक कभी मत करो; क्योंकि ऐसा करने से शरीर, मन, बुद्धि किसी की भी उन्नति नहीं होती तथा कामवासना की प्रवृत्ति बढ़ती है।

(६) जिस चीज से तुम्हारे स्वास्थ्य और बल की वृद्धि हो उसी का सेवन करो। रसनेन्द्रिय की तृप्ति के लिये कोई चीज मत खाओ-पियो।

(७) इत्र-फुलेल आदि सुगन्धित पदार्थों का सेवन केवल ओषधि के लिये कर सकते हो, शौक के लिये नहीं।

(८) प्रतिदिन नियमानुसार व्यायाम करो। इससे अवरुद्ध भोजन भी पच जाता है।

(९) प्रतिदिन दातौन करनी ही चाहिये। नहीं तो, दाँत खराब हो जाते हैं और उनका पाचन-शक्ति पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

(१०) त्वचा-सम्बन्धी रोगों से बचने और शरीर की गर्मी को शान्त रखने के लिये प्रतिदिन स्नान करना बहुत आवश्यक है।

(११) अपने विचारों को दिनभर और रात्रिभर पवित्र रखने के लिये प्रातः सायं दोनों समय सन्ध्योपासन करना परम आवश्यक है।

(१२) रोगाणुओं को नष्ट करने के लिये जल, वायु और अन्न की शुद्धि के लिये तथा परोपकार की भावना को स्थिर रखने के लिये हवन करना भी अत्यन्त आवश्यक है।

(१३) मांस और शराब का सेवन तो विपत्ति के समय भी नहीं करना चाहिये। रात को रसदार शाक और दही खाना अच्छा नहीं। ब्रह्मचर्य पालन के लिये इमली आदि खटाई, तेल, लाल मिर्च, प्याज, लहसुन और गर्म मसालों का त्याग भी अत्यन्त आवश्यक है।

(१४) दोपहर के भोजन के पश्चात् पन्द्रह मिनट विश्राम करना चाहिये। तथा सायंकाल के भोजन के पश्चात् आधा घण्टा घूमना चाहिये।

(१५) दिन में कभी नहीं सोना चाहिये। किन्तु यदि रात को अधिक जागना पड़े तो जितनी देर रात में निद्रा भंग हो उससे आधा दिन में सो सकते हो।

(१६) सोने से पहले लघुशंका से निवृत्त हो लेना चाहिये।

(१७) अधिकतर दायीं करवट से ही सोना चाहिये। चित्त होकर कभी न सोओ। इसके लिये नाभि के नीचे से कपड़ा बाँधकर पीठ की ओर उसमें गाँठ लगा दो। गाँठ कम से कम तीन इञ्च मोटी होनी चाहिये।

(१८) यदि रात्रि में निद्रा भंग हो जाय तो जब तक पुनः गाढ़ी निद्रा न आवे तब तक किसी अच्छे कार्य में लग जाओ। किन्तु यदि उठने के समय से एक घण्टा पहले खुले तो फिर मत सोओ।

(१९) उपन्यास आदि अश्लील पुस्तकें कभी मत पढ़ो।

(२०) ताश, चौपड़ आदि भी कभी नहीं खेलना चाहिये। इनसे कपट करने की बुद्धि बढ़ती है। इसके स्थान पर अपने मकान के आस-पास की फुलवाड़ी को साफ करने का काम कर सकते हो।

(२१) नाटक-सिनेमा आदि कभी मत जाओ। इनमें भाग लेना तो और भी अधिक हानिकारक है।

दैवी सम्पत्ति

प्र०—महाराज जी, मन कैसे रुके ?

उ०—नियम-पालन से। यदि हम नियम पर दृढ़ रहें तो मन हमारा क्या कर सकता है। नियम को परमात्मा देखता है। हम लोग नियम पर दृढ़ नहीं रहते, इसी से हमारे देश की दुर्दशा हो गयी। सन्ध्यावन्दन तक का नियम जाता रहा। भजन करने के लिये नियम की बड़ी आवश्यकता है।

प्र०—महाराज जी, क्रोध कैसे दूर हो ?

उ०—कोशिश करो। खुरजा में एक भक्त केदारनाथ थे। एक दिन कारणवश उन्हें अपने नौकर पर क्रोध आ गया। किन्तु पीछे वे बहुत पछताये और उन्होंने रात को ही जाकर उससे क्षमा माँगी। एक दिन एक साधु उनके यहाँ आये और उनसे भिक्षा को कहा। भक्तजी ने आसन बिछाकर उन्हें बड़े प्रेम से भिक्षा करने के लिये बैठाया। जब वे भिक्षा कर रहे थे तो, उनके मना करने पर भी, भक्तजी ने प्रेमवश उन्हें एक चम्मच खीर और परोस दी। इस पर साधु ने उनके मुँह पर एक तमाचा जड़ दिया। तथापि भक्तजी शान्त रहे और दूसरे दिन स्वयं उनके पास जाकर कहा कि 'आज भी मेरे ही यहाँ भिक्षा करने की कृपा करें।'

प्र०—यदि कोई अपने ऊपर अत्याचार करे तो ?

उ०—अपने ऊपर अत्याचार होने पर भी सहन करे तभी तो सहन-शक्ति समझनी चाहिये। अन्तर्यामी की प्रेरणा के बिना तो कुछ भी नहीं होता। इसलिये यदि कोई हमारा अपमान करता तो उसे भी अन्तर्यामी की प्रेरणा ही समझना चाहिये। केवल

चुप हो जाना ही सहनशीलता नहीं है, बल्कि हृदय में भी प्रसन्नता रहनी चाहिये। जो अत्यन्त सहनशील है वही ज्ञानी है। सबकी गाली और निन्दा सहन करे और ऐसा समझे कि फूल बरस रहे हैं। दो महात्मा थे; वे कहीं जा रहे थे। रास्ते में एक बाग पड़ा, उसके आम किसी ने तोड़ लिये थे। माली ने जब उन्हें बाग के आगे से जाते देखा तो उन्हीं को चोर समझा। अतः उसने दोनों को खूब पीटा। महात्मा शान्ति-पूर्वक सब सहते रहे। यही सच्ची साधुता है।

प्र०—राग-द्वेष की वृद्धि कैसे होती है और इनकी निःशेष निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है ?

उ०—यदि संक्षेप में कहा जाय तो राग-द्वेष की वृद्धि अज्ञान या मूर्खता से ही होती है। अविचार ही इन दोषों का मूल है। उसके साथ राग-द्वेष-युक्त व्यक्तियों का सङ्ग अथवा राग-द्वेषपूर्ण साहित्य का अध्ययन हो तो इनकी उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगती है। जिस व्यक्ति के प्रति राग हो उसकी प्रशंसा और जिससे द्वेष हो उसकी निन्दा करने या सुनने से भी यह बढ़ते रहते हैं।

इनकी निवृत्ति विचार से ही हो सकती है। इसके सिवा निम्नलिखित साधनों से भी इनमें शिथिलता आ जाती है—

(१) अपने प्रति राग-द्वेष रखनेवाले व्यक्तियों से उदासीन वृत्ति रखी जाय।

(२) वैराग्यवान् पुरुषों का सङ्ग हो तथा विरक्तों के प्रति हृदय में आदर हो।

(३) हृदय में यथासम्भव दैवी सम्पत्ति के भावों की वृद्धि की जाय।

(४) पुण्यवानों के प्रति मैत्री, पापियों के प्रति उपेक्षा, सुखी लोगों को देखकर प्रसन्नता और दुखियों के प्रति करुणा का भाव रखा जाय।

(५) 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्।'* इस श्लोक के अर्थ पर दृष्टि रखी जाय।

(६) राग-द्वेष रहित पुरुषों का सङ्ग और राग-द्वेष के भावों से शून्य ग्रन्थों का स्वाध्याय किया जाय।

(७) राग-द्वेषरहित होना ही मेरा धर्म है—ऐसा दृढ़ संकल्प रखा जाय।

(८) अपनी आवश्यकताओं को यथासम्भव कम किया जाय।

(९) 'असंगोऽहम्' ऐसी धारणा रखी जाय।

(१०) भगवद्भक्ति के द्वारा हृदय को भर दिया जाय, जिससे संसार या सांसारिक पुरुषो का चिन्तन करने के लिये अवकाश ही न रहे।

राग-द्वेष की निःशेष निवृत्ति तो ज्ञाननिष्ठा से ही होती है। जिनकी स्थिति पाँचवीं, छठी या सातवीं भूमिका में है उनके हृदय में राग-द्वेष का सर्वथा अभाव हो जाता है। चतुर्थ भूमिकावाले के लिये भी ये आभासमात्र या केवल प्रातीतिक रहते हैं। उसके लिये ये दुःख के कारण नहीं होते।

इसके सिवा दूसरी बात यह है कि राग-द्वेष प्रायः कार्य पर दृष्टि रखने से ही होते हैं। यदि कारणदृष्टि रहे तो राग-द्वेष

* सब लोग सुखी हों, सब नीरोग हो, सब शुभ का दर्शन करें और किसी को भी दुःख प्राप्त न हो।

नहीं हो सकते; क्योंकि सबका मूल कारण तो एकमात्र शुद्ध सत्त्वमय भगवान् ही है। यदि उस पर दृष्टि रहेगी तो राग-द्वेष का निमित्त ही क्या रहेगा ?

प्र०—दोष अपने प्रयत्न से दूर होंगे या भगवत्कृपा से ?

उ०—सत्य अच्छा है और झूठ बुरा है—यह बात सभी जानते हैं; फिर भी ऐसी धारणा नहीं बनती। इसका क्या कारण है ? बात यह है कि पहले संकल्प होता है, फिर लगन लगती है। और जिस कार्य की लगन लग जाती है वह पूरा हो ही जाता है। यह लगन लगना ही भगवत्कृपा है। अतः तुम दोषों को निर्मूल करने का संकल्प बनाये रखो, फिर भगवत्कृपा हो ही जायगी।

प्र०—सत्य क्या है ?

उ०—सत्य भगवान् ही है। इस सत्यरूप भगवान् की प्राप्ति सत्यरूप साधन से ही होती है। नित्य ही सत्य है और निःस्वार्थता ही नित्यता एवं अहिंसा है। स्वार्थ अनित्य होता है और वही हिंसा भी है। इसका साधन एक ही है। और उसी से सारी दैवी सम्पत्ति आ जाती है। वह यह कि ऐसा भाषण हो जिससे किसी का चित्त न दुखे। बोलते-बोलते सारे अवगुण कह जाय और उनसे छूटने का उपदेश भी करदे, किन्तु ऐसी शैली से कहे कि उससे किसी के चित्त को दुःख न हो।

प्र०—निन्दा-स्तुति को सहन करने का प्रधान साधन क्या है ?

उ०—जब किसी वस्तु में अनन्य प्रेम हो जाता है तब सारे दोष स्वयं ही दूर हो जाते हैं। उस समय निन्दा स्तुति की भी कोई परवा नहीं रहती।

प्र०—निष्काम और सकाम दोनों प्रकार के कर्म कामनापूर्वक ही होते हैं; फिर इनमें भेद क्या है ?

उ०—जो कर्म ईश्वर-प्राप्ति की कामना से किया जाता है उसे निष्काम कहते हैं और जो ऐहिक या लौकिक कामना से होता है उसे सकाम कहा जाता है। पूर्व वायु और पश्चिम वायु दोनों ही वायु हैं, परन्तु उनमे से एक बादल को पैदा करती है और दूसरी उसे काट देती है। इस प्रकार यद्यपि सकाम और निष्काम दोनों ही कर्म हैं, तो भी इनमें से एक तो कर्म को काटने वाला है और दूसरा कर्म को बढ़ाने वाला है।

× × × ×

१. ज्ञानी और भक्त दोनों में ही दैवी सम्पत्ति की आवश्यकता है। दैवी सम्पत्ति के बिना ज्ञान और कर्म दोनों ही व्यर्थ है। योगवासिष्ठ में एक ज्ञानी राक्षसी का वृत्तान्त है। वह ज्ञानी होते हुए भी बहुत से जीवों को भक्षण कर जाती थी। ऐसे ज्ञान से क्या लाभ? दैवी सम्पत्ति के बिना न ज्ञान शोभा पाता है, न भक्ति। इसीलिये श्रीगीताजी में कहा है-'दैवी सम्पद्विमोक्षाय'।

२. दैवी सम्पत्ति मुख्यतः चार बातों में आ जाती है—

(१) दया, (२) कोमलता, (३) बुरे कर्मों में लज्जा और (४) मन की चंचलता का अभाव।

१. दया का स्वरूप सबका कल्याण चाहना है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥

२. कठोर वचन या कठोर भाषण का न होना कोमलता है। इससे क्रोध का नाश होता है।

३. बुरे कर्म करने से पूर्व यदि उन्हे करने में लज्जा होगी तो वह बुरे काम करने से बचा लेगी।

४. मन, वाणी और शरीर की चंचलता दूर हुए बिना

शान्ति, समता, ज्ञान, भक्ति आदि कुछ भी नहीं हो सकते।

३. दया, सत्य, शौच और आचार—ये गुण जिसमें न हों वह तो असुर है !

४. विपत्ति में हृदय को दृढ़ रखना चाहिये; तथा धैर्य और साहस कभी नहीं खोना चाहिये।

५. भगवान् को भूलने से बढ़कर और कोई हानि नहीं है कहा भी है—

सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूढता ।
यन्मुहूर्त्तं क्षणार्द्धं वा वासुदेव न चिन्तयेत् ॥ *

६. राग और द्वेष इनमें विशेष रूप से द्वेष की निवृत्ति करनी चाहिये।

७. श्रीमद्भागवत के महात्म्य में ये दो श्लोक बहुत उपदेशप्रद हैं—

देहेऽस्थिमासरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममता विमुञ्च ।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभंगनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठ. ॥

धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम् ।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम् ॥

---

* जीव यदि एक मुहूर्त्त अथवा आधे क्षण के लिये भी भगवान् का चिन्तन न करे तो यही उसकी हानि है, यही सबसे बड़ी त्रुटि है और यही उसका अन्धापन, जड़ता अथवा मूढता है।

अस्थि, मांस और रुधिर से भरे हुए इस देह में अभिमान छोड़ दो, स्त्री-पुत्रादि की ममता का सर्वथा त्याग कर दो। यह जगत् क्षणभंगुर है--ऐसा निरन्तर विचार करो, वैराग्य के रसिक बनो और भक्तिनिष्ठ हो जाओ। निरन्तर धर्म का सेवन करो, लौकिक धर्मों को त्याग दो, साधु पुरुषों की सेवा करो और विषयों की तृष्णा त्याग दो तथा तुरन्त ही दूसरों के गुण-दोषों का चिंतन छोड़कर भगवत्-सेवा-कथा-रस का भरपेट पान करो।

८. हिंसा, परस्त्री, परधन और निन्दा--ये जिसमें नहीं है वही भगवान् को प्राप्त कर सकता है।

९. जो विद्वान् वाणी, मन, क्रोध, हिंसा, उदर और उपस्थ के वेग को सहन कर लेता है तथा जिस पर निन्दा का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वही दैवी सम्पत्तिवान् है—

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं हिंसावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् सहते यस्तु विद्वान् निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यात्॥

१०. यदि तुम सत्यवादी और ममताशून्य हो तो तुम्हारा कोई क्या बिगाड़ सकता है?

११. हमें अपने धर्म में तत्पर रहना चाहिये। संसार चाहे नित्य हो या अनित्य, धर्म नित्य है। अतः धर्म का पालन करना चाहिये। हमें जो श्रुति-स्मृति की आज्ञा है, वही करना धर्म है तथा शास्त्रविरुद्ध कर्म पाप है।

१२. जिसमें दैवी सम्पत्ति है वही भगवान् का भजन कर सकता है। बिना दैवी सम्पत्ति धारण किये भगवान् का यथार्थ भजन होना बहुत कठिन है। अतः भजन के साथ दैवी सम्पत्ति धारण करना अत्यन्त आवश्यक है। श्री भगवान् भी कहते हैं—

'महात्मानस्तु मां पार्थ दैवी प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥' *

१३. जो लोग रात-दिन पाप करते हैं, वे जिन्दे ही मरे हुए हैं।

१४. दोषों का चिन्तन करते-करते दोषदृष्टि बन जाती है। यही सबसे बड़ा दोष है। जो औरों के दोष देखते रहते हैं उनके पास नहीं बैठना चाहिये और न ऐसी पुस्तकें ही पढ़नी चाहिये। यों तो दोष और गुण दोनों ही की उपेक्षा करनी चाहिये, तथापि दोषों की तो सर्वदा उपेक्षा करें। दूसरों के दोष कहने-सुनने से बड़ी हानि होती है, सुनना-सुनाना तो केवल भगवान् के गुण ही चाहिये।

१५. याद रखो, जहाँ किसी भी प्रकार का अभिमान आता है वहीं सारे अवगुण आ जाते हैं।

१६. दोष किसी के भी देखना अच्छी बात नहीं है। केवल गुरु ही शिष्य के दोषों को देखकर उन्हें दूर कर सकता है। उत्तम गुरु तो अपने संकल्पमात्र से दोषों को दूर कर देते हैं।

१७. ऋण और अग्नि—ये दो चीजें अपने पास भूल कर भी नहीं रखनी चाहिये। ये यदि पास रहेंगे तो बढ़ते चले जायँगे। ऋण यदि इस जन्म में नहीं चुकाया जायगा तो दूसरे जन्म में चुकाना पड़ेगा। इसलिये एक पैसे का ऋण भी शेष मत रखो।

१८. एक दिन हरि बाबाजी से एक आदमी ने मुसलमानों की निन्दा की। उन्होंने पूछा, 'तुम मुसलमानों की निन्दा तो

* दैवी प्रकृति का आश्रय लेनेवाले महात्मा लोग मुझे समस्त भूतों का अविनाशी कारण जान कर अनन्य चित्त से मेरा भजन करते हैं।

करते हो, किन्तु उनमें गुण कितने हैं, यह नहीं देखते। वे पाँच-पाँच सौ मिलकर नमाज पढ़ते हैं, तुम कितने लोग मिलकर भजन करते हो ?' सचमुच हमें दूसरों के गुण ही देखने चाहिये।

१९. हमारे यहाँ कोई कितना ही बड़ा महात्मा हो उसी की लोगों से बुराई सुन लो। लोग भगवान् शङ्कराचार्य तक की निन्दा करने से नहीं चूकते। परन्तु मुसलमान अपने सामान्य फकीरों को भी मानते हैं। हमें तो दूसरों के अवगुण ही दीखते हैं, गुण दीखते ही नहीं।

२०. जहाँ व्यभिचारी पुरुष रहते हों, वह भले ही स्वर्ग हो, वहाँ नहीं रहना चाहिये।

२१. तुम जिस पर क्रोध करते हो उसका कुछ नहीं बिगाड़ते, अपना ही सर्वनाश करते हो। हाँ, यदि उसे भी क्रोध आ गया तो उसका भी बिगाड़ हो सकता है। वास्तव में प्रसन्नता ही सब कुछ है।

२२. तमोगुण और रजोगुण में सुख नहीं, सुख तो सत्त्वगुण में ही है। इसलिये सत्त्वगुण बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये। विचार कर देखा जाय तो काँच भी मिट्टी है, तथापि काँच के मकान में बैठकर देखने से बाहर-भीतर की सभी वस्तुएँ दिखायी देती हैं और मिट्टी के मकान में कुछ दिखायी नहीं देता। इसी प्रकार तीनों गुणों में से रज और तम मिट्टी रूप हैं तथा सत्त्व काँच रूप है।

२३. अर्थार्थी और इन्द्रियारामी पुरुष का सङ्ग न करना—यह दैवी सम्पत्ति की प्राप्ति का मुख्य साधन है।

२४. चित्त में जब सत्त्वगुण होता है तब उस पर सहज ही में भक्ति का रङ्ग चढ़ सकता है। कठोर चित्त तो मलिन होता है,

उस पर कोई रङ्ग नहीं चढ़ता। चित्त नामजप, सेवा और ध्यान से पिघलता है। ऐसे चित्त पर ही भक्ति का रङ्ग चढ़ सकता है। कठोर चित्त तो कर्मकाण्ड का ही अधिकारी है।

२५. सहनशील पुरुष ही क्षमावान् हो सकता है और वही सुख-दुःख को शान्ति से सहता है।

२६. नेत्रों से प्रसन्न होना उत्तम पुरुष का लक्षण है, मन्द मुसकान मध्यम पुरुषों का लक्षण है तथा अट्टहास (जोर से हँसना) अधम पुरुषों में रहता है। किन्तु मुनिजन सर्वदा शान्त रहते हैं। वे प्रायः हँसते नहीं हैं—'न हसन्ति मुनीश्वराः'।

२७. क्रोध करना हो तो क्रोध के प्रति ही करना चाहिये।

२८. कर्म में प्रेम होना श्रद्धा है, संसार में प्रेम होना मोह है, माता-पिता एवं गुरु में प्रेम होना भक्ति है तथा भगवान् से प्रेम होना शुद्ध प्रेम ही है।

२९. वाणी मनुष्य का बहुत बड़ा खजाना है। इसके दूषित होने से मन और वीर्य भी दूषित हो जाते हैं। वाणी का संयम होने पर ही ब्रह्मचर्य का पालन हो सकता है और इसी से चित्त की एकाग्रता तथा मौन का भी पालन होता है। अतः प्रत्येक साधक को अपनी वाणी पर पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये।

३०. जितना पाप वाणी दूषित होने से होता है उतना और किसी प्रकार नहीं होता। शरीर और मन से भी वाणी के बराबर पाप नहीं बन सकता। अतः वाणी के दोष से सर्वदा बचना चाहिये। मितभाषण का अभ्यास करने से वाणी का संयम हो सकता है और उससे मनुष्य का बहुत कल्याण हो सकता है।

३१. संयमशील पुरुषों को इन आठ नियमों का पालन करना चाहिये—(१) सत्पुरुषों का सङ्ग, (२) सांसारिक चर्चा न

करना, (३) किसी की निन्दा न करना, (४) अपनी निन्दा सुनकर क्षोभ न करना, (५) अमानी रहकर सबको मान देना, (६) सदाचार और सरलता के साथ समय व्यतीत करना, (७) प्रतिष्ठा से सदैव दूर रहना तथा (८) प्रतिष्ठा होने पर दुःख मानना।

३२. चित्त में चिन्तन न हो इसी का नाम मौन है। वाणी के रोक देने को ही मौन नहीं कहते। मितभाषण भी मौन है, किन्तु मुख्य मौन तो चित्त को चिन्तनशून्य कर देना ही है।

३३. तीन बातों की सभी जगह बड़ी आवश्यकता है—(१) व्यवहारशुद्धि, (२) नियमनिष्ठा और (३) प्रतिज्ञापालन। जिस सम्प्रदाय, जिस वर्ण, जिस आश्रम अथवा जिस व्यक्ति में ये तीन बातें हों वह तो ठीक है, नहीं तो पतन हो जाता है। शास्त्रविधि के ग्रहण और निषेध के त्याग का उपदेश करता है। यह भी बिना दृढ़ प्रतिज्ञा किये नहीं हो सकता। जप, नियम, ध्यान और पाठ भी प्रतिज्ञापूर्वक ही किये जा सकते हैं। अतः इन तीन में ही सारे संसार का शास्त्र आ जाता है। इसलिये इनका दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिये।

३४. एक गाँव में एक परचूनी दूकान करता था। उसके सामने ही एक हलवाई की दूकान भी थी। दोनों की दूकानें आमने-सामने थीं। इन दोनों में परचूनी तो ईमानदारी से धर्मपूर्वक सौदा बेचता था और हलवाई दूध में पानी मिलाकर बेईमानी और अधर्मपूर्वक व्यवहार करता था। थोड़े ही दिनों में हलवाई मालदार हो गया और परचूनी गरीब ही बना रहा। परचूनी इस विषय में पण्डितों से प्रश्न किया करता था कि धन कैसे होता है। इसका यह उत्तर कि 'धर्म से ही धन होता है' उसकी समझ में ही नहीं आता था; क्योंकि उसका पड़ोसी हलवाई तो अधर्म करके ही मालदार हुआ था। एक दिन एक विरक्त

महात्मा आये। उनसे भी परचूनी ने यही प्रश्न किया। महात्मा चुप हो गये और वहीं रहने लगे। कुछ दिन पीछे बोले, "तुम गङ्गा-स्नान को चलो।" वहाँ पहुँचकर महात्मा ने गङ्गा-किनारे एक गढ़ा आदमी की ऊँचाई से गहरा तैयार कराया और परचूनी से उसके भीतर खड़े होने को कहा। उसके खड़े हो जाने पर वे दूसरे आदमियों द्वारा उस गढ़े में जल डलवाने लगे। सौ-दो-सौ घड़ा जल डालने पर परचूनी की गरदन तक जल आ गया। इस पर परचूनी बोला कि अब यदि दो-चार घड़े और डलवाये तो मैं डूबकर मर जाऊँगा। महात्मा बोले, 'यदि सौ घड़ा पानी डालने से तू नहीं मरा तो अब दो-चार घड़े डलवाने से कैसे मर जायगा। देखो, इस जल की ही तरह जब तक पाप मनुष्य के कण्ठ तक रहता है तब तक पता नहीं चलता। जब आगे बढ़ता है और दम घुटने लगता है तभी उसका दुष्परिणाम जान पड़ता है। इसी प्रकार जब अधर्मोपार्जित सम्पत्ति को चोर चुरा लेते हैं, अग्नि भस्म कर देती है अथवा रोग या मुकदमेबाजी समाप्त कर देती है तभी उसका दुष्परिणाम मालूम होता है। वास्तव में तो धर्म से ही धन की रक्षा होती है।'

३५. गुण-दोष संसारी पुरुष ही देख सकता है। साधन करने वाला या सिद्ध पुरुष दोनों ही गुण-दोष नहीं देख सकते; क्योंकि साधक को तो अपने साधन से अवकाश नहीं होता और सिद्ध पुरुष को अपने इष्ट के अतिरिक्त और कुछ प्रतीत ही नहीं होता, फिर उसकी दृष्टि में गुण-दोष कहाँ से आवें ?

३६. जहाँ कहीं विवाद खड़ा होने की सम्भावना हो वहाँ मौन हो जाना चाहिये। संसार में भिन्न-भिन्न क्रियाएँ होती हैं। वे एक दूसरी से नहीं मिलतीं। किन्तु क्रियाओं के इस विरोध पर ध्यान नहीं देना चाहिये। समझना चाहिये कि यह संसार भगवान्

का नाटक है। इसमें कहीं यज्ञ-दानादि, पुण्य-कर्म हो रहे हैं तो कहीं गोवध जैसा घोर कर्म भी होता है। साधक को तो दोनों अवस्थाओं में शान्त रहना चाहिये। इसे भगवान् का नाटक समझकर एक जगह राग और दूसरी जगह द्वेष नहीं करना चाहिये। परमार्थ-मार्ग में तो समान भाव रखना ही मुख्य है।

३७. यदि तुम्हारी कोई उपेक्षा करे अथवा तुमसे कड़ा बोले तो तुम कोई उत्तर मत दो। ऐसा करने से तुम्हारा चिड़-चिड़ापन जाता रहेगा।

३८. वाणी के संयम से तप की वृद्धि होती है और जिसका तप बढ़ जाता है उसे फिर विशेष सांसारिक प्रवृत्ति का झंझट नहीं रहता। तप के प्रभाव से स्वयं ही उसका सब काम होता रहता है।

३९. शान्तिप्राप्ति के चार साधन हैं—क्षमा, दान, सत्य और अहिंसा।

४०. धर्म प्राप्ति के चार साधन हैं—तप, शौच, दया और सत्य।

४१. बाह्य और आन्तर भेद से दो प्रकार का शौच है। इनमें बाह्य शौच मृत्तिका और जल आदि से होता है। आन्तर शौच के अनेक साधन हैं; जैसे—राग-द्वेष के त्याग से अन्तःकरण की शुद्धि, मिथ्या-भाषण के त्याग से मुख की शुद्धि, परान्न के त्याग से जिह्वा की शुद्धि, प्रतिग्रह के त्याग से हाथों की शुद्धि, विहित ब्रह्मचर्य के पालन से कच्छशुद्धि, धर्मानुकूल धनोपार्जन से धन की शुद्धि और विहित आचरण से कर्म की शुद्धि होती है।

४२. ये पाँच धर्म अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है।
(२) मौन से बढ़कर कोई तप नहीं है।
(३) जप से बढ़कर कोई यज्ञ नहीं है।
(४) विचार से बढ़कर कोई ज्ञान नहीं है।
(५) त्याग से बढ़कर कोई सुख नहीं है।

४३. चार जगह व्यावहारिक बातें नहीं करनी चाहिये—

(१) श्मशान में शव का दाह करते समय,
(२) बीमार के पास,
(३) भगवान् के मन्दिर में, और
(४) महात्मा के पास।

सामाजिक समस्याओं पर

प्र०—नवयुवकों को क्या करना चाहिये ?

उ०—जब तक प्राचीन धर्म को ग्रहण नहीं करेंगे तब तक शान्ति नहीं होगी। इसलिये प्राचीन धर्म का अवलम्बन करना चाहिये। वर्ण-व्यवस्था को मिटाकर राजनैतिक कामों में लगना नवयुवकों का धर्म नहीं है। न्याय और सत्य से धन कमाओ तथा वर्णाश्रम धर्म को मानो।

प्र०—धर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जो जीव को नीचे न गिरने दे उसका नाम धर्म है। लोग उन्नति चाहते हैं, परन्तु पाप से नहीं डरते। ऐसी अवस्था में उनकी उन्नति कैसे हो सकती है ?

प्र०—आज-कल पहले जैसे विद्वान् नहीं होते, इसका क्या कारण है ?

उ०—पहले जितने बड़े-बड़े विद्वान् थे सब भगवान् शंकर की आराधना करते थे। उनकी कृपा से ही उन्हें वैसी विद्या प्राप्त होती थी। अब कोई उपासना तो करता नहीं, विद्या कहाँ से आवे ?

प्र०—अवनति क्यों हो रही है ?

उ०—ईश्वर का भय नहीं रहा, इसलिये। सांसारिक जीवों का कल्याण भय से ही होता है। जब तक ईश्वर का भय, महात्माओं का भय, ब्राह्मणों का भय अथवा माता-पिता का भय रहता है, तब तक समझो ईश्वर की पूरी कृपा है। यदि जीव इनसे न डरे तो समझो कि बहुत बुरा हुआ। चेला स्वतन्त्र हो

जाय तो सर्वनाश, लड़का स्वतन्त्र हो जाय तो सर्वनाश और नौकर स्वतन्त्र हो जाय तो सर्वनाश। जब मनुष्य ईश्वर का भय छोड़ देते हैं तो इससे स्वच्छन्दतापूर्वक पाप होने लगते हैं। लोकनिन्दा के भय से ही लोग बहुत से पाप नहीं करते। फिर यदि ईश्वर का भय हो जाय तो क्या कहना है? परमात्मा का भय न रहने से धर्म का भी भय नहीं रहता। पहिले किसी की मृत्यु होने पर जो गरुड़ पुराण सुनाया जाता था, वह इसीलिये था कि उसे सुनने से पापों से भय हो जाय। उसमें यही तो बतलाया है कि अमुक पाप करने से मनुष्य अमुक नरक में जाता है।

प्र०—देश की उन्नति के लिये बहुत लोग प्रयत्न कर रहे हैं, फिर भी उन्नति क्यों नहीं होती?

उ०—धर्म का सहारा न होने से।

प्र०—महाराज जी! आज-कल जब किसी के यहाँ हवन होता है तो वह यही कहता है—पण्डितजी, इसे जल्दी निबटाओ।

उ०—पण्डितों को उनकी बात नहीं सुननी चाहिये। भला, कर्मकाण्ड में जल्दी हुआ करती है? लोग कर्मकाण्ड में तो जल्दी करते हैं, किन्तु रातदिन गप्पें हाँकते रहते हैं, उसमें जल्दी नहीं करते।

× × × ×

प्र०—महाराज जी, कोई स्त्री-शिक्षा की बात कहिये।

उ०—स्त्रियाँ बहुत बोलना बन्द कर दें-यही उनके लिये सबसे बड़ी शिक्षा है। वे लड़ें-भिड़ें नहीं। अधिक पढ़ने-लिखने की भी आवश्यकता नहीं है। तथा प्राचीन आचार-विचार से रहें। खिलाने-पिलाने में किसी के साथ कमी-वेशी न करें, सबको एक-सा भोजन दें, किसी को मोटी और किसी को पतली रोटी न दें; तभी घर में प्रेम रह सकता है। वे सबसे प्रेम रखें और पति के

अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष को स्वप्न में भी न देखे—यही उनका प्रधान धर्म है।

प्र०—विधवा स्त्री को भगवत्प्राप्ति के लिये क्या करना चाहिये ?

उ०—भगवान् को सर्वस्व समझ कर उनमें प्रेम करना और शास्त्रोक्त वैधव्य धर्म का पालन करते हुए जीवन निर्वाह करना विधवा स्त्री का धर्म है। स्त्रियों के लिये भगवान् के प्रति सेव्य-सेवक भाव ही उत्तम है। यों तो यह सभी के लिये उत्तम हैं, किन्तु स्त्रियों के लिये तो इसके सिवाय कोई भी भाव निरापद नहीं है। और भावों में पतन की सम्भावना है। इस भाव में भय रहता है, इसलिये इसमें पतन की सम्भावना नहीं है। अतः यही सर्वोत्तम भाव है।

प्र०—सधवा स्त्री यदि साधुओं के पास न जाकर पति की सेवा करे तो कैसी ?

उ०—बहुत अच्छी। किन्तु यदि उसे पति अपने साथ साधुओं के पास ले जाय तो अवश्य जाना चाहिये। मनु और शतरूपा दोनों ही तपस्या करने के लिये गये थे न ? हाँ, पति की आज्ञा के बिना उसे नहीं जाना चाहिये।

प्र०—विधवा स्त्री साधुओं के पास न जाकर भजन ही करे तो कैसी।

उ०—बहुत अच्छी।

× × × ×

१. जो उत्तम स्त्रियाँ होती हैं वे घर में सबको अच्छी चीजें खिला देती हैं और अपने लिये भोजन रहे अथवा न रहे, इसकी परवाह नहीं करतीं। तथा जो निकृष्ट स्त्रियाँ होती हैं वे

अपने ही लिये अच्छी-अच्छी चीजें रखना चाहती हैं। उनमे से बहुत-सी तो चुराकर भी खा लेती हैं। यह अच्छा नहीं।

२. स्त्रियों को भीख माँगकर खाना शास्त्र-विरुद्ध है। उन्हें न तो एकान्त मे जाना चाहिये और न घर छोड़कर बाहर विचरना चाहिये। भ्रमण करनेवाली स्त्री प्राय: भ्रष्ट हो जाती हैं। वेदान्त बहुत-सी स्त्रियाँ सुनती है; किन्तु उनमें कोई भी धारण नहीं कर पाती। भजन तो उसके द्वारा होता है, जिसे क्रोध का संसर्ग भी न हो।

३. आजकल बहुत-से लोग कहते हैं कि स्त्रियों को परदे में रखना अन्याय है। परन्तु परदे और घरों में रहने से ही वे इन पॉच बातों से, जो उन्हें विषय में ले जाने वाली हैं, बच सकती हैं:—(१) परपुरुष का दर्शन। (२) परपुरुष का चिन्तन। (३) परपुरुष का रूप-वर्णन। (४) परपुरुष के साथ सम्भाषण। (५) परपुरुष का स्पर्श। परदा इसीलिये रखा गया है। पुरुषों को भी (१) स्त्रीदर्शन (२) स्त्रीचिन्तन, (३) स्त्रियों का सौन्दर्य-वर्णन, (४) स्त्रियों के साथ सम्भाषण और (५) स्त्रियों का स्पर्श—ये सब विषयों में ले जाने वाले हैं। अत: उन्हे भी इनसे बचना चाहिये।

४. विधवा स्त्री को भगवन्नाम-जप और भगवन्नाम-कीर्त्तन में अपना समय लगाना चाहिये। उसके लिये शृङ्गार करना बहुत बुरा है। उसे तो भगवान् को ही अपना सब कुछ मानना चाहिये।

५. सधवा स्त्री को चाहिये कि अपने पति को ही परमेश्वर मानकर उसकी सेवा करे। इसके साथ भगवद्भजन में भी लगी रहे।

६. आज-कल स्त्रियों को पति में भगवद्भाव नहीं होता, इसी से उन्हें भगवान् की आवश्यकता है। यदि पति मे भगवद्-

भाव हो, तो स्त्री को किसी अन्य उपासना की आवश्यकता नहीं है। उसे पति सेवा से ही भगवान् की प्राप्ति हो जायगी।

७. भिक्षा माँगनेवाले संन्यासी और फेरी लगानेवाले व्यापारी से स्त्रियों को पर्दा करने की आवश्यकता नहीं है।

× × × ×

८. अनूपशहर में कई विद्यार्थियों ने मेरे पास आकर प्रश्न किया कि 'महाराज, पण्डित लोगों ने हमारे साथ यह बड़ा भारी अत्याचार किया है कि हमें विदेशयात्रा से वञ्चित रक्खा है। वे कहते हैं कि विदेश में जाना पाप है।' मैंने उन्हें उत्तर दिया कि विदेश में जाना इसलिये पाप बताया गया है कि यदि सर्व-साधारण वहाँ जायँगे तो वे विदेशी धर्म, विदेशी वेष, विदेशी प्रेम, विदेशी आचार और विदेशी आचरण का अवलम्बन करेंगे। इसलिये हमारे शास्त्रों ने वहाँ जाना मना किया है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव भी हो रहा है। वर्तमान समय में विदेशी संसर्ग का फल यहाँ तक हुआ है कि छोटे-छोटे बच्चे भी टोप आदि लगाने लगे हैं और सिगरेट-बीड़ी पीते हैं।

स्वदेशे स्ववेषे स्वधर्मे स्ववर्णे जनानां प्रशस्यः प्ररूढोऽनुरागः।

अर्थात् लोगों का अपने देश, अपने वेष, अपने धर्म और अपने वर्ण में दृढ़ अनुराग होना ही प्रशसनीय है। अतः जिस व्यक्ति का स्वदेशादि में प्रेम होता है वही महान् माना जाता है। जो विदेशी आचार और विदेशी धर्म मे कभी आसक्त न हों वे ही लोग विदेश जा सकते हैं, सर्वसाधारण के लिये तो विदेशों में जाना महान् पाप है।

९. अन्यायोपार्जित धन विष के समान है। जो लोग अन्याय से धन कमाते हैं उनके तो चारों ओर विष ही विष है।

१०. चोरी नहीं करनी चाहिये। यदि कोई चीज सड़क पर

पड़ी मिले तो उसे भी नहीं लेना चाहिये, क्योंकि वह भी एक प्रकार की चोरी ही है।

११. तीन बातें ब्राह्मणत्व को नष्ट कर देती हैं—(१) हल जोतना, (२) पठन-पाठन में हिलना और (३) मादक वस्तुओं का सेवन—'त्रिभिर्नश्यति ब्रह्मत्वं हलं हलं हलाहलम् ।' जो वस्तुएँ भगवान् को भोग लगायी जा सकें उनसे भिन्न सभी वस्तुएँ मादक हैं।

१२. आज-कल के मनुष्य सट्टा बहुत पूछते हैं। मैं एक बार हापुड़ गया था। वहाँ एक सट्टेबाज मेरे पास आकर बैठ गया और बोला, 'महाराज, मुझे सट्टा बता दो।' मैंने कहा, 'मैं तुझे यही बताता हूँ कि तू कभी सट्टे का काम मत करना।'

१३. माता की सेवा किये बिना कल्याण नहीं होता। स्व जगद्गुरु भगवान् शंकराचार्य भी माता के बड़े भक्त थे। यह तक कि माता के मरने पर उन्होंने, संन्यासी होते हुए भी, उसका दाहकर्म किया। माता को दुखी करने से किसी का कल्याण नहीं होगा।

१४. अपने माता-पिता की आज्ञा माननी चाहिये। कि यदि माता-पिता भगवद्भक्ति छुड़ावें या और कोई धर्मविर बात कहें तो नहीं माननी चाहिये। देखो, प्रह्लाद से उसके पि ने राम नाम छोड़ने को कहा, किंतु उसने इस बात को स्वीक नहीं किया।

१५. दूसरे के धन से बुद्धि भ्रष्ट और चित्त दुष्ट हो ज है। आज-कल साधुओं की बुद्धि क्यों मलिन हो रही है? अन योपार्जित पराया अन्न खाने से तथा तम्बाकू, भांग, गाँजा अ मादक द्रव्य खाने-पीने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है।

१६. आज-कल इतने आदमी गङ्गाजी पर नहीं पहुँचते, जितने कचहरी में जाते हैं। जिसके मन में यह भाव हो जायगा कि धन और मिट्टी समान हैं, वह कभी मुकद्दमा नहीं करेगा और न कभी गवाही ही देगा।

१७. आज-कल तीन बातों का बहुत प्रचार होता है—(१) ब्रह्मचर्य मत रखो, (२) सन्तान पैदा मत करो, (३) भक्त और भगवान् को मत मानो। ये उन्नति के प्रधान घातक हैं। उन्नति तभी होगी जब इन बातों को मानना छोड़ दिया जायगा, ऐसी बातों से जीव अपने पथ से गिर जाते हैं।

१८. पहले हमारे यहाँ धर्म-पुस्तकों की पूजा हुआ करती थी। किंतु आज-कल लोग थूक लगाकर पन्ना उलटते हैं। जमाना कितना खराब आ गया। धर्म-पुस्तकों को प्राणों से भी प्यारी समझो।

१६. भोजन का बड़ा भारी असर पड़ता है। मुझे एक बार स्वामी मौजानन्दजी सुनाते थे कि एक बार वे तथा अन्य आठ-दस साधु साथ-साथ विचर रहे थे। किसी गाँव के पास जाकर ठहर गये। उस गाँव के एक भक्त ने सब महात्माओं को अपने घर ले जाकर भोजन कराया। रात को सब महात्माओं को स्वप्न-दोष हो गया। प्रातःकाल आपस में इसकी चर्चा चली तो मालूम हुआ कि सभी महात्माओं को हुआ है। इसका कारण जानने के लिये उस भोजन करानेवाले भक्त को बुलाया गया। उससे पूछा कि तुम सच बताओ, तुमने किस कामना से भोजन कराया था। उसने कहा, 'महाराज, मेरे सन्तान नहीं होती। अतः मैंने सन्तान की इच्छा से ही भोजन कराया था।'

२०. भारतवर्ष में तम्बाकू क्या आयी साक्षात् कलियुग ही आ गया। इससे बुरी संसार में कोई चीज नही है। गुरु गोविंद-

सिह जी ने इसे बहुत बुरा बताया है । इसका कभी सेवन नहीं करना चाहिये।

२१. आज-कल कितने ही दण्डी स्वामी भी तम्बाकू आदि पीने लगे हैं और अपने पास पैसे भी रखते है, यदि उनसे कोई कहता है तो वे झट से अपने को वेदान्ती--ब्रह्मज्ञानी बतलाने लगते हैं और 'अहं ब्रह्मास्मि' कहने लगते हैं। यह कितना बुरा है ! ये लोग औरों को भी बिगाड़ते हैं । इनके शिष्य भी करते-धरते तो कुछ भी नहीं, केवल 'अहं ब्रह्मास्मि' याद कर लेते है।

२२. भैया ! कोई ब्रह्मज्ञानी ही क्यों न हो, अपने को सिद्ध ही क्यों न कहता हो, यदि वह तम्बाकू आदि मादक द्रव्यों का सेवन करता है और अपने पास पैसे रखता है तो मेरा मन उससे मिलने को कभी नहीं चाहता और न मैं उससे मिलना अच्छा ही समझता हूँ।

२३. आज-कल शहरवालों में ऊपर से तो सफाई है, किन्तु उनके मन मलिन हैं। मेरे विचार से तो इस तम्बाकू ने ही सब कुछ बिगाड़ रखा है। सनातन धर्म का नाश तो इसने ही किया है। यह क्या धर्म है जो एक के मुँह की चिलम दूसरा मुँह में लगा लेता है ! फिर जूँठ का विचार ही क्या रहा ? छुआछूत तो शास्त्र में मान्य है। जो उसे मिटाने का प्रयत्न करते हैं वे शास्त्र विरुद्ध कर रहे है।

२४. भगवान् का जो भक्त होगा वह बीड़ी, हुक्का, सिगरेट, सुल्फा, तम्बाकू, भाँग आदि नशीली और तमोगुणी वस्तुएँ नहीं खाये-पियेगा; क्योंकि भक्त जो कुछ भी खाये-पियेगा, अपने भगवान् को अवश्य अर्पण करेगा। फिर भला, वह अपने भगवान् को ऐसी तमोगुणी चीजें कैसे भोग लगावेगा ?

२५. यदि कोई धूम्रपान करता है तो मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि उसे मन्त्रसिद्धि कदापि नहीं होगी।

२६. मैंने एक कपड़े की दूकान पर देखा कि एक आदमी गद्दी पर बैठा बीड़ी पी रहा था । बताओ भला, ऐसे लोगो के पास लक्ष्मी कैसे ठहर सकती है ? जिस गद्दी को पहले गणेशजी और लक्ष्मीजी की गद्दी मानते थे उसी पर बैठकर अब हुक्का या बीड़ी पीते हैं । यदि पतंगा उड़कर ही गिर जाय तो कितनी हानि हो । भारतवर्ष के मनुष्य अब कैसे भ्रष्ट हो गये हैं ।

२७. पहले सब लोग श्री सरस्वती या गणेशजी का स्मरण करके ही ग्रन्थ आरम्भ करते थे, परन्तु आज-कल ऐसी बात नहीं है । अब तो बड़े-बड़े पण्डित भी ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण नहीं करते । इसी से उन्हे सफलता प्राप्त नहीं होती ।

२८. हमारी और महात्मा गांधी की अहिंसा में बड़ा अन्तर है । सनातन धर्म में तो गाँव में आग लगानेवाले, किसी को जहर देनेवाले अथवा अकारण दुःख देनेवाले को मार डालना भी अहिंसा ही है । इसी प्रकार युद्ध में मारना, अथवा धर्मविरोधी का वध करना भी अहिंसा है । गांधीजी की-सी अहिंसा होने पर तो राजकार्य चलना भी कठिन हो जायगा अतः जो काम करने के लिये हमारा शास्त्र कहता है वही पुण्य है और उससे विपरीत करना ही पाप है ।

२९. हिन्दू-धर्म के विषय में गांधीजी प्रमाण नहीं माने जा सकते । इस विषय में तो शास्त्रज्ञ पण्डितजन ही प्रमाण हो सकते हैं । गांधीजी ने जो अछूतोद्धार का प्रसङ्ग उठाया है वह धर्म-विरुद्ध है । ऐसे प्रश्नों को उन्हे नहीं छेड़ना चाहिये ।

३०. बुद्धदेव साक्षात् भगवान् के अवतार थे—इसमें सन्देह नहीं । किन्तु उन्होंने वेद और वर्णव्यवस्था को नहीं माना, इसलिये हमने उनकी बातों को ठुकरा दिया । इसी प्रकार गांधीजी भले ही महात्मा हों. तथापि उनका उठाया हुआ अछूतोद्धार का कार्य

शास्त्रविरुद्ध है। उनकी यह बात कैसे मानी जा सकती है, जबकि शास्त्रविरुद्ध होने पर स्वयं भगवान् बुद्ध की बात भी नहीं मानी जा सकती।

३१. अस्पृश्यता कोई पाप नहीं है। इसके लिये शास्त्र आज्ञा देता है। शास्त्रों में यह लिखा है कि अमुक पाप करने से अन्त्यज योनि प्राप्त होती है। अतः यदि कोई अछूत होना नहीं चाहता तो वह वैसा पाप न करे। जिस प्रकार कचहरी में कलक्टर सिपाही को अलग खड़ा करता है और वकील को अलग तथा इस प्रकार कायदे से काम करने में कोई पाप भी नहीं होता, उसी प्रकार यह भी हिन्दू समाज का एक कायदा ही है। अछूतों का उद्धार तो यही है कि जमीदार उनसे बेगार न ले और उनकी सब प्रकार सहायता करे।

३२. हमें अब तक छूआछूत और जाति-पाँति ने ही बचा रखा था। अब देखना, दस वर्ष में यह देश इङ्गलैण्ड हो जायगा।

३३. मैं अपने अनुभव से कहता हूँ कि आज कल भगवन्नाम और जितेन्द्रियता से ही सब कुछ हो सकता है। भला, जब हम चमार-चूहरों के हाथ का भोजन करने लगेंगे तो तत्त्वज्ञान कैसे हो सकेगा ? ऐसा करते हुए तत्त्वज्ञान की आशा रखना तो मूर्खता है। ऐसे कलियुगी जीवों की समझ में तत्त्वज्ञान आ ही नहीं सकता। यह तो पवित्र हृदयवालों को ही प्राप्त हो सकता है।

३४. भगवन्नाम-कीर्तन करने का अधिकार सबको है। भंगी चमार भी खूब कीर्तन कर सकते हैं। किन्तु उन्हें सवर्णों के साथ एक ही मण्डली में मिलकर कीर्तन नहीं करना चाहिये। जो भक्त होगा वह तो कभी सवर्णों के साथ मिलने का आग्रह नहीं करेगा। श्री गौरांगदेव के मुख्य पार्षद हरिदासजी यवन थे। काजी ने उन को कोड़ों की मार लगवायी, फिर भी उन्होंने कृष्ण

नाम नहीं छोड़ा। उनके शरीर से रक्त की धाराएँ निकल रही थीं, फिर भी वे प्रेमोन्मत्त होकर श्रीहरिनाम-कीर्तन कर रहे थे। महाप्रभुजी उन्हें आलिंगन करना चाहते थे; किन्तु वे यह कहते हुए दूर भाग जाते थे कि प्रभो, मैं तो अत्यन्त नीच हूँ, आप मुझे स्पर्श न करें। रैदासजी कितने बड़े महात्मा थे, किन्तु उन्होंने अपनी वृत्ति नहीं छोड़ी। वे बराबर जूते बनाने का ही धधा करते रहे। इसी प्रकार अन्त्यजों में अनेकों भक्त हुए है, किन्तु किसी ने यह नहीं कहा कि हमें अपनी पंक्ति में बैठाकर खिलाओ, अथवा हमारा स्पर्श करो।

३५. वर्णाश्रम धर्म हिन्दुओं का जन्मसिद्ध अधिकार है। यह ईश्वर का रचा हुआ है, मनुष्यों का नहीं। अतः इसका अवश्य पालन करना चाहिये।

३६. सनातन धर्म संसार में सबसे श्रेष्ठ धर्म है। इसकी उत्कृष्टता स्वामी विवेकानन्द तथा लोकमान्य तिलक ने अनेकों युक्तियों से सिद्ध की है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें सब प्रकार की प्रकृति के लोगों के लिये विभिन्न प्रकार के अनेको साधन हैं। जो जिस सन्मार्ग से जाना चाहे उसी से चल कर भगवान् को प्राप्त कर सकता है। संसार के और किसी धर्म में यह बात नहीं हैं।

३७. हमारे यहाँ भोग तो है ही नहीं। यहाँ तो विवाह भी भगवत्प्राप्ति के लिये ही किया जाता है। भारतवर्ष भोग के लिये नहीं है, यह तो धर्माचरण के लिये ही है।

३८. आज-कल सब भ्रष्ट क्यों हैं? क्योंकि सभी महान् आलसी हो गये हैं, हर एक के घर का खा लेते हैं और पानी भी अपने हाथ से खींचकर नहीं पीते। मैं जब छोटा था तो किसी के भी

हाथ का खाता-पीता नहीं था। आज-कल के ज्ञानी भी कैसे हो गये हैं कि आचार-विचार को भी छोड़ दिया है। पहले तो आर्य-समाजियों ने आचार-विचार को बिगाड़ा, फिर ज्ञानियों ने और अब कांग्रेस ने सब चौपट कर दिया। पन्द्रह दिन आचार-विचार से रहकर देखो कि चेहरा कैसा हो जाता है। यदि आचार-विचार छूट गया तो रहा ही क्या ?

३९. आज-कल लोग ब्राह्मणों का खण्डन करते हैं। परन्तु ब्राह्मणों की महिमा का क्या कहना है—

विपद्घनध्वान्तसहस्रभानवः समीहितार्थार्पणकामधेनवः।
अपारसंसारसमुद्रसेतवः पुनन्तु मां ब्राह्मणपादरेणवः॥*

४०. एक स्थान पर भगवान् कहते हैं–'अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनुः।' अर्थात् ब्राह्मण विद्वान् हो अथवा मूर्ख, मेरा ही स्वरूप है।

४१. आज-कल के नये भक्त कहते हैं कि ब्राह्मण क्या होते हैं ? मैं तो कहता हूँ कि यदि भक्ति करने से सन्ध्योपासन छूट जाय, ब्राह्मणपूजन छूट जाय अथवा कर्म छूट जाय तो ऐसी भक्ति को दूर से ही नमस्कार है। रामानन्दराय कितने बड़े भक्त थे, किन्तु उनके यहाँ पाँच सौ ब्राह्मण रहते थे। वे ऐसे ब्राह्मण-भक्त थे।

४२. जिस ब्राह्मण के मस्तक पर चन्दन न हो, शास्त्रों में उसके दर्शन करने का भी निषेध है। आज-कल के ब्राह्मण न

* मुझे ब्राह्मणों के चरणों की रज पवित्र करे; वह रज विपत्ति रूप घोर अन्धकार के लिये सहस्रों सूर्यों के समान है, अभीष्ट पदार्थों को अर्पण करने के लिये कामधेनु के सदृश है और अपार संसार-समुद्र के सेतु के समान है।

तिलक लगाते हैं और न जनेऊ पहनते हैं। कोट, बूट, पतलून, धारण करते हैं। ये क्या ब्राह्मण हैं।

४३. हमारे यहाँ गायत्री का जप करना क्यों लिखा है? इस लिये कि इससे बुद्धि पवित्र हो जाती है और तभी शास्त्र का रहस्य समझ में आता है। आज-कल जप तो करते नहीं, फिर शास्त्र कैसे समझ में आवे? पहले तो आठ वर्ष के ब्राह्मणबालक-का यज्ञोपवीत कराकर उससे गायत्री जप कराते थे, तब बुद्धि शुद्ध होने पर शास्त्र समझ में आता था।

४४. महात्मा और ब्राह्मणों को सर्वदा कुशासन या मृगचर्म पर ही बैठना चाहिये, किन्तु गृहस्थ और नीची जाति के लोगों को इन पर नहीं बैठना चाहिये। इसका एक विशेष कारण है। शरीर में दो प्रकार के परमाणु होते हैं—शुद्ध और अशुद्ध। ये हर समय शरीर से निकलते रहते हैं और पृथ्वी इन्हें अपने में लीन कर लेती है। अतः यदि महात्मा कुशासन या मृगचर्म पर बैठेंगे तो उनके शुद्ध परमाणुओं को पृथ्वी नहीं खींच सकेगी और इससे उनकी शुद्धता बढ़ेगी। किन्तु यदि गृहस्थ या नीची जाति के लोग इन पर बैठेंगे तो उनके शरीर से जो रात-दिन विषयासक्त रहने के कारण अशुद्ध परमाणु निकलते हैं वे पृथ्वी में न जाकर पुनः उनके शरीर में ही प्रविष्ट हो जायँगे। इसलिये इससे उनकी अशुद्धि और भी बढ़ती रहेगी। इसी से शास्त्रों में केवल महात्मा और ब्राह्मणों के लिये ही मृगचर्म और कुशासन पर बैठना लिखा है; दूसरों के लिये नहीं। किन्तु आज-कल तो लोग समझते हैं कि ब्राह्मणों ने ही यह भेदभाव बना लिया है। उन्हें यह मालूम नहीं कि इससे उन्हीं का कल्याण है। वे व्यर्थ ही इसमें अपना अपमान समझते हैं।

४५. देश का कल्याण चमार-चूहरों के हाथ का अन्न खाने

से नहीं हो सकता। इसके लिये लोगों को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। गिंजाई की तरह बहुत-से बच्चे पैदा करने से क्या लाभ है? नेता लोग कहते हैं कि और देशों में तो ब्रह्मचर्य का कोई नियम नहीं है, फिर भी वहाँ स्वराज्य है। हम कहते हैं कि हमें योरोप के स्वराज्य की आवश्यकता नहीं है। हमारा देश तो धर्मप्रधान है। योरोपवाले स्वराज्य से तो अशान्ति ही बढ़ेगी।

४६. हमें गिंजाई पैदा करके क्या करना है? आज-कल एक-एक के आठ-आठ लड़के पैदा हो जाते हैं, सो सब विष्ठा के थैले ही तो होते है। लोकमान्य तिलक के माता-पिता ने यह प्रतिज्ञा की थी कि हम बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करके एक सम्राट् पुत्र उत्पन्न करेंगे। किन्तु उनका ब्रह्मचर्य केवल ग्यारह वर्ष ही रहा। फिर भी तिलक जो हुए वे क्या किसी सम्राट् से कम थे? देश का कल्याण तो उसी सन्तान से होगा, जो ब्रह्मचर्य पालन के पश्चात् होगी।

४७. अभिमान कहीं तो गिराता है और कहीं बढ़ाता है। आज यदि हमें हिन्दुत्व का अभिमान होता तो हमारा सर्वनाश क्यों होता?

४८. वृद्धों के आशीर्वाद से ही हमारा कल्याण हो सकता है। अतः उनकी तन-मन से सेवा करनी चाहिये।

४९. एक जगह मैंने देखा कि पति-पत्नी एक ही थाल में भोजन कर रहे हैं। यह कितना बुरा है कि पत्नी पति को अपना जूठा खिलावे। दोनों को एक साथ कभी नहीं खाना चाहिये। जब पति भोजन कर ले तब स्त्री उसके थाल में भोजन कर सकती है।

५०. बिना श्राद्ध किये गृहस्थ का कल्याण नहीं है। अतः उसे श्राद्ध अवश्य करना चाहिये।

५१. आज-कल दस-दस तो पढ़ानेवाले मास्टर होते हैं, फिर कल्याण कैसे हो ? पहले तो एक ही गुरु होता था। इसी से अब गुरुभक्ति नष्ट हो गयी है।

५२. असत् पुरुषों के दर्शन और स्पर्श से पापों की वृद्धि होती है और पुण्यात्माओं की सेवा करने से पुण्य बढ़ता है। इसी से हमारे यहाँ स्पृश्य-अस्पृश्य का भेद माना गया है। शास्त्रों का कथन है कि पाप-कर्म करने से चमार आदि अस्पृश्य योनियाँ प्राप्त होती हैं और पुण्य-कर्मों से ब्राह्मणादि पवित्र जातियों में जन्म होता है। किन्तु आज-कल तो इन बातों को झूठ मानते हैं और शास्त्रों को भी गपोड़ा समझते है। यदि शास्त्रों को ही न मानें तो क्या किया जाय ?

५३. आज-कल कुछ लोग पदकीर्तन करते समय आधुनिक कवियों के पद गाते हैं। सो वे क्या सूरदास, तुलसीदास अथवा मीराबाई के पदों के समान हो सकते हैं ? उन्हें तो भगवान् के साक्षात् दर्शन हुए थे। आधुनिक कवियों को तो वह स्थिति प्राप्त नहीं हुई। भक्तों के लिये तो उनकी वाणी वेदों के समान मान्य है। अतः तुम्हें उन्हीं के पदों का कीर्तन करना चाहिये। उनका चित्त पर बड़ा अद्भुत प्रभाव पड़ता है।

५४. आजकल जो भारतवर्ष की अधोगति है उसका एक प्रधान कारण संध्योपासनादि नित्य कर्मों का न करना भी है। यदि हम नियम से विधिपूर्वक नित्यकर्म करते रहें तो रोग हमारे पास आ नहीं सकता। फिर हमें डाक्टर-वैद्यों की जरूरत ही न हो। एक बार जब मैं बंगाल में था तो मुझे एक गाँव में एक भट्टाचार्य मिले। उनकी आयु प्रायः साठ वर्ष की थी। किन्तु वे थे बड़े तेजस्वी। मैंने उनके ऐसे स्वास्थ्य का कारण पूछा तो उन्होंने यही कहा कि 'मैं नियमानुसार सन्ध्योपासन और गायत्री-जप

करता हूँ तथा शुद्ध अन्न खाता हूँ। इसी से आज तक मैं नहीं जानता कि रोग क्या है।' नित्य कर्म करने वालों में एक अद्भुत तेज होता है, जो उनके चेहरे पर प्रत्यक्ष चमका करता है। परन्तु आज-कल तो ऐसी दशा है कि बहुत से लोग तो सन्ध्या करते ही नहीं, और जो करते हैं, उनमें भी अधिकांश उसका नाम ही करते हैं। वे सन्ध्या के समय भी दुनियाँ भर की गप्पें हाँकते रहते हैं। थोड़ी देर भी शान्त और समाहित होकर उस कार्य में नहीं लग सकते। दुर्दशा तो यहाँ तक बढ़ी हुई है कि बहुत से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तो यज्ञोपवीत ही नहीं कराते। उनका तो एक प्रकार से द्विजाति में जन्म लेना ही व्यर्थ हो जाता है।

५५ आप्त पुरुषों की वाणी ही प्रमाण होती है, हर किसी की बात प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। शास्त्र आप्त पुरुषों की वाणी हैं, इसलिये उनमें परिवर्तन करने का किसी को अधिकार नहीं है। और जब शास्त्रों में चारों युगों के धर्म लिखे हैं, तब बदलने की आवश्यकता भी क्या है? कलियुग के धर्म भी तो शास्त्रों में पहले ही से लिखे हैं।

५६. हमारे यहाँ शास्त्रों में क्षौर कराने का भी एक नियम है। किस दिन क्षौर कराने से क्या फल होता है, इसका विवरण इस प्रकार है—

सोमवार—इस दिन क्षौर कराने से सुख होता है, किन्तु शिवभक्ति की हानि होती है तथा पुत्रवान् को भी इस दिन क्षौर नहीं कराना चाहिये।

मंगलवार—क्षौर कराने से मृत्यु होती है।

बुधवार —धन प्राप्त कराने वाला है।

बृहस्पति —लक्ष्मी और मान की हानि करता है।

शुक्रवार —लाभ और यश की प्राप्ति कराता है।

शनिवार—मृत्यु का कारण होता है।

रविवार—यह सूर्य का दिन है। इस दिन क्षौर कराने से धन, बुद्धि और धर्म की क्षति होती है।

५७. जब सूर्य या चन्द्रग्रहण हो तो ग्रहण आरम्भ होने से पहले ही स्नान कर ले और ग्रहण मोक्ष होने तक बराबर इष्ट मन्त्र का जप करे। इस समय एकाग्रचित्त से स्थिरतापूर्वक जप किया जाय तो चौबीस लक्ष गायत्री के पुरश्चरण के समान होता है। ग्रहण मोक्ष होने पर गङ्गा-स्नान करे।

५८. चार जगह पराया अन्न नहीं होता—

(१) गुरु के घर, (२) मामा के यहाँ, (३) ससुराल में और (४) सौतेले भाई के यहाँ।

५९. ब्राह्मण के लिये तो शरीर से परिश्रम करके कमाना ही पाप है। उसे तो बुद्धिजीवी होना चाहिये। परिश्रम-जीवी ब्राह्मण को वास्तव में ब्राह्मण नहीं कह सकते। जो बुद्धिजीवी है वही सच्चा ब्राह्मण है।

प्रकीर्ण

प्र०—महाराजजी ! वहुत लोग जोर-जोर से बोलकर प्रणव का जप करते हैं तथा रास्ता चलते हुए और जूते पहने हुए भी ॐकार का उच्चारण करते हैं। क्या यह ठीक है ?

उ०—सनातन धर्म की दृष्टि से तो यह बात ठीक नहीं है। हमारे शास्त्रों मे वैदिक मन्त्रों का, अशुचि अवस्था मे, उच्चारण करना अत्यन्त निषिद्ध है। ऐसा करने से बड़ा पाप लगता है।

प्र०—महाराज जी ! प्राचीन काल मे ऋषि लोग देवलोक मे चले जाते थे। क्या यह ठीक है ?

उ०—क्यों नहीं ? किन्तु वहाँ ऋषि और देवता ही जा सकते हैं, तुम कैसे जा सकते हो। सबके शरीर एक-से तो नहीं होते। किन्हीं के शरीर तमःप्रधान, किन्हीं के रजःप्रधान और किन्हीं के सत्त्वप्रधान होते हैं। जिनके शरीर अत्यन्त सत्त्वप्रधान होते हैं, वे ही लोकान्तरो में जा सकते हैं। ऋषियों और देवताओं के शरीर तो दिव्य होते हैं। अतः उन्हीं में ऐसी योग्यता होती है।

प्र०—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं ?

उ०—पुरुषार्थ और सहनशीलता से अर्थ की, शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान और इन्द्रियसंयम से धर्म की तथा सौन्दर्य, यौवन और बल से काम की प्राप्ति हो सकती है। मोक्ष की प्राप्ति का उपाय तो एक ही है, वह है उपरामता, जो तत्त्वज्ञान होने पर ही होती है।

प्र०—सहनशीलता कैसे हो ?

उ०—अपने को सबसे छोटा समझो या सबसे बड़ा। भक्त अपने को सबसे छोटा समझता है और ज्ञानी सबसे बड़ा।

प्र०—कहते हैं, भगवान् दीनबन्धु है। किन्तु आजकल तो संसार में अनेकों दीन और गरीब आदमी भूखों मर रहे हैं। ऐसी हालत मे उन्हे 'दीनबन्धु' कहना कहाँ तक ठीक है ?

उ०—संसार में जो कुछ है वह सब भगवान् का ही तो है, अपना तो इसमें कुछ भी नहीं है। और दीन भी उसी को कहते हैं जिस पर कुछ न रहे। अतः जिसकी ऐसी बुद्धि है कि अपना कुछ भी नहीं है, सब कुछ भगवान् का ही है वही सच्चा दीन है। संसार में तो धनी और निर्धन दोनों ही को ऐसी बुद्धि नहीं होती। इसलिये वे वास्तविक दीन नहीं हैं। और भगवान् तो वास्तविक दीनों के ही बन्धु हैं और उन्हीं के प्रति दयालु है। अतः उनके 'दीनदयालु' दीनबन्धु' ये नाम ठीक ही हैं।

प्र०—निष्ठाएँ कितने प्रकार की हैं और यह कब समझा जाय कि हमारी निष्ठा दृढ़ हो गयी ?

उ०—निष्ठा के आठ भेद हैं। उनका विवरण इस प्रकार है-

(१) *ज्ञाननिष्ठा*—जब केवल ब्रह्म ही ब्रह्म रह जाय, उससे भिन्न कुछ भी प्रतीत न हो।

(२) *वैराग्यनिष्ठा*—जब ऐहिक-पारलौकिक किसी भी वस्तु में रुचि न रहे सर्वत्र वैराग्य हो।

(३) *सत्यनिष्ठा*—जब सत्य ही अपना सर्वस्व रहे, उसे किसी भी प्रकार त्याग न सकें। जैसे महाराज युधिष्ठिर थे।

(४) *जपनिष्ठा*—जब जप किये विना रहा न जाय और जप की संख्या पूरी होने से पहले खाना-पीना भी अच्छा न लगे; जैसे यवन हरिदासजी थे।

(५) *दाननिष्ठा*—जब सर्वस्वनाश की संभावना होने पर भी दान दिये बिना न रहा जाय; जैसे राजा हरिश्चन्द्र ।

(६) *परोपकारनिष्ठा*—घर में अन्न का भी अभाव है, फिर भी जो दूसरे को दुखी देखकर उसे दिये बिना नहीं रह सकता उसकी परोपकारनिष्ठा समझनी चाहिये ।

(७) *भक्तिनिष्ठा*—जो तिनके से भी छोटा बनकर और सर्वत्र भगवद्दृष्टि होने से सबको बड़ा मानकर सभी की सेवा में संलग्न है वही भक्तिनिष्ठ है ।

(८) *ध्याननिष्ठा*—जो सब कुछ भूलकर ध्यान में ही स्थित रहता है, उसकी ध्याननिष्ठा समझो ।

इनमें से जब तुम्हारी कोई एक ही निष्ठा रह जाय, दूसरी ओर तुम्हारा मन न जाय तो समझो कि तुम्हारी निष्ठा परिपक्व हो गयी ।

प्र०—स्वप्न में हम किसी भी स्त्री को देखते हैं तो स्थूल शरीर से वीर्यपात हो जाता है । स्वप्न तो झूठा है, फिर उससे सच्चा वीर्यपात क्यों होता है ?

उ०—हम स्वप्न में सूक्ष्म शरीर से स्त्री आदि सूक्ष्म वस्तुओं को ही देखते हैं । किन्तु उनसे जो हमारे चित्त में विकार होता है उस चित्त का सम्बन्ध स्थूल से रहता है । अतः जिस समय स्थूल शरीर में जागृति होती है तो चित्त का विकास होता है । और चित्त का सम्बन्ध वीर्य से है, इसीलिये वह स्खलित हो जाता है । उसी प्रकार यदि हम स्वप्न में कोई अच्छी चीज देखते हैं तो जाग्रत् होने पर प्रसन्नता रहती है और कोई भय का कारण देखते हैं तो जागने पर कम्पादि बना रहता है । इसमें वासना की ही प्रधानता है । इसी प्रकार अन्त समय में भी जैसे वासना होती है

वैसा ही फल होता है। संन्यासी और भक्तों को कोई वासना नहीं होती, इसलिये उनके लिये श्राद्ध या पिण्डदान की भी आवश्यकता नहीं होती किन्तु जिसे अपने पुत्र से पिण्डदान प्राप्त होने की वासना रहती है उसकी तृप्ति बिना पिण्ड ग्रहण किये नहीं होती, तथा भजन करने वालों को यदि वैकुण्ठ या ब्रह्मलोक आदि की वासना रहती है तो वे उन लोकों को प्राप्त हो जाते हैं। अतः सर्वदा शुभ वासना ही रखनी चाहिये।

प्र०—तप की पहचान चेहरे से किस प्रकार होती है ?

उ०—चेहरा तो खाने-पीने से भी चिकना और चमकदार हो जाता है। इससे तप का कोई सम्बन्ध नहीं होता। तप की ठीक पहचान तो नेत्रों से होती है। तपोनिष्ठ के नेत्र पुतली के चारों ओर बहुत साफ और सफेद होते हैं! उनमें मैलापन बिल्कुल नहीं होता। इसी प्रकार प्रेमी के नेत्र शीतल होते हैं और उनसे शीतल ही आँसू निकला करते हैं। शोकाकुल व्यक्ति के नेत्रों में गर्मी रहती है तथा उनके आँसू भी गरम होते हैं। इसी प्रकार प्रेमी और कामी के नेत्रों में भी बहुत अन्तर होता है। प्रेमी की आँखें स्थिर और शान्त होती है तथा कामी के नयन चंचल हुआ करते हैं।

× × ×

१. हँसी-दिल्लगी करना बहुत बुरा है; इससे बुद्धि विकृत हो जाती है। अतः हँसी-दिल्लगी कभी नहीं करनी चाहिये।

२. आजकल हर कोई गीता की टीका करने लगता है। गीता का अनुवाद करना तो दूसरी बात है; किन्तु टीका करने का अधिकार तो हर किसी को नहीं होता। केवल आप्त पुरुष ही टीका कर सकते हैं। आजकल के लोगों को टीका करने की क्या आवश्यकता है ? क्या भगवान् शंकराचार्य और सन्त ज्ञानेश्वर की टीकाएँ पर्याप्त नहीं हैं ? प्राचीन आचार्यों ने तो अपने

अनुभव और समाधि के बल से टीकाएँ की हैं। आजकल तो ऐसी बात है नहीं। वे तो जो मन में आता है, लिख मारते हैं।

३. आजकल जो नये-नये पंथ चल रहे हैं और नये-नये ग्रन्थ बनाये जा रहे हैं, ये सब चार दिन की चमक है। सब नष्ट हो जायँगे। वही हमारा प्राचीन सनातन धर्म; जो सदा से चला आ रहा है, आगे भी रहेगा।

४. अध्यात्मविद्या प्राप्त होना कोई साधारण बात नहीं है। पहले पाँच वर्ष के ब्राह्मण बालक को यज्ञोपवीत संस्कार कराकर गायत्री-जप कराया जाता था। आजकल पच्चीस वर्ष का होजाने पर भी यज्ञोपवीत नहीं कराते और न जप ही कराते हैं, फिर भी चाहते हैं कि अध्यात्मविद्या आजाय। यह भला कैसे हो सकता है?

५. भजनानन्दी गृहस्थ को एक स्त्रीव्रती और शुद्ध जीविका करनेवाला अवश्य होना चाहिये। उसे यह समझना चाहिये कि मुझे परमार्थ के मार्ग पर चलना है। अशुद्ध जीविकावाला परमार्थ पथ पर नहीं चल सकता।

६. मैं एक बार बिजनौर गया हुआ था। वहाँ दो वेश्याएँ हाथ में दांतुन लिये मेरे पास आयीं और प्रणाम करके बैठ गयीं। वे बोलीं, "महाराज! हमारा उद्धार कैसे होगा?" मैंने कहा, तुम्हारे उद्धार मे कोई देरी थोड़े ही है। तुम गाना-बजाना तो जानती ही हो। अब सांसारिक गीतों को छोड़कर भगवत्सम्बन्धी गाने गाया करो, संसार के मनुष्यों को रिझाना छोड़कर भगवान् को रिझाया करो तथा अब से कोई बुरा कर्म मत करो। बस, तुम्हारा उद्धार हो जायगा। अब तक तुम संसार की अप्सरा थीं, अब भगवान् के दरबार की अप्सरा बन जाओ।

७. दुर्गापाठ में बड़ी विलक्षण शक्ति है। दुर्गासप्तशती का

एक-एक मंत्र साक्षात् बाण और गोले के समान है। जर्मनी* का गोला तो थोड़ी ही दूर जा सकता है, किन्तु दुर्गा का गोला तो ब्रह्माण्ड को चीर कर निकल जाता है। दुर्गा का अनुष्ठान करने वाले के सामने देवता लोग भी हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। जो काम कोई नहीं कर सकता वह दुर्गापाठ से हो सकता है। आज हमारी जो दुर्दशा है वह शक्ति की उपासना न करने से ही है। पहले तो राजा महाराजा भी शक्ति की उपासना किया करते थे। महाराज रणजीतसिंह नित्य-प्रति भगवती की आराधना करते थे। इसी से उनका ऐसा विलक्षण तेज था। दुर्गा की महिमा कोई क्या कह सकता है ?

८. मैं तो कहता हूँ कि कोई पचास लाख गायत्री का जप कर ले और फिर भी उसे भगवान् का प्रकाश न हो तो मुझसे कहे। एक बार लोगों ने मुझसे पूछा कि अछूतोद्धार का काम ठीक है या नहीं। तब मैंने कहा—तुम पचास लाख गायत्री जपकर देख लो। तब तुम्हे स्वयं मालूम हो जायगा कि तुम्हारे द्वारा अछूतों का उद्धार हो रहा है या तुम उन्हें गढ़े में डाल रहे हो। अरे! भजन का प्रभाव तो कुछ और ही होता है। भजन करने वाले के रोम-रोम में भगवन्नाम भर जाता है।'

९. पहले काशी जी मे हर एक ब्राह्मण को दण्ड नहीं दिया जाता था। जो विद्वान् होते थे वे ही दण्ड ग्रहण कर सकते थे। एक ब्राह्मण को संन्यास लेने की इच्छा हुई। वह कई महात्माओं के पास गया, किन्तु विद्वान् न होने के कारण किसी ने उसे संन्यास नहीं दिया। आखिर, एक महात्मा को उस पर दया आ गयी। उन्होंने तीन नियमों की प्रतिज्ञा कराकर उसे दण्ड दे दिया—

(१) नित्य काशी की पञ्चक्रोशी परिक्रमा करना।

---

* इन दिनो सारे ससार पर जर्मनी का आतंक छाया हुआ था।

(२) भिक्षा माँगकर खाना।

(३) हर समय प्रणव जप करते रहना।

उन्होंने दण्ड ग्रहण करके पूर्णतया इन नियमों का पालन किया। इस प्रकार पच्चीस वर्ष तक निरन्तर प्रणव जप करने से उनके रोम-रोम में प्रणवमंत्र बस गया और उनका इतना प्रभाव बढ़ा कि बड़े-बड़े विद्वान् उनके सामने हाथ जोड़े खड़े रहते थे।

१०. अब संसार में ईश्वर का भय नहीं रहा, इसी से दिनों दिन अवनति हो रही है। संसार में जीवों का कल्याण भय से ही होता है। जब तक ईश्वर, महात्मा अथवा माता-पिता से भय रहे तब तक समझो भगवान् की अत्यन्त कृपा है। जीव यदि निर्भय हो जाय तो घोर पाप करने लगेगा। बहुत लोग तो लोकनिन्दा के भय से ही पाप नहीं करते। फिर यदि ईश्वर का भय बना रहे तो क्या कहना। जब परमात्मा का भय नहीं रहता तो धर्म का भय भी जाता रहता है। पहले घर में कोई मौत हो जाने पर इसीलिये गरुड़पुराण सुनाया जाता था, जिससे लोग पाप करने से डरें। अब परमात्मा और परलोक का भय तो निकलता जा रहा है, फिर लोग पापों से ही क्यों बचेंगे और पापों से नहीं बचेंगे तो अवनति और अशान्ति क्यों न होगी ?

११. संसार में चार प्रकार के जीव होते हैं—प्रवाही, कर्मी भक्त और ज्ञानी।

(१) प्रवाही—जिनमें स्वभाव से ही राग-द्वेष रहते हैं।

(२) कर्मी—जिनका शास्त्रविहित कर्मों मे राग हो और अधर्म के प्रति उपेक्षा रहे।

(३) भक्त—जो भगवत्प्रेम में मग्न रहते हैं। इनकी सांसारिक वस्तुओं में उपेक्षा रहती है। संसार की अवनति या उन्नति की ओर इनकी दृष्टि ही नहीं जाती। ये तो

निरन्तर भगवत्प्रेम में मस्त रहते हैं। संसार में इनका न राग होता है न द्वेष। ये दुःख को भी भगवान् की ही देन समझकर बड़े प्रेम से सहन करते हैं तथा इनका भोजनादि समस्त व्यवहार केवल भगवत्प्रेम के लिये ही होता है।

(४) *ज्ञानी*--ज्ञानी में तो राग-द्वेष की सत्ता ही नहीं रहती, क्योंकि जहाँ अहंता-ममता होती है वहीं राग-द्वेष रहते हैं। जब अहंता-ममता नहीं तो राग-द्वेष कैसा? यदि राग-द्वेष है तो ऐसे ज्ञानी को दूर से ही नमस्कार करो। राग-द्वेष का सर्वथा अभाव तत्त्ववेत्ताके सिवा और किसी में नहीं रहता। आज-कल रागद्वेष से छुटकारा हुए बिना ही हर कोई ज्ञानी बनना चाहता है।

१२. राग-द्वेष तीन प्रकार का होता है—(१) जैसे पत्थर की लकीर, (२) जैसे बालू की लकीर और (३) जैसे पानी की लकीर। संसारी मनुष्यों का राग-द्वेष पत्थर की लकीर की तरह होता है। वह जन्म भर नहीं जाता। उपासकों में जो राग-द्वेष रहता है वह बालू की लकीर के समान है। प्रेम की आँधी चली कि लकीर मिटी। और ब्रह्मवेत्ताओं का राग-द्वेष पानी की लकीर के समान होता है। पानी में लकीर करो तो वह उसी समय मिट जाती है। इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता का राग-द्वेष दूसरे क्षण तक नहीं ठहरता।

१३. जो अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता वही पशु है। हमें यदि अफीम खाने की आदत है और हम उसे त्याग न सके तो हम पशु ही हैं।

१४. प्रसन्नता से बढ़कर और कोई आहार नहीं। यदि हमारे अन्दर सच्ची प्रसन्नता हो तो फिर भोजन क्या चीज है?

१५. मनुष्य का पाप कैसे दूर होता है ? भगवान्
चिन्तन करने से। और मनुष्य से पाप कैसे होता है ? संसार
चिन्तन करने से।

१६. शरीर स्वस्थ होगा तो बुद्धि शुद्ध होगी, इसी
शरीर को स्वस्थ रखने का प्रयत्न करना चाहिये।

१७. मन को हर समय प्रसन्न रखना चाहिये। प्रसन्नता
मन शान्त होता है।

१८. शरीर की खुराक अन्न है, प्राण की खुराक जल
मन की खुराक भजन है, कान की खुराक भगवद्गुणानुवाद
नेत्र की खुराक भगवद्दर्शन है और हाथों की खुराक भगवान् त
साधु-ब्राह्मणों की सेवा है।

१९. भोग और योग पूछने की चीज नहीं है। भला, व
विषय-भोग की शिक्षा देनेवाले या योग सिखानेवाले स्कूल
हम कुछ करते-धरते नहीं इसी से प्रश्न करते हैं।

२०. सांसारिक वस्तुओं से सुख-शान्ति मिल जायगी—
समझना मूर्खता है।

२१. आज-कल सब मनमानी करने लगे हैं। एक महा
मिले, वे कहते थे कि हम सतयुग, त्रेता, द्वापर आदि युगों
नहीं मानते, हमारे विचार से तो भगवान् बुद्ध से ही सृष्टि आर
हुई है।

२२. ज्ञानी सारे जगत् को ब्रह्ममय देखता है, कृष्ण
कृष्णमय देखता है और रामोपासक सबको राममय अनु
करता है।

२३. बुरी बात में मन चला जाय तो विशेष हानि न
किन्तु बुद्धि नहीं जानी चाहिये। बुद्धि के जाने से बहुत हानि
क्योंकि बुद्धि न्यायाधीश है और मन पेशकार है। पेशकार कि

ही कुछ करे, परन्तु माना तो वही जाता है जो न्यायाधीश का निर्णय होता है।

२४. देश का कल्याण तब तक नहीं हो सकता जब तक यहाँ सिद्ध संत और वीर पुरुष पैदा न हों। समर्थ गुरु रामदास जैसे महात्मा हों और महाराज शिवाजी जैसे वीर हों, तभी देश का कल्याण हो सकता है। आज-कल के लोगों से तो कुछ भी होना कठिन है। भारतवर्ष मे तो सिद्धों और वीरों ने बड़े-बड़े काम किये है।

२५, नेत्र जितने चञ्चल होते है उतनी ही शक्ति नष्ट होती है। बन्द करने से उनकी शक्ति बढ़ जाती है। गान्धारी पति-व्रता थी। उसने कहा कि जब मेरे पतिदेव नहीं देखते तो मैं भी कैसे देखूँगी? और अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली। इससे उसके नेत्रों में अद्भुत शक्ति आ गयी थी। इसी प्रकार संयम से प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति बढ़ जाती है। जो ब्रह्मचर्य से रहेगा उसके शरीर की शक्ति बढ़ेगी और जो वाणी को रोकेगा उसे वाक् सिद्धि प्राप्त हो जायगी। इसी का नाम तप है। आज-कल व्यर्थ गप-शप करके नेत्रों से व्यर्थ जिस-तिस वस्तु को देखकर और कानों से अनाप-शनाप बातें सुनकर अपनी शक्ति नष्ट कर देते हैं।

२६. भारतवर्ष मे तीन चीजें सबसे श्रेष्ठ हैं—गंगा, गीता, गायत्री।

२७. मन में कोई भी वासना होगी तो पुनर्जन्म से छुट-कारा नहीं मिलेगा। इसलिये सब प्रकार की वासनाओं को निकाल दो। रामघाट में एक बड़े अच्छे महात्मा रहते थे। उन्होंने अपनी एक कुटी भी बना रखी थी। एक दिन उन्हें कहीं से दो तीन सोने की मुहरें मिल गयीं। उन्होंने यह सोचकर कि इनसे किसी समय भंडारा कर देंगे, उन्हे एक पुस्तक मे रख दिया। कुछ दिनों बाद वे

तीर्थयात्रा करने बदरीनारायण गये और वहीं उनका शरीर छूट गया। बहुत दिनों पश्चात् एक दिन जब उनके शिष्यों ने उनकी पुस्तकों को धूप में सुखाया तो जिस पुस्तक में मुहरें रखी थीं उसमे एक छोटासा सर्प कुण्डली मारे बैठा मिला। जिस वस्त्र में यह पुस्तक बँधी थी उसमे कोई छिद्र भी नहीं हुआ था। यह देख कर उन्होंने निर्णय किया कि ये वे ही महात्मा हैं। मरते समय उन्हे इन मुहरों का चिन्तन हुआ होगा, इसी से यहाँ सर्प होकर जन्म लेना पड़ा। बस, उन्होंने सर्प को जङ्गल मे छोड़ दिया और मुहरों से उनका भण्डारा कर दिया। ऐसी इस वासना की गति है।

२८. विश्वास करो। विश्वास से सब कुछ हो सकता है, बिना विश्वास कुछ भी नहीं होता। 'अभी थोड़े दिनों की बात है, अमेरिका के एक गाँव मे कुछ स्त्री-पुरुष गिरजे में सम्मिलित होकर वर्षा के लिये भगवान् से प्रार्थना कर रहे थे। उनमें से एक छोटी लड़की झट अपने घर गयी और छाता ले आयी। प्रार्थना समाप्त होने पर सब लोग जाने लगे तो बालिका भी छाता लगाये चलने लगी। उसे छाता लगाये देखकर सब लोग हँसने लगे और बोले, "यह कैसी पगली है, वर्षा का कोई चिह्न नहीं और इसने छाता लगा रखा है।" तब उस बालिका ने बड़े विश्वासपूर्वक कहा, "हाँ, हाँ, अभी मूसलाधार वर्षा होगी, हमने प्रार्थना की है न ?" थोड़ी ही देर में वर्षा होने लगी और सब लोग भीग गये। बालिका छाता लगाये चली गयी। सचमुच ऐसा ही विश्वास होना चाहिये।

२९. जैसे धन और शरीर के घमण्ड होते हैं वैसे ही तर्क-बुद्धि का भी घमण्ड है। भगवत्कृपा होने पर यह नहीं रहेगा।

३०. रात-दिन में मनुष्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि। इनमें से पिछली तीनों

अवस्थाओं में शरीर का भान नहीं रहता । इस दृष्टि से तीनों की समानता होने पर भी इनमें बहुत अन्तर है ।

३१. गुरु, इष्ट, मन्त्र और माला--ये चारों एक हैं । इनमें से एक के जाने से भी साधक व्यभिचारी हो जाता है । अतः इनमें से किसी को भी बदलना नहीं चाहिये । यदि चोरी से भी अपनी माला चली जाय तो उसके साथ आधा भजन चला जाता है । किन्तु ऐसा करने से चुरानेवाले की भी आगे उन्नति नहीं होती । जान-बूझकर अपनी माला दूसरे को देना तो अपनी स्त्री दे डालने के समान है । अतः यावज्जीवन एक ही माला से जप करना चाहिये ।

३२. कर्म चार प्रकार के होते हैं—

(१) जिनमें यहाँ भी सुख और परलोक मे भी सुख हो; जैसे कुआँ, धर्मशाला या बाग आदि लगवाना ।

(२) जिनमें यहाँ भी दुःख और परलोक में भी दुःख हो; जैसे वेश्यागमन, जुआ और मद्यपान आदि पाप-कर्म ।

(३) जिनमें यहाँ सुख और परलोक में दुःख हो; जैसे राग-रङ्ग या भोगों मे मस्त रहना ।

(४) जिनमें यहाँ दुःख और परलोक में सुख हो; जैसे जप, तप, उपवास, व्रत एवं योगाभ्यास आदि ।

३३ प्राण को स्थिर करना ही मनुष्य का प्रधान कर्त्तव्य है और यही मनुष्यजन्म का प्रधान फल है ।

३४. शरीर और प्राण भगवान् की वस्तुएँ हैं, इन्हें भगवान् को ही अर्पण कर देना चाहिये । अर्थात् ऐसा चिन्तन करना चाहिये कि मैं शरीर और प्राण से अलग हूँ । इसे आत्मनिवेदन भक्ति भी कह सकते हैं ।

३५. मनुष्य-शरीर में एड़ी से जंघा तक पृथ्वी का भाग है, जंघा से नाभि तक जल का, नाभि से कण्ठ तक अग्नि का, कण्ठ से भ्रूयुगल तक वायु का और भ्रूयुगल से ऊपर आकाश का भाग है। तथा जीवात्मा इन सबसे अलग इनका साक्षी है।

३६. सिद्धासन का बड़ा महत्व है। यह साक्षात मोक्ष प्रदान करनेवाला है। इसकी विधि इस प्रकार है—पहले योनिस्थान में अर्थात् गुदा और अण्डकोश के बीच में बायीं एड़ी लगावे। फिर दूसरी एड़ी को लिंग के ऊपर स्थापित करे तथा ठोड़ी को नीची करके दृष्टि को स्थिर करे एवं इन्द्रियों को सब ओर से हटाकर अन्तर्मुख करे। इस प्रकार शरीर, प्राण और इन्द्रियाँ स्थिर हो जाने पर मन भी स्थिर हो जायगा।

३७. धर्म के दो प्रकार हैं—सामान्य और विशेष। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि सामान्य धर्म हैं। इनमें मनुष्यमात्र का अधिकार है और किसी भी प्रकार का पारस्परिक विरोध नहीं है। किन्तु विशेष धर्मों में परम्परा से पारस्परिक विरोध रहता है ये ही विभिन्न सम्प्रदायों का रूप धारण करते हैं। भगवद्भजन भी सामान्य धर्म है, किन्तु उसके विभिन्न प्रकार भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की देन हैं।

३८. कर्म, उपासना और ज्ञान—ये तीनों काण्ड अलग अलग हैं। इनमे से कर्मकाण्ड में नियम, उपासनाकाण्ड में प्रेम और ज्ञानकाण्ड में विचार मुख्य है। जहाँ नियम या मर्यादा की प्रधानता रहती है, वहाँ प्रेम गौण हो जाता है। इसी से कर्म-काण्डी का संग करने से प्रेम शिथिल हो जाता है तथा भक्ति में श्रद्धा बढ़ जाने से विचार ढीला पड़ जाता है। अतः अपनी-अपनी निष्ठावालों का ही सङ्ग करना चाहिये।

३९. श्रीराम और श्रीकृष्ण दोनों ही साक्षात् सच्चिदानन्द-

घन भगवान् हैं। परन्तु रामावतार में मर्यादा मुख्य है, प्रेम गौण है और कृष्णावतार मे प्रेम मुख्य है, मर्यादा गौण है। श्रीकृष्ण का बाल-चरित्र तो केवल प्रेममय ही है, जिसका आस्वादन प्रेमीजन ही कर सकते हैं। जब श्रीकृष्ण मथुरा चले आये तो मथुरा और द्वारका की लीलाओं मे तो उन्होंने मर्यादा ही दिखाई है। किन्तु बाललीलाओं में कोई मर्यादा नहीं है, केवल प्रेम ही प्रेम है।

४०. अज्ञान की तीन शक्तियाँ हैं-मल, विक्षेप और आवरण। मल की निवृत्ति पुण्य कर्मों से होती है, भक्ति विक्षेप को दूर करती है और आवरण की निवृत्ति ज्ञान से होती है। इनमें विक्षेप प्रारब्धजनित होता है और शरीर के अन्त तक रहता है।

४१. सृष्टि तीन प्रकार की है-(१) लौकिक, (२) अलौकिक और (३) लोकातीत। जो इन्द्रिय, मन और बुद्धि की विषयभूता है वह लौकिक सृष्टि है। जो सामान्य बुद्धि से अगम्य और भावमयी हो वह अलौकिक सृष्टि है, जैसे बालस्वरूप भगवान के असुरसंहार एवं रासलीला आदि अलौकिक कर्म तथा जो वस्तु, बुद्धि आदि से परे सबकी अधिष्ठानभूत है वह लोकातीत कही जाती है।

४२ सम्पूर्ण धर्मों में केवल पाँच ही प्रकार से उपासना होती है—(१) अग्नि के द्वारा, (२) वायु के द्वारा, (३) आकाश के द्वारा, (४) निराकार रूप में और (५) वेदान्त के अनुसार। अग्नि का गुण रूप है, अतः राम-कृष्णादि रूपों में जो साकार उपासना होती है वह प्रथम कोटि के अन्तर्गत है। प्राणोपासना द्वितीय कोटि के अन्तर्गत है, क्योंकि प्राण वायुमय है। जप और नाद-श्रवण आदि के द्वारा जो शब्दमयी उपासना है वह तीसरी कोटि की है। चतुर्थ और पंचम कोटि तो स्पष्ट ही हैं।

४३. किसी की पूजा करनी हो तो यह देखने की आवश्य-

कता है कि वह इसका अधिकारी है या नहीं । रोटी खिलाने के लिये अधिकारी-अनधिकारी का विचार करने की आवश्यकता नहीं है। यदि एक भी महापुरुष ने भोजन कर लिया तो कल्याण हो जायगा, किन्तु यदि गृहस्थ के घर से एक भी भूखा लौट गया तो वह उसके सम्पूर्ण पुण्यों को ले जायगा और अपने सारे पाप उसके लिये छोड़ जायगा। कहते हैं, कोई राजा एक फकीर के पास गया और बोला कि मैं एक लाख सन्यासियों को भिक्षा कराना चाहता हूँ। महात्मा ने उसे एक घंटी देकर कहा कि जब एक लाख महात्माओं का भोजन पूरा होगा तब यह घंटी स्वयं बज जायगी। राजा प्रति दिन महात्माओं को भोजन कराने लगा। कई लाख साधु भिक्षा पा गये, किन्तु घंटी न बजी। एक दिन शुकदेवजी आये। उन्होंने केवल थोड़ा-सा चावल का माँड़ पिया; बस! उसी समय घंटी बज उठी। सच है, एक ब्रह्मनिष्ठ का भोजन होने पर तो सम्पूर्ण विश्व तृप्त हो जाता है।

४४. तुलसीपत्र सात दिन, बिल्वपत्र पाँच दिन, कमलपुष्प तीन दिन तथा दूसरे फूल एक दिन तक बासी नहीं होते। बिना तुलसी-पत्र पड़े भगवान् का भोग भी नहीं लगता।

४५. चार युग और तीन गुण—ये हर समय बरतते रहते हैं। इनका क्रम इस प्रकार समझो—

(१) सत्ययुग—जिस समय विचार, तप और ध्यानादि में रुचि हो, उस समय सत्ययुग होता है । यह पूर्ण सत्व-गुण की स्थिति है।

(२) त्रेतायुग—जिस समय वर्णाश्रम धर्म तथा अर्थ और काम में विशेष रुचि हो, उस समय त्रेतायुग समझना चाहिये। यह रजोगुण की स्थिति है।

(३) द्वापर—जब लोभ, असन्तोष, मान, दम्भ, मत्सर और

काम्य कर्मों की वृद्धि हो, तब द्वापर का अधिकार समझो। इस समय तमोमिश्रित रजोगुण रहता है।

(४) कलियुग—जब हृदय में कपट, झूठ, तन्द्रा, निद्रा, हिंसा, विषाद, शोक, मोह, भय और दीनता की प्रवृत्ति हो तो यह घोर कलियुग है। इस समय केवल तमोगुण की प्रधानता रहती है।

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में समय-समय पर चारों युग बरतते रहते हैं।

४६. गङ्गाजल, तत्त्ववेत्ता गुरु, गीता, रामायण, अमरबेल, कमलपुष्प और मुरली—ये सात वस्तुएँ भारतवर्ष में ही होती हैं, और कहीं नहीं होतीं।

४७. विद्या का पहला लाभ धर्म है, दूसरा भगवान् की प्राप्ति और तीसरा ज्ञान या प्रेम है।

४८ संसार में तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं—विषयी, भक्त और विवेकी। जिनका संसार में राग होता है वे विषयी हैं। जिनका भगवान् में राग है वे भक्त हैं, और जिनका किसी में भी राग नहीं होता वे विवेकी कहे जाते हैं।

४६. नेत्र तीन होते हैं—(१) चक्षु इन्द्रिय, (२) बुद्धि और (३) मन (हृदय)। चक्षु इन्द्रिय से विषय देखा जाता है, बुद्धि-नेत्र से ज्ञानी देखते हैं और मनोनेत्र उपासकों का है। साकारोपासना तो सर्वथा मनोनेत्र पर अवलम्बित है ही, निराकारोपासना में भी मन की ही प्रधानता है। यदि उपासक बुद्धि से काम लेने लगेगा तो अपनी निष्ठा से गिर जायगा।

५०. मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी। इनमें सत्त्वगुणी पुरुष संसार को कम करते हैं, रजोगुणी संसार को बढ़ाते हैं और तमोगुणी संसार को न बढ़ाते

हैं और न घटाते हैं। ये बीच में ही निद्रा, तन्द्रा और आलस्य में पड़े रहते हैं।

५१. सच पूछा जाय तो हम जो कुछ करते हैं, अपनी प्रसन्नता के लिये ही करते हैं, दूसरे के उपकार का तो केवल भ्रम होता है। किसी को प्यासा देखते हैं तो उससे हमारे चित्त को दुःख होता है, और उस मानस दुःख की निवृत्ति के लिये ही हम उसे जल पिलाते हैं। इसी प्रकार भजन करते हैं तो उससे भगवान् का कोई प्रयोजन थोड़ा ही सिद्ध होता है। वह भी अपने अन्तःकरण की शान्ति के लिये ही होता है। इस प्रकार संसार में जो कुछ काम किया जाता है वह अपने सुख के लिये ही होता है। ऐसी दृढ़ निष्ठा हो जाने से अनेकता का त्याग हो जाता है, और एकता में दृढ़ निष्ठा हो जाती है।

५२. भोजन के समय सात्त्विक विचार रहने चाहिये, क्योंकि सात्त्विक भोजन सात्त्विक विचार के साथ होने पर नस-नस में प्रविष्ट हो जाता है और बहुत अच्छे विचार उत्पन्न करता है।

५३. पुरुषार्थ और भगवत्कृपा ये दोनों भिन्न-भिन्न चीजें हैं। पिता जो नियम बना दे उन पर चलना पुत्र का कर्त्तव्य है। इसी प्रकार ईश्वर के आदेशरूप शास्त्रवाक्यों के अनुसार आचरण करना जीव का कर्त्तव्य है और इसी का नाम पुरुषार्थ है। किन्तु कृपा करने में पिता स्वतन्त्र होता है, वह अपने किसी भी पुत्र पर कृपा कर सकता है। अतः भगवत्प्राप्ति का मुख्य साधन तो भगवत्कृपा ही है, किन्तु साधक का कर्त्तव्य पुरुषार्थ ही है।

५४. जिस गृहस्थ के घर में अतिथियों का सत्कार होता है, ब्राह्मणों का पूजन होता है, साधुओं की सेवा होती है और सब लोग परस्पर प्रेम से रहते हैं, वह घर वास्तव में स्वर्ग ही है।

उपासना–खण्ड

(२)

भजन की आवश्यकता

प्र०—भजन करने से क्या लाभ है ?

उ०—भजन से प्रेमस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है।

प्र०—भजन न करने से क्या हानि है ?

उ०—भजन न करने से विषयों की प्राप्ति होगी। विषय अनित्य हैं, अतः नाश होने पर उनके कारण दुःख होगा। हम अवगुणी हैं, दीन हैं, दुखिया हैं—ऐसी भावना को दूर करने के लिये भी भजन करना आवश्यक है।

प्र०—महाराजजी ! संसार में बहुत पाप होने लगा है। कैसे होगा ?

उ०—भैया जो तुम्हारे लाला करेंगे वही होगा। तुम क्यों फिक्र करते हो ? जिसने इस संसार को बनाया है वह स्वयं इसकी चिन्ता कर लेगा। तुम्हें तो अपने लाला का भजन करते रहना चाहिये।

× × × ×

प्र०—भजन और सत्सङ्ग में कौन श्रेष्ठ है ?

उ०—जिससे वृत्ति भगवदाकार हो जाती है वही भजन है। सत्सङ्ग, सेवा, नामजप और ध्यान इन सभी से वृत्ति भगवदाकार होती है। अतः ये सभी समान हैं।

प्र०—भजन में अधिक समय लगाना चाहिये या सत्सङ्ग में?

उ०—वैधी या गौणी भक्तिवाले को तो सत्सङ्ग में अधिक समय लगाना चाहिये, किन्तु अनुरागात्मिका भक्तिवाले को भजन में ही अधिक समय लगाना उचित है। शास्त्र की परम्परा से भक्ति करने के क्रम को वैधी भक्ति कहते हैं तथा अनुरागात्मिका भक्ति वह है जब भजन किये बिना रहा ही न जाय। इसके पश्चात् प्रेमलक्षणा भक्ति स्वतः ही प्राप्त हो जाती है।

प्र०—भजन करने में संचित कर्म बाधा देते हैं या नहीं ?

उ०—भजन करने के लिये दृढ़ता की आवश्यकता है। दृढ़ संकल्प हुए बिना तो सभी बाधा देते हैं। उनमें भी कुसङ्ग के समान और कोई बाधा नहीं देता। संचित कर्म इसमें कोई बाधा नहीं दे सकता। यह तो भजन न करने वाले को ही बाधा दे सकता है। सत्सङ्ग, सच्छास्त्रविचार और भजन से संचित कर्म दब जाते हैं। भक्तों के जीवन-चरित्र पढ़ने से भजन में जितनी रुचि बढ़ेगी उतनी भगवान् के चरित्रों से भी नहीं होगी। भक्तों ने भगवान् को प्रकट किया है, इसलिये भक्त भगवान् से भी बढ़कर हैं। भक्तों के गुणों का गान भगवद्गुणगान से भी बढ़कर है। स्वल्प पुण्यवालों को भगवान् के प्रसाद, नाम-गुणगान, भक्तचरित्र और भगवद्विग्रह में प्रीति नहीं होती। जिसका भक्तोंमें प्रेम हो गया वह तो भगवान् के प्रेम का अधिकारी हो ही गया।

प्र०—क्या भक्त को फिर मनुष्यजन्म मिलेगा ?

उ०—वह मनुष्योचित कर्म करेगा तो मनुष्यजन्म मिलेगा। एक श्रीराधावल्लभजी का उपासक था। एक समय उसे सन्निपात होगया। उसमें भी वह श्रीराधा-कृष्ण-सम्बन्धी पद ही गाता रहा। दूसरा एक ठेकेदार था। उसे भी सन्निपात हुआ। उसमें वह 'अरे! कंकड़ कूटो। मजदूरों को बुलाओ' ऐसा ही कहता रहा। उसे भगवन्नाम लेने को कहा गया, परन्तु वह ले न सका। इसी से कहा है—'सदा तद्भावभावितः।'

× × ×

प्र०—मनुष्य-जीवन का प्रधान लक्ष्य क्या होना चाहिये?

उ०—मननशील को मनुष्य कहते हैं। उसके दो लक्ष्य होने चाहिये—एक ईश्वरप्रेम और दूसरा शास्त्रोक्त व्यवहार।

प्र०—सत्सङ्ग करते रहने पर भी वैराग्य क्यों नहीं होता?

उ०—वैराग्य होने का कारण है-भगवान् में आसक्ति होना और वह होती है भगवान् के भजन से। सत्सङ्ग भी एक प्रकार का भजन ही है। इसके दृढ़ अभ्यास से भगवान् में आसक्ति होने पर वैराग्य होगा।

प्र०—भजन और वेदान्त में क्या भेद है?

उ०—भेद की बात मत पूछो। बस, भजन करते जाओ।

प्र०—क्या भजन में वेदान्त बाधक है?

उ०—भगवान् को पाने के अनेक मार्ग है। उनमें भगवान् श्रीकृष्ण को पाने का मार्ग तो है भजन और ज्ञानप्राप्ति का साधन है वेदान्त। इनमें से किसी एक ही मार्ग को अनन्य भाव से पकड़ना चाहिये। तभी सफलता होगी।

प्र०—भजन बनता नहीं।

उ०—इसलिये नहीं बनता कि उसमें आसक्ति नहीं।

प्र०—भजन में आसक्ति कैसे हो ?

उ०—लगातार भजन करने से ही भजन में आसक्ति होगी। जो भजन न करके यों ही प्रेम पाना चाहते हैं वे तो मूर्ख हैं।

प्र०—क्या करें, सांसारिक भोगों की आसक्ति बनी हुई है, इससे भजन मे मन नहीं लगता। यह विषयों की आसक्ति कैसे हटे ?

उ०—लोहा लोहे से ही कटता है। अतः आसक्ति से ही आसक्ति दूर होगी। जिसकी संसार में बहुत आसक्ति है उसको अपनी वह आसक्ति भगवान् में लगा देनी चाहिये। फिर ज्यों-ज्यों भगवान् मे आसक्ति होगी त्यों-त्यों ही संसार की आसक्ति घटती जायगी। तब तो आप से आप ही भजन होने लगेगा। और वह भजन ऐसा होगा कि उसका एक कण भी बहुतेरे पापियों को पवित्र कर देगा।

प्र०—महाराज जी! उपासना मे रुचि कैसे हो ?

उ०—उपासना करने से ही उपासना में रुचि हो सकती है। जिसका जो इष्ट हो, उसे निरन्तर उसी का चिन्तन करते रहना चाहिये। हम जिसकी निरन्तर भावना करेंगे वह वस्तु हमे अवश्य प्राप्त हो जायगी। उपासक तो एक नई सृष्टि पैदा कर लेता है। इस प्राकृत संसार से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता।

प्र०—भगवन्! ऐसी दिव्य दृष्टि कैसे प्राप्त हो ?

उ०—वह तो भगवद्भजन से ही प्राप्त हो सकती है भजन से ऐसी कौन चीज है जो प्राप्त नही हो सकती। इससे अष्टसिद्धि और निर्विकल्प समाधि भी प्राप्त हो सकती है। ऐसे महानुभावों को ही दिव्य वृन्दावन के दर्शन होते हैं। साधारण बुद्धिवाले उसे कैसे देख सकते हैं ? भक्तों की तो सृष्टि ही अलग होती है।

प्र०—उनकी सृष्टि कैसी होती है ?

उ०—जिसमें निरन्तर रास हो रहा है।

प्र०—वह कैसे दीखे ?

उ०—जो इस दुनियाँ से अन्धे हैं उन्हे ही वह रास दिखायी देता है।

× × ×

१. शास्त्र में कहा है—'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' अर्थात् जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन विरक्त होकर चला जाय। इस लिये यदि कोई भजन तथा ब्रह्मचर्यपालन में विरोध करे तो उसकी बात नहीं माननी चाहिये।

२. प्रारम्भ में यदि कोई दम्भ से भी भजन करता हो तो भी उसका विरोध नहीं करना चाहिये; क्योंकि साधुसङ्ग निरन्तर होने से धीरे-धीरे उसका दम्भ छूट जायगा और वास्तविक भजन होने लगेगा। इसलिये भजन न करने की अपेक्षा दम्भ से भी भजन करने वाला अच्छा है। भजन की नकल करना भी उत्तम है, क्योंकि वह सच्चे भजन में भी लग सकता है।

'भाव कुभाव अनख आलसहूँ। नाम जपत मङ्गल दिसि दसहूँ॥'

३. भगवद्दर्शन की इतनी चिन्ता न करें, भगवच्चिन्तन की अधिक चिन्ता करे। किसी भी प्रकार परमात्मा की शरण में जाने से माया छूट सकती है। जब तक हम और परमात्मा दोनों रहते हैं, तब तक तल्लीनता नहीं।

४. दुनिया का चिन्तन करते हुए तुम ज्ञानी या भक्त बनना चाहो तो यह त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। भगवन्नाम इसीलिये अखण्ड रूप से जपा जाता है जिससे दुनिया का चिन्तन न हो। गुरु नानकदेव कहते हैं—

अलिफ अल्लाहनु याद कर, गफलत मनो बिसार ।
स्वासा पलटै नाम बिनु, धिग जीवन संसार ॥

५. ज्ञान और भक्ति क्या कोई खेल की चीजे हैं। ज्ञानी और भक्त को दुनिया की बाते करने की फुर्सत कहाँ होती है। केवल आवारा आदमी ही दूसरों की निन्दा या स्तुति किया करते हैं।

६. जिसको संसार में दुःख मालूम होता है, वही उससे छूटने की चेष्टा करता है, क्योंकि हम ऐसा नित्य-सुख चाहते है, जिसमें दुःख का लेश भी न हो।

७. चित्त में निरन्तर भगवान् का चिन्तन रहना चाहिये। वैराग्य की स्थिति भी चिन्तन से ही रह सकती है। यदि चित्त चिन्तन से खाली होगा तो मोह मे फँसेगा; मोह न भी हुआ तो तमोगुण ही बढ़ जायगा। किन्तु भगवच्चिन्तन रहेगा तो मोह, काम या तमोगुण किसी का प्रभाव नहीं पड़ेगा। अतः—

घर मे बाहर पंथ मे, कहूँ रहे यह देह।
तुलसी सीताराम सों, लाग्यो रहे सनेह॥

८. आज-कल कोई ठीक तरह से भजन नहीं करता। जैसा भजन किया जाता है, उससे कोई सिद्धि नहीं हो सकती। यदि विधिवत् भजन किया जाय तो फौरन लाभ होगा। देखो, एक बार क्रोध करने से एक मास का भजन नष्ट हो जाता है। यदि एक साल में बारह बार क्रोध आ जाय, तो सोचो कि कितना भजन बाकी रहा।

९. जिसको विषय में दुःख प्रतीत होता है, वही भजन कर सकता है। जिसे विषयानन्द की चाट लगी है उससे भजन नहीं हो सकता।

१०. यदि तुम भगवान् को प्राप्त करना चाहते हो, तो भजन करो।

११. निर्बलता बलवान् का सहारा लिये बिना नहीं जाती; इसलिये सबसे बड़े बलवान् का सहारा लेना चाहिये। सबसे बड़े बलवान् तो भगवान् ही हैं। अतः उन्हीं का सहारा लेना उचित है।

१२. हमारे पापो का कुछ ठिकाना है ? न जाने चौरासी लाख योनियों मे कितने पाप किये है। फिर तुम जो समझते हो कि चार दिन भगवन्नाम लेने से ही आनन्द आ जाय, यह कैसे हो सकता है। इतने पाप कैसे नष्ट होंगे ? हॉ, भजन करते रहने से धीरे-धीरे सब नष्ट हो जायेंगे।

१३ भगवान् के स्मरण चिन्तन में इतना बल है कि वह अभय पद की प्राप्ति करा देता है। भगवान् के स्मरण-चिन्तन करनेवाला ही तो वास्तव में भक्त है। भगवान् का स्मरण करके दुष्ट से दुष्ट प्रकृति का मनुष्य भी अपना उद्धार कर सकता है।

१४. केवल श्रद्धा की और भजन न किया तो कुछ भी नहीं होगा। श्रद्धा के साथ-साथ भजन भी आवश्य करो। मान लो, तुम्हारी श्रद्धा तो दान करने की है, परन्तु करते नहीं हो तो उससे क्या होगा ? इसलिये काम तभी चलेगा जब श्रद्धा भी हो और भजन भी।

१५. भगवान् के भजन से चार बातों की प्राप्ति होती है-

(१) भगवान् के ऐश्वर्य का अनुभव।

(२) तात्कालिक अर्थात् दृष्ट दुःख का अभाव।

(३) रजोगुण-तमोगुण का अभाव।

(४) आनन्द की प्राप्ति अर्थात् जन्म-मरण का अभाव।

भजन का अधिकारी

प्र०—जो पुरुष पापों में प्रवृत्त है, क्या वह भजन-साधन में लग सकता है ?

उ०—हम तो यही नहीं समझते कि पापी कौन है। साधारणतया तो जो पुरुष भगवान् से विमुख और अशास्त्रीय कर्मों में प्रवृत्त है उसे ही पापी कहा जाता है। किन्तु सम्भव है, उसमें पूर्वजन्म की सञ्चित कोई ऐसा सामग्री हो जिससे उसकी प्रवृत्ति भगवान् की ओर हो जाय।

प्र०—गीताजी में कहा है—

'अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥'

इससे तो मालूम होता है कि पापी मनुष्य भी भजन कर सकता है।

उ०—जो भगवान् का भजन करता है उसे पापी कैसे कह सकते हैं ? किन्तु कहीं-कहीं ऐसा भी देखा जाता है कि किसी-किसी पापात्मा की भी भजन में प्रवृत्ति हो जाती है। ऐसा भगवान् की कृपा से ही होता है, जैसे कि सूरदास जी। ऐसा कोई नियम नहीं है कि पापी भजन में प्रवृत्त हो ही नहीं। इस विषय में मैंने एक घटना स्वयं देखी है। एक बार तारकेश्वर में एक बड़ा धनी पुरुष आया था। वह बड़ा ही दुर्व्यसनी था। एक दिन वह मद्य-पान कर रहा था। उसी समय उधर होकर एक महात्मा निकले। उसने उन्हें बुलाकर कहा, 'आओ, एक प्याला पीलो' महात्माजी ने कहा, 'अरे ! अब तो तेरी मृत्यु थोड़ी ही रह गयी है। क्या अभी इस दुर्व्यसन से तेरी तृप्ति नहीं हुई ?' इतना कहकर

महात्माजी तो चले गये, किन्तु उसका चित्त उसी समय से बदलने लगा, । उसने शराब की सारी बोतलें फोड़ डालीं । बस, वह घर लौट आया और भजन-ध्यान में लग गया । वह पन्द्रह दिनों के लिये खाद्य सामग्री रख लेता और घर के भीतर बन्द रहकर भजन-ध्यान में लगा रहता । कुछ दिन बाद उसकी धर्म-पत्नी भी इसी प्रकार भजन में संलग्न रहने लगी । इस प्रकार महात्माजी के एक क्षण के संसर्ग से ही उसका जीवन सर्वथा बदल गया ।

प्र०—पाप होता कैसे है ?

उ०—संसार के चिन्तन से ।

प्र०—पाप दूर कैसे हो ?

उ०—भगवान् के चिन्तन से ।

प्र०—महाराज जी, जो भक्ति नहीं करता, किन्तु जिसके आचरण शुद्ध हैं और जो देश की सेवा भी करता है वह कैसा है ?

उ०—क्या यह भक्ति नहीं है ?

प्र०—नहीं वह तो देश की सेवा ही करता है ।

उ०—क्या संसार भगवत्स्वरूप नहीं है ?

प्र०—किन्तु यदि वह ईश्वर को मानता ही न हो, केवल देश-सेवा ही करता हो ?

उ०—जो ईश्वर को नहीं मानता उसका कल्याण कदापि नहीं हो सकता । प्रत्येक प्राणी को भगवत्स्वरूप समझो । अच्युत-भाववर्जित जो भी कर्म करोगे वह निष्फल ही होगा । अच्युतभाव के बिना तो ज्ञान भी निष्फल है । आज-कल लोग ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त हो जाते हैं । इसी से ईश्वर को नहीं मानते । जब यह मद उतर जाता है तो झट ईश्वर में विश्वास हो जाता है ।

× × × ×

१. जो भगवन्नाम लेगा वह शुभ कर्म अवश्य करेगा। यदि उसके कोई पूर्व पाप हों तो वे सब भी भगवत्कृपा से छूट जायँगे।

२. भगवान् कल्पवृक्ष है। जो जिस इच्छा से उनके पास जाता है उसे वही मिलता है। जीव की स्वाभाविक चाह है कि मैं सदा सुखी रहूँ। वह जितना ही अधर्म से (माया से) डरेगा, उतना ही भगवत्-सुख बढ़ेगा।

३. चराचर जगत् भगवान् से भिन्न नहीं है—ऐसा जानकर जो भगवान् का स्मरण करता है, वह सुखी है।

४. मौन से लाभ तो अभ्यासी पुरुष को ही हो सकता है। जो अभ्यासी नहीं है उसे मौन से कोई लाभ नहीं हो सकता, वह तो मौन रहकर मनोराज्य ही करेगा, जिससे तमोगुण की वृद्धि होगी। इसी प्रकार एकान्त से भी निर्वासनिक पुरुष को ही लाभ हो सकता है। सामान्य मनुष्य तो एकान्त मे रहकर मनोराज्य ही करते हैं। उन्हे उससे कोई लाभ नहीं होता।

५ मजदूर दिन भर काम करता है तो भी उसे केवल आठ आने रोज मिलते हैं और एक कलक्टर प्रतिदिन दो घंटे काम करने पर ही ढाई हजार रुपया मासिक वेतन पाता है। बड़े लोग थोडे समय में ही बहुत ऊँचा काम कर लेते हैं। इसी प्रकार जो सच्चे साधक होते हैं उन्हें पाँच मिनट में ही जो भजनानन्द मिलता है वह दूसरों को दिन भर लगे रहने पर भी नहीं मिलता। वे उतने ही समय में एकदम प्रेम मे मस्त हो जाते हैं।

६. जिसकी भजन मे आसक्ति नहीं है उसे एकान्त में नहीं रहना चाहिये। उसे सत्संग करना चाहिये। यदि सत्सङ्ग न मिले तो शास्त्र का ही संग करे।

७. जो भजन करते हुए यह चाहता है कि मुझे ज्वर न हो, कष्ट न हो, उसे भगवान् चौदह जन्मों में भी नहीं मिल सकते। दुःखों को सहन करते हुए भगवान् का स्मरण करते चलो-इसी का नाम मुक्ति है। भगवच्चिन्तन में जो आनन्द है वह तो समाधि में भी नहीं है। एक दिन श्रीजी भगवान् को पंखा झल रही थीं। उस समय उन्हें अकस्मात् समाधि हो गयी और पंखा हाथ से गिर गया। जब चेत हुआ तो श्रीजी ने कहा, 'हमे ऐसी समाधि नहीं चाहिये, जो हमें सेवा से वञ्चित रखे।' सचमुच सेवा के आगे समाधि-क्या चीज है ?

८. जब तक विषय का राग न छूटे तब तक बराबर भजन, साधन एवं स्वाध्याय में लगा रहे। यदि वृत्ति भगवदाकार रहने लगे तथा भजन में राग न रहे तो फिर कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। जिसे इष्टदेव का साक्षात्कार हो जाता है उसे कभी किसी भी अवस्था में इष्ट की विस्मृति नहीं होती। इसी का नाम निष्ठा है। ऐसे निष्ठावान् व्यक्ति की मस्ती का क्या कहना ?

९. भक्त और अभक्त दोनों ही भोजन करते हैं। किन्तु भक्त तो शरीर-रक्षा की दृष्टि से भोजन करता है और अभक्त स्वाद के लिये खाता है यही दोनों में अन्तर है।

१०. आचारभ्रष्ट पुरुष को भक्ति का उदय नहीं होता।

११. असात्त्विक आहार, ग्राम्य कथा और ग्राम्य भावनाओं को त्यागने से भक्ति का उदय होता है।

भजन का स्वरूप

प्र०—भजनीय तत्त्व क्या है ?

उ०—भजनीय तत्त्व भगवान् हैं। वे साकार-निराकार-स्वरूप हैं।

प्र०—भजन का स्वरूप क्या है ?

उ०—भगवदाकार तैलधारावत् वृत्ति भजन का स्वरूप है।

प्र०—भजन के योग्य चित्त कैसे बनता है ?

उ०—गुरु और शास्त्र में पूर्ण श्रद्धा होने से भजन की योग्यता प्राप्त होती है। स्त्री-पुत्र और धनादि की आसक्ति छोड़ने से ही चित्त भजन के योग्य बनता है।

प्र०—भजन कहाँ करना चाहिये ?

उ०—गृहस्थके लिये स्त्री-बालक आदि से रहित एकान्तस्थान में और विरक्त के लिये जनशून्य अरण्य में कुटी होनी चाहिये।

प्र०—भजन में विघ्न क्या हैं ?

उ०—विषयासक्ति और विषयी पुरुषों का सङ्ग भजन में प्रधान विघ्न हैं।

प्र०—भजन में क्या आवश्यक है ?

उ०—शास्त्रविहित कर्मों में निपुणता और सात्त्विक व्यवहार तथा गीता के सत्रहवें अध्याय में कहे हुए शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप परम आवश्यक हैं। तीनों ही तरह की तैयारी करनी पड़ती है।

प्र०—भक्ति का मुख्य साधन क्या है ?

उ०—श्रीभगवान् का गुणगान करना ही भक्ति का मुख्य साधन है। श्रीवृन्दावन में रहने से यह साधन सुलभ रहता है।

प्र०—भगवत्प्राप्ति का क्या उपाय है ?

उ०—भगवन्नाम स्मरण करना, भगवान् की सेवा करना, भगवद्भक्तों की सेवा करना, भगवद्भक्तों का संग करना, भगवान् का गुणानुवाद करना, भगवद्भक्तों की जीवनी पढ़ना, भगवान् का ध्यान करना, भगवान् का नामसंकीर्तन करना और भगवान् में आसक्ति हो जाना ही भगवत्प्राप्ति का उपाय है।

प्र०—भगवद्भक्तों को किन-किन बातों से बचना चाहिये ?

उ०—(१) मतमतान्तरों के झगड़े से बड़ी भारी हानि होती है; अतः एक-दूसरे पंथ की निन्दा न करे।

(२) कपट-व्यवहार का सर्वथा त्याग करे।

(३) स्त्री, बालक और मूर्खों का संग न करे।

(४) प्रतिदिन कुछ समय के लिये एकान्तवास करे।

(५) विषयी मनुष्यों का संग त्याग करें।

(६) विषय-चिन्तन का त्याग करे।

(७) विषयों के संग से सर्वथा डरता रहे।

(८) परनिन्दा का त्याग करे।

(९) इन्द्रियलोलुपता भी भजन में बाधक है। इसका भी त्याग करे।

प्र०—भजन करने में रुचि कैसे बढ़े ?

उ०—भजन करने से ही भजन में रुचि बढ़ती है।

प्र०—सत्संग करने से भी भजन में रुचि क्यों नहीं होती ?

उ०—पाप की अधिकता होने के कारण नहीं होती। सत्संग से तो श्रद्धा और भजन में भी रुचि बढ़ती ही है।

प्र०—कभी-कभी तो स्वाभाविक ही भजन में रुचि होजाती है और कभी चेष्टा करने पर भी नहीं होती। इसमें क्या हेतु है ?

उ०—इसमें हेतु है सत्त्व, रज और तम की प्रवृत्ति (मन न

लगने पर भी) नियमपूर्वक भजन करने से रज और तम की निवृत्ति हो सकती है।

प्र०—भजन किसका करना चाहिये ?

उ०—जो सबसे बड़ा हो। शुद्ध ब्रह्म पृथ्वी, शबल ब्रह्म बीज, हिरण्यगर्भ अंकुर, विराट् वृक्ष और अवतार फल है। जिसको फल खाने की इच्छा हो उसको अवतारी भगवान् का ही भजन करना चाहिये।

प्र०—भगवान् में प्रेम और संसार से वैराग्य कैसे हो ?

उ०—मैं तो संसार से वैराग्य का प्रयत्न करना कमजोरी समझता हूँ। भगवान् में राग होने से संसार में वैराग्य स्वतः ही हो जायगा। हमें तो भगवान् में राग करने का ही प्रयत्न करना चाहिये।

प्र०—भगवान् में राग कैसे हो ?

उ०—भगवच्चिन्तन ही भगवान् में राग होने का साधन है। हमें तो भगवान् का चिन्तन करने का ही प्रयत्न करना चाहिये।

प्र०—चिन्तन किस प्रकार किया जाय ? भगवन्नाम का या रूप का ?

उ०—नाम और रूप का साथ-साथ चिन्तन करना चाहिये। बस, भगवान् का नाम लेते रहें और रूप देखते रहें।

प्र०—किन्तु स्मरण के लिये भी तो राग की आवश्यकता है ?

उ०—काम करने पर ऐसे प्रश्न नहीं होंगे। बिना राग के नाम स्मरण करते रहने से ही राग की प्राप्ति होती है, आरम्भ में किसी को राग नहीं होता।

प्र०—स्मरण करते समय भगवान् के दर्शन की इच्छा रक्खे या नहीं ?

उ०—अच्छा तो इच्छा न रखना ही है, रखे तो भी कोई हर्ज नहीं। परन्तु भगवान् के नाम, रूप, लीला और धाम को कल्पित न समझे।

प्र०—भगवान् का रूप दिखायी क्यों नहीं देता ?

उ०—मन्दिर में जाकर देखो, क्या है ? वृन्दावन में जिन मन्दिरों में एक-एक दिन में तीन सौ, चार सौ रुपये का भोग लग जाता है, वे क्या यों ही हैं ? क्या भगवान् वहाँ नहीं है ? तुम्हें विश्वास तो है नहीं !

प्र०—भगवान् का निरन्तर चिन्तन कैसे हो ?

उ०—अपने शरीर का चिन्तन करने के लिये क्या किसी प्रयत्न की आवश्यकता है ? (इसी प्रकार भगवान् भी तो अपने आत्मा ही हैं।) उनका चिन्तन करना पड़ता है, परन्तु पीछे तो वैसा स्वभाव ही पड़ जाता है। बालक को कितना परिश्रम करना पड़ता है, परन्तु पीछे तो विद्या अभ्यस्त हो ही जाती है।

प्र०—आरम्भ में अभ्यास में कैसे प्रवृत्ति होती है ?

उ०—सत्सङ्ग से ही अभ्यास में प्रवृत्ति होती है। गुरु की जैसी आज्ञा हो, आँख मूँदकर वैसा ही करे। आरम्भ में स्वरूप-ज्ञानादि का विचार न करे।

प्र०—सत्सङ्ग कैसे मिलता है ?

उ०—सत्सङ्ग की प्राप्ति पूर्वपुण्य से ही होती है। संतों की कृपा से ही उनकी पहचान होती है।

प्र०—महात्माओं की कृपा कैसे हो ?

उ०—महात्माओं की कृपा तो सभी पर है। परन्तु उनमें अनुराग हुए बिना उसकी पहचान और उसमें विश्वास नहीं होता। मुझे कानपुर के पास एक महात्मा मिले थे। उन्होंने एक दृष्टान्त दिया था कि जिस प्रकार सूर्य सर्वत्र समान रूप से प्रकाश

करता है उसी प्रकार महात्माओं की कृपा भी सब पर समान रूप से रहती है; किन्तु बादल का आवरण आ जाने से जैसे उस प्रकाश की उपलब्धि नहीं होती, वैसे ही मनुष्य के पापों के कारण उसे संतकृपा का अनुभव नहीं होता।

× × ×

प्र०—महाराज जी ! भगवान् कैसे मिले ?

उ०—अरे ! भगवान् से कौन मिलना चाहता है ? सब यही चाहते हैं कि स्त्री, पुत्र या धन मिल जाय। हर समय श्वास-श्वास पर भगवान् की याद करो; फिर देखो, भगवान् कैसे नहीं मिलते।

प्र०—बाबा ! जब हम भजन करते हैं तो हमारा मन कभी साकार में लगता है, कभी निराकार में तथा कभी श्रीराम की उपासना करना चाहता है और कभी श्रीकृष्ण की। इसमें ठीक क्या है और हमें क्या करना चाहिये ?

उ०—जो कुछ गुरु बतावें वही ठीक है। मनमाना साकार या निराकार कुछ भी ठीक नहीं है। गुरुदेव के आदेशानुसार किसी एक को इष्टदेव मानकर गुरु के उपदेश किये हुए मन्त्र का जप और इष्टदेव के रूप का ध्यान करना चाहिये।

प्र०—यदि हम श्रीकृष्ण का ध्यान करते है तो हमारे ध्यान में कभी श्रीराम, कभी हनुमान और कभी श्रीशंकरजी आ जाते हैं। यह क्या बात है ? इस विघ्न की निवृत्ति कैसे हो ?

उ०—ध्यान में आते हैं तो आने दो, घबराओ मत। बस, अपने-अपने इष्टमन्त्र का जप किये जाओ। उसे मत छोड़ो। इसी में कल्याण है।

प्र०—भगवच्चिन्तन करते समय चित्त संसारी विषयों में चला जाता है; इसके लिये क्या करें ?

उ०—बस, चिन्तन ही करो। चिन्तन करते-करते जब सच्ची आसक्ति हो जायगी तब चित्त इधर-उधर कभी नहीं जायगा। फिर तो भगवान् के सिवा कुछ भी नहीं सुहावेगा। कहा भी है—

तिन खान-पान नहिं भावै है। नहिं कोमल बसन सुहावै है॥
तिन विषय भोग सब खारा है। हरि आशिक का मग न्यारा है॥

प्र०—भजन-ध्यान में निद्रा बहुत आती है। इसे दूर करने का क्या उपाय है?

उ०—निद्रा आने का मुख्य कारण है भजन में आसक्ति न होना। अतः आसक्ति होने से ही इसकी निवृत्ति हो सकती है। यही इसका मुख्य उपाय है। इसके लिये कुछ अन्य उपाय ये हैं—

(१) जब ध्यान या जप करते हुए नींद आने लगे तो ध्यान छोड़कर पाठ या गुणगान करने लगो। इस प्रकार पदकीर्तन या नाम-संकीर्तन इसमें बहुत सहायक होंगे।

(२) अपने इष्टदेव के चरित्रों में चित्त ले जाकर उसे द्रवीभूत करो। उनके स्मरण में चित्त इतना डूब जाय कि शरीर की सुधि न रहे।

(३) भगवान् के विरह में रोने से चित्त द्रवीभूत होता है और इससे जब सत्त्वगुण का आविर्भाव होता है तो स्वतः ही तमोगुणजनित निद्रा-तन्द्रा के लिये कोई अवकाश नहीं रहता।

(४) यदि चार पाँच आदमी एक स्थान पर इकट्ठे बैठकर जप या ध्यान करें तो निद्रा नहीं आवेगी।

(५) भय से भी नींद नहीं आती। अतः गुरुदेव के सामने बैठकर जप-ध्यान करने से नींद कदापि नहीं आवेगी।

(६) झुककर बैठने से सुषुम्ना बन्द हो जाती है। अतः मेरुदण्ड सीधा रखना चाहिये और शरीर को ढीला रखना चाहिये। इससे शान्ति और समता बढ़ने लगती है तथा रोमांच होने लगता है।

(७) निद्रा शेष रह जाने से भी नींद आया करती है। अतः भजन के लिये बैठने से पहले आवश्यक निद्रा ले लेनी चाहिये।

प्र०—सम्पत्ति और विपत्ति क्या है ?

उ०—भगवान् का स्मरण ही सम्पत्ति है और भगवान का विस्मरण ही विपत्ति है।

प्र०—भजन के विघ्न क्या हैं ?

उ०—(१) भजन से विमुख पुरुषों का सङ्ग।
(२) अधिक बोलना।
(३) विषय-भोग की इच्छा।
(४) अधिक निद्रा।
(५) अति भोजन।
(६) हँसी-मजाक।
(७) स्त्री,पुत्रादि में अधिक आसक्ति होना।
(८) क्रोध।
(९) हिंसा।
(१०) कामविकार।
(११) निन्दादि सहन न कर सकना !
(१२) स्वयं दूसरों की निन्दा करना।
(१३) आलस्य।
(१४) शौकीनी।
(१५) प्रसिद्धि।

(१६) मान-बड़ाई।
(१७) गुरुपन।
(१८) परदोषचिन्तन।
(१९) दिखावट।
(२०) आवश्यकताओं को बढ़ा लेना !

× × ×

१. इष्टदेव के अनन्त नाम और अनन्त रूप है। किन्तु हमको एक नाम और एक रूप में ही अनन्य प्रेम होना चाहिये।

२. भगवान् को निवेदन करके जो वस्तु खाते हैं उसे प्रसाद कहते हैं। ब्रजवासियों का तो टुकड़ा ही महाप्रसाद है।

३. भगवान् का निरन्तर चिन्तन ही भजन का तरीका है।

४. भजन में जितनी बाधक परनिन्दा है उतना और कोई नहीं है।

५. चोरों को जैसे चोरी की चिन्ता में नींद नहीं आती, ऐसी वृत्ति जब भजन मे होगी तभी कुछ मिलेगा।

६. सन्त श्री नारायणस्वामीजी ने क्या ही अच्छा कहा है-

'सुने न काहू की कही, कहे न अपनी बात।
नारायण वा रूप मे, मगन रहे दिन-रात॥'

७. निष्ठा एक ही होनी चाहिये, किन्तु वह दृढ़ हो। ब्रज में एक महात्मा थे। उनके पास एक भक्त आया। उसने कहा, 'मुझे दीक्षा दीजिये।' उन्होंने कहा, 'तुम 'राधे-राधे' कहो और गोवर्धन की नियम से परिक्रमा किया करो। कुछ काल पश्चात तुम्हें उपदेश करेगे। उसने दृढ़ विश्वास करके ऐसा ही किया। कालान्तर में वह बड़ा सिद्ध महात्मा हो गया। तब उसको गुरुजी ने कहा, 'अब तुम्हें दीक्षा दूँगा।' वह बोला—महाराज ! मेरी दीक्षा तो हो चुकी, अब मुझे दीक्षा की आवश्यकता नहीं है।'

८ मंगलमय श्रीहरि का सम्मान करो, बार-बार उनका स्मरण करो, प्रत्येक वस्तु मे उन्हीं को देखो, निरन्तर उन्हीं से प्रीति करो, उनके विरह में रोओ और उन्हीं की याद मे आँसू बहाओ।

९. रुक्मिणीजी से भगवान् ने कहा कि तुमने सब राजाओं को छोड़कर मुझे पति क्यों बनाया? तब वह बोलीं, 'महाराज! जिस परमात्मा की प्राप्ति की इच्छावाले सम्राट् एवं राजा लोग अपने सम्पूर्ण राजवैभव को तिलाञ्जलि देकर चले जाते हैं, उन आपकी तुलना इन राजाओं के साथ नहीं हो सकती। आप तो राजराजेश्वर साक्षात् श्रीभगवान् ही हैं। आप साक्षात् पूर्णब्रह्म है। इसलिये मैंने सब ओर से चित्त हटाकर उसे आप भगवान् में ही लगा दिया।' इसी प्रकार हम लोगों को भी अपना मन सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थों से हटाकर केवल श्री भगवान् को ही अर्पण कर देना चाहिये।

१०. (१) स्त्री का दर्शन, (२) स्त्री-चिन्तन, (३) स्त्री के सौन्दर्य का वर्णन, (४) उनके साथ सम्भाषण और (५) उनका स्पर्श--इनसे बचना चाहिये। ये पॉच काम के साधन हैं और विषयों मे ले जाते हैं। तथा (१) भगवद्विग्रह-दर्शन, (२) भगवच्चिन्तन, (३) भगवद्गुणानुवाद, (४) भगवद्भक्तों के साथ सत्संग और (५) भगवद्भक्तों की सेवा--ये प्रेम के साधन हैं और भगवान् की ओर ले जाते हैं।

११. भगवद्भजन के साथ इन बातों का ख्याल अवश्य रखना चाहिये--

(१) सत्सङ्ग उसी महात्मा का करे जो इष्ट मे समानता रखता हो।

(२) परनिन्दा, परस्त्री और परधन से सर्वदा दूर रहे।

(३) किसी भी संसारी पुरुष से मित्रता न करे।

(४) भगवद्भजन को छोड़कर अपनी इन्द्रियों को विषय-चिन्तन मे न लगावे।

(५) स्वाद और वाद-विवाद इन दोनों से बचता रहे।

(६) जल्दबाज न हो।

(७) सदा प्रसन्न रहे, उदासी कभी न आने दे।

(८) कठोर भाषण किसी से न करे।

(९) जन्म-मृत्यु का भय न रक्खे—

'सकल कामना हीन जे, राम भगति रस लीन।
नाम प्रेम पीयूष ह्रद, तिनहुँ किये मन मीन ॥'

१२. भाव से ही भगवान् मिलते हैं, वे भाव के ही भूखे है और शास्त्रों में भी भाव ही की प्रधानता है।

१३. बहुत से लोग गंगास्नान करने तो जाते हैं किन्तु वे न तो भगवान् का भजन-कीर्तन करते हैं और न सन्त-महात्माओं के दर्शन ही करते है। कोई ताश खेलता है, कोई चौपड़ खेलता है और कोई सिगरेट पीता है। ऐसे गंगास्नान से कोई विशेष लाभ नहीं।

१४. भगवान् में आसक्ति हो जाना ही भगवत्प्राप्ति का उत्तम उपाय है।

१५. मैं भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं—इस अभिमान में मस्त रहना चाहिये।

१६. शास्त्र और आचार्यों का सिद्धान्त है कि राग से ही राग छूटता है। हवा बादल पैदा करती है और वही उसे हटाती भी है। इसी प्रकार भगवत्प्राप्ति की इच्छा सांसारिक इच्छा को काटती है तथा अन्त मे भगवत्प्राप्ति होने पर वह स्वयं भी शान्त हो जाती है।

१७. जन्म-जन्मान्तरों से हमारा विषयों में अनुराग हो रहा है, इसी से भगवान् मे अनुराग नहीं होता । भगवान् में पूरा अनुराग हुआ कि संसार छूटा; जैसे निद्रा का अन्त और जागना दोनों एक ही साथ होते हैं ।

१८. आजकल लोगों ने भगवान् को सट्टे की तरह–जिसमे एक ही दिन में लाखों रुपये आ जाते हैं–-समझ रखा है । दो चार मालाएँ फिरायें और भगवान् हमारे गुलाम बन जायँ । अरे ! दस वर्ष में भी भगवान् मिल जायँ तो भी बड़ी कृपा है । यदि एक जन्म में भी न मिलें तो भी कुछ चिन्ता नहीं, हमारे यहाँ तो पुनर्जन्म होता है ।

१९. मनुष्य तीन कारणों से भजन में प्रवृत्त होते हैं— (१) जो स्वर्गादि की प्राप्ति के लिये भजन करते हैं वे निकृष्ट हैं, (२) जो पापक्षयपूर्वक अन्तःकरण की शुद्धि के लियेभजन करते हैं वे उनकी अपेक्षा अच्छे हैं और (३) जो अकारण भजन करते हैं वे सर्वोत्कृष्ट हैं । उनका भजन केवल भजन के लिये ही होता है । वे ऐसा किये विना रह नहीं सकते इसीलिये भजन करते हैं ।

२०. दर्शन करने योग्य तो केवल श्री भगवान ही हैं, संसार नहीं । इसलिये भगवान् का ही चिन्तन और भगवन्नाम का ही जप करो । चलते फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते सब समय भगवान् को ही याद करो । यही असली भक्ति है । जगत् की सब वस्तुएँ असत् अतएव नष्ट होनेवाली हैं, फिर उनकी प्राप्ति के लिये भक्ति क्यों करते हो ? निष्काम भाव से एकमात्र सत्य-सनातन एवं सर्वाधार भगवान की प्राप्ति के लिये ही भक्ति करो ।

२१. भक्ति करनेवाले सदाचारी लोग सांसारिक बातें नहीं सुनते । सांसारिक बातें सुनने से रजोगुण की वृद्धि होती है । रजोगुणी मनुष्य में सहनशक्ति नहीं होती, अतः वह बड़े-बड़े

अनर्थ कर डालता है। इसलिये प्रत्येक साधक को सांसारिक बातों से सावधान रहना चाहिये। जिस समय बड़ी से बड़ी गाली सुनने पर भी क्षोभ न हो उस समय सत्त्वगुणी वृत्ति, जिस समय काम-क्रोध-लोभादि का आक्रमण हो उस समय रजोगुणी वृत्ति और जिस समय शास्त्र एवं गुरु के वचनों पर विश्वास न हो उस समय तमोगुणी वृत्ति समझनी चाहिए। भगवान् और भक्तजन इन तीनों गुणों से परे होते हैं।

२२. जिन लोगों का जप और ध्यान में चित्त नहीं लगता वे ही प्रश्न पर प्रश्न किया करते हैं। जिनका चित्त जप और ध्यान मे लग जाता है उन्हें प्रश्नोत्तर के लिए अवकाश ही कहाँ है? जिसे भजन-ध्यान में आनन्द आ गया, और तो क्या जिसमें थोड़ा-सा भी सत्त्वगुण आ गया, वह क्यों किसी से बातें करने लगा। किसी से पाँच मिनट बातें करने में भी उसे दुःख मालूम होगा। वह समझेगा कि उसके अनमोल समय के पाँच मिनट बिना भजन के व्यर्थ ही बीत गये। जिस प्रकार धन कमानेवाले व्यक्ति को बेकार बातचीत करने के लिये फुर्सत नहीं मिलती उसी प्रकार भक्त को भी भजन से अवकाश नहीं मिलता।

२३. शास्त्र और गुरु ने जो निश्चय किया है वही ठीक है। उसी के अनुसार काम करना चाहिये।

२४. जिस दिन तुम्हारा मन भजन में लग जाय उसी दिन समझ लो कि तुम्हारे लिये संसार नहीं रहा।

२५. बिना निःस्वार्थ हुए महात्माओं को और भगवान् को बाँधना कठिन है। वे तो प्रेमरूप रज्जु से ही बाँधने में आते हैं।

२६. उपासना करने से क्या नहीं हो सकता। परन्तु भगवान् के सच्चे भक्त उपासना की शक्ति का प्रयोग अपने किसी स्वार्थ के लिये नहीं करते। स्वामी हरिदासजी जब वृन्दावन में

रहते थे तब नित्यप्रति गोपालसहस्रनाम के सौ पाठ किया
थे। उनका यह नियम लगातार पंद्रह वर्ष तक रहा। पीछे
भगवानपुर आये तो उन्हे कुष्ट रोग हो गया। यदि वे चाह
उसे दूर कर सकते थे। किन्तु उन्होंने इस तुच्छ शरीर के
ऐसा नहीं किया। करते भी क्यों? उन्हे तो उस कुष्ठ मे
भगवान् के स्पर्श की आनन्दानुभूति होती थी।

२७. जब तक हृदय मे श्रीभगवान् नहीं आते तभ
उसमें काम-क्रोधादि बसे रहते हैं। जहाँ हृदय में भगवा
वास हुआ कि फिर वे कहाँ ठहर सकते है? फिर तो वे उस
भाग जाते हैं।

२८. हृदय में तो भगवान् का ध्यान हो, सब शरी
पुलकावलि हो जाय, जिह्वा से नाम का जप हो, नेत्रों से
धारा बहती हो। इससे बढ़कर भक्त का और क्या सौ
हो सकता है?

२९. मैं एक बार ब्रज के जङ्गल में विचर रहा था।
एक महात्मा के दर्शन हुए। मैंने उन महात्माजी से पूछ
अपना कुछ अनुभव कहिये। तब उन्होंने बड़े प्रेम से हाथ उ
यह दोहा कहा—

हाथ उठा के कहत हूँ, कहा बजाऊँ ढोल।
स्वासा खाली जात है, तीन लोक का मोल॥

३०. सत्सङ्ग, भगवत्सेवा, श्रीमद्भागवत का पाठ
भगवन्नाम कीर्तन—ये चारों भगवत्प्राप्ति के साधन हैं।

३१. भजन निरन्तर होना चाहिये। यदि उसमें एक
का भी व्यवधान होगा तो कई दिनों की सञ्चित पूंजी न
जायगी। इसलिये नियमित भजन में कभी त्रुटि नहीं आने
चाहिये।

३२. यदि भगवान् का चिन्तन करते हुए हमें संसार की चीजें अच्छी लगती हैं तो समझना चाहिये कि अभी हम अपने लक्ष्य से कोसों दूर हैं। जब संसार की बढ़िया से बढ़िया चीज को देखकर भी हमें घृणा हो तभी समझना चाहिये कि कुछ भगवदनुराग हुआ। भगवद्भक्त को तो सभी चीजें तुच्छ दिखायी देनी चाहिये।

३३. भक्ति और ज्ञान की प्रतिक्षण वृद्धि होती रहती है, परन्तु हमें मालूम नहीं होती। एक माला जपने पर भी भक्ति बढ़ती है। यदि कहो कि ऐसा मालूम क्यों नहीं होता, तो इसका कारण यह है कि जीव अत्यन्त भूखा है; इसी से उसे थोड़ा भजन करने पर उसका कोई प्रभाव नहीं जान पड़ता। जैसे कोई अत्यन्त भूखा हो तो दो-चार ग्रास खाने पर उसकी भूख शान्त नहीं होती।

३४. जब दिन-रात भजन की रगड़ हो तभी कुछ हो सकता है। दिन-रात भजन करना तो मानो रात-दिन विषयों से युद्ध करना है।

३५. हम हँसना-रोना भी तो नहीं जानते। यदि हमें हँसना-रोना आता तो हम प्रभु के लिये हँस-रोकर उन्हें प्राप्त कर लेते और इस प्रकार हमारा काम बन जाता।

३६. भजन करने वाले का जब तक राग नहीं होता तब तक उससे सच्चा भजन नहीं हो सकता। किन्तु राग पहले ही नहीं होता, अतः आरम्भ में तो नियम से ही भजन करना चाहिये। ऐसा करते-करते ही भजन में राग होता है। किन्तु ऐसा भी तभी होता है जब आदरपूर्वक नियम का पालन किया जाय। बेगार समझकर जैसे-तैसे नियम पूरा करने से कुछ नहीं होता। भजन श्रद्धापूर्वक, सत्कारसहित, निरन्तर और दीर्घकाल पर्यन्त होना चाहिये। यदि ऐसा न हो तो समझना चाहिये कि भजन के नाम

पर वेगार ही टाली जाती है। जब भजन का राग होता है तो सब विषय विषवत् हो जाते हैं।

३७. जब तक किसी काम मे लगन नहीं होती तब तक कुछ नहीं हो सकता। संत श्रीनारायणस्वामी जी कहते हैं—

लगन लगन सब कोइ कहै, लगन कहावै सोय।
नारायण जा लगन मे, तन मन डारै खोय॥

३८. भगवद्भजन से ही दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है, तथा भजन से ही अष्टसिद्धियाँ और निर्विकल्प समाधि भी प्राप्त होती है।

३९. यदि तुम भक्ति-मार्ग में हो तो यह सब भगवान् की सृष्टि है, इसलिये तुम किसी की निन्दा नहीं कर सकते। और यदि ज्ञानमार्ग में हो तो यह अपनी ही सृष्टि है, फिर अपनी ही बुराई तुम कैसे करोगे? अतः दोनों ही मार्गों में दूसरे की निन्दा करने का अवकाश नहीं है।

४०. एक बार कुछ आदमियों के साथ मैं ऋषिकेश गया था। वहाँ झाड़ियों मे एक उच्चकोटि के संत रहते थे। वे बड़ और पीपल के पत्ते इकट्ठे कर कोयले की स्याही और सरकंडे की कलम से उन पर भगवन्नाम लिखते रहते थे। वे कहीं जाते-आते नहीं थे। एक दूसरे महात्मा उनके लिये क्षेत्र से भिक्षा ले आते थे। मैंने उनसे पूछा कि भजन करना कब छोड़ दे? उन्होंने कहा, 'जब भजन करने की शक्ति न रहे।' अर्थात् जब इष्टदेव में मन इतना डूब जाय कि कोई चेष्टा करने की शक्ति न रहे। यह है भजन की अवधि। आज-कल तो विना कुछ किये ही कृत-कृत्य हो जाते हैं।

४१. भजन करनेवालों में जो काम-क्रोधादि दिखायी देते हैं यह सब अन्नदोष है, और कुछ नहीं।

४२. तुमसे यदि पाठ किये बिना न रहा जाय तो समझो पाठ ठीक है, जप किये बिना न रहा जाय तो जप ठीक है और कीर्तन किये बिना न रहा जाय तो यही असली कीर्तन है। यदि ध्यान तुम्हारा आहार होगा तो यह आहार कम हो जायगा। जब श्रीभगवान् का अनुराग होगा तो भूख कहाँ लगेगी।

४३ वृद्धावस्था में तो भगवत्प्राप्ति की इच्छा होने पर भी भक्ति होना कठिन है।

४४. दुनिया का चिन्तन छूटा और भगवच्चिन्तन होने लगा, कि मुक्ति हुई।

४५. भगवत्स्मरण और भगवद्भक्तों का संग करना ही भक्तों का मुख्य कर्त्तव्य है।

४६. भगवान् मे प्रेम हो जाने पर मन, वाणी, श्वास और शरीर सभी स्थिर हो जाते हैं।

४७. श्रीबंगाली बाबा कहा करते थे कि वृन्दावन में मेरे साथी एक महात्मा थे। वे भजन मे विघ्न न पड़े इसलिये हर समय पाखाने में बैठे रहते थे। इससे सब लोग उनसे घृणा करने लगे और उनके द्वारा अधिक से अधिक भजन होने लगा। भजन में मन लग जाने पर तो दुर्गन्ध भी सुगन्ध में परिणत हो जाती है।

४८. भगवद्भक्तों के मुख्य कर्त्तव्य हैं—

(१) भक्ति-विरोधी ग्रन्थ न पढ़ना।

(२) भगवन्नामजप और कीर्तन को ही अपना मुख्य साधन बनाना।

(३) उन सत्पुरुषों का सङ्ग करना, जिनसे अपना इष्ट मिलता हो।

(४) सांसारिक चर्चा न करना।

(५) किसी की निन्दा न करना।

(६) अपनी निन्दा सुनकर क्षुब्ध न होना।
(७) सर्वदा स्वयं अमानी रहकर सबको मान देना।
(८) सदाचार और सरलता से समय बिताना।
(९) प्रतिष्ठा से सर्वदा दूर रहना।
(१०) प्रतिष्ठा होने पर दुःख मानना।
(११) सत्य, मृदु, परिमित और उचित भाषण करना।
(१२) क्रोधरूपी शैतान से दूर रहना।
(१३) स्त्रियों से एकान्त में बातचीत न करना।
(१४) प्रतिदिन एकान्त में दो घण्टे भजन करना।
(१५) रात्रि के अन्तिम प्रहर में तीन से पाँच बजे तक मुख्यतया ध्यानाभ्यास करना।
(१६) अदृष्ट से सर्वदा भय रखना; अर्थात् अपने को सिद्ध समझ कर मनमानी न करना।

४९. विषयचिन्तन से राग-द्वेष होगा और भगवच्चिन्तन अथवा आत्मचिन्तन के बिना उसकी निवृत्ति नहीं होगी। अतः तुम्हें परचर्चा या पराया चिन्तन कभी नहीं करना चाहिये। हर समय केवल आत्मचिन्तन ही करना चाहिये। जब श्रीभगवान् के साथ तुम्हारा सम्बन्ध है तो तुम पापी कैसे रहे?

५०. भजन, समाधि और दान देने से जो सुख हो उसे दूसरे के सामने नहीं कहना चाहिये, क्योंकि इससे अभिमान की वृद्धि होती है।

५१. अपना बैल खो जाने पर किसान जितना आतुर होता है—उस समय उसे जो बैल दिखायी देता है उसे वह अपना ही समझता है—जब तक भगवान् के लिये तुम उतने ही व्याकुल नहीं होगे तब तक तुम्हें उनकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

५२. भगवन्! आप मुझे जिस प्रकार रखेंगे मुझे उसी

प्रकार रहना स्वीकार है। आपसे मेरी यह प्रार्थना है कि मैं आपको न भूल जाऊँ।

५३. भगवद्भक्त को प्रत्येक कार्य के आरम्भ में भगवान् का ध्यान करना चाहिये।

५४. ईश्वर के सामने दिल खोलकर नित्य-प्रति एक घंटे तक रोना चाहिये। खूब रोना चाहिये। मान लो, किसी के घर में कन्या का विवाह होने वाला हो, बरात भी आ जाय, किन्तु घर में एक पैसा भी न हो; वह पुरुष क्या किसी उदार पुरुष के पास जाकर बिना रोये रह सकता है? उसी प्रकार वास्तविक दुःखी प्राणी अपने दुःख को दूर करने के लिये ईश्वर के सामने रोये बिना कैसे रह सकता है? अतः कुछ करने की आवश्यकता है। केवल बात बनाने से काम नहीं चलेगा।

५५. हे जगन्मङ्गल! हे परमपिता! मेरी वाणी आपके गुणकीर्तन में, कर्ण महिमाश्रवण में, हाथ युगल-चरण-सेवा में, चित्त चरण-चिन्तन में, मस्तक प्रणाम में और दृष्टि आपके स्व-रूपभूत सन्तजनों के दर्शन में नियुक्त रहे।

५६. भगवान् का नित्य स्मरण ही ज्ञान, भक्ति और वैराग्य का उपाय है।

५७. भक्त मोक्ष की इच्छा नहीं करता, कामनारहित भग-वत्प्रेम ही उसका एकमात्र प्रयोजन है।

५८. जैसे निरन्तर विषयचिन्तन करने से विषय में आसक्ति हो जाती है वैसे ही भगवच्चिन्तन करने से भगवान् में अनुराग होता है।

५९. भगवान मेरे समीप हैं और सदा रक्षा करते हैं— ऐसा निश्चय करना चाहिये।

६०. जक तक मनुष्य पर प्रवृत्ति का बोझा लदा हुआ है

तब तक इष्ट की प्राप्ति नहीं हो सकती। निवृत्ति होने पर ही इष्ट की प्राप्ति होती है। भक्तिपूर्वक जिसका विश्वास किया है जब तक उसमें तल्लीन न हो जाय और सर्वत्र वही न दीखने लगे तब तक उपासना परिपक्व नहीं होती।

६१. इष्ट के अनुसार ही वृत्ति से त्याग या ग्रहण होता है। उपासक के लिये वृत्ति को इष्ट मे लगाना ही प्रवृत्ति या ग्रहण है तथा संसार से वृत्ति को हटाना ही त्याग है।

६२. भजन करते समय भूत-भविष्यत् का चिन्तन छोड़ते हुए कृष्णाकार वृत्ति करता जाय। वृत्ति गाढ़ होने पर श्रीकृष्ण का दर्शन होगा। इसी प्रकार प्रत्येक भक्त को अपने इष्टदेव का दर्शन हो सकता है।

६३. चित्त में भगवान् का चिन्तन हो, इसी का नाम मौन है। वाणी रोकने का नाम मौन नहीं है। मितभाषण को भी मौन कहते हैं, परन्तु मुख्य मौन तो चित्त के चिन्तन का रुक जाना ही है।

६४. ध्यान के समय केवल अपने इष्टदेव के स्वरूप का ही चिन्तन करो। यदि स्वरूप में ध्यान न लगे, मनोराज्य होने लगे तो ध्येय की लीलाओं का ही मनोराज्य करो। भगवान् राम अथवा श्रीकृष्णचन्द्र ने जो-जो लीलाएँ की हैं, उन्हीं का मनोराज्य करते रहो। यह भी एक प्रकार का ध्यान है। भक्त का कर्त्तव्य तो किसी भी प्रकार संसार के चिन्तन से निकलकर भगवच्चिन्तन में लगना ही है। अतः इष्टाकार वृत्ति को रख कर ही सब कर्म करे। यदि रोने की इच्छा हो तो इष्टदेव की किसी करुण-कथा का चिन्तन करके रोवे, हँसने की इच्छा हो तो उन्हीं की किसी हास्यरसपूर्ण लीला का चिन्तन करके हँसे और यदि खेलने की इच्छा हो तो ध्यान द्वारा उन्हीं के साथ खेले। जिसकी ऐसी स्थिति हो जाती

है, उसके लिये फिर कोई कर्त्तव्य नहीं रहता। वह फिर आसन से बैठे अथवा न बैठे तथा स्वस्थ रहे अथवा बीमार उसका भजन चलता ही रहता है।

६५. भगवान् का भजन करने से चार बातें आ जाती हैं-

(१) भगवान् के ऐश्वर्य का अनुभव।
(२) तात्कालिक तथा अदृष्ट दु:ख का अभाव।
(३) रजोगुण तमोगुण की निवृत्ति।
(४) परमानन्द की प्राप्ति तथा जन्म-मृत्यु का अभाव।

६६. आचारभ्रष्ट पुरुष को भक्ति प्राप्त नहीं होती। असात्त्विक आहार, ग्राम्यकथा और ग्राम्य भावनाओं का त्याग करने से भक्ति का उदय होता है।

६७. भक्तों के चरित्र पढ़ने से भजन में जितनी रुचि बढ़ती है उतनी भगवान् के चरित्रों को पढ़ने से भी नहीं बढ़ती। अतः साधकों के लिये भक्तों के चरित्र भगवच्चरित्रों से भी बढ़कर हैं।

६८. भगवद्भक्तों को जो प्रेमाश्रु आते हैं वे ठंडे होते हैं और आँखों के बीच से निकलते हैं। उस समय नेत्र बहुत साफ हो जाते हैं। इस प्रकार का रोना बहुत सात्त्विक होता है। इसके विपरीत जो संसार के लिये रोना होता है उसमें गर्म आँसू आते हैं और वे नेत्रों के कोनों से निकलते हैं।

६९. भगवान् के विरह में जो आँसू निकलते हैं, उनका बड़ा महत्त्व है। इस विषय में कबीर साहब कहते हैं—

कबिरा हँसना छोड़ दे, रोने से कर प्रीत।
बिन रोये क्यों पाइये, प्रेम-पियारा मीत॥

७०. पाठ से बढ़कर जप है और जप से भी बढ़कर ध्यान है।

७१. अनाहार और अत्याहार—इन दोनों से भजन नहीं होता। निद्रा भी प्रेम की कमी होने पर ही आती है। जिनका भजन में अनुराग है उन्हें आलस्य नहीं आ सकता। सत्त्वगुण होने पर शरीर में भारीपन नहीं रहता। अधिक खानेवालों की अपेक्षा थोड़ा खानेवाले को कम हानि होती है।

७२. लय और विक्षेप भजन में आसक्ति होने से दूर हो जाते हैं तथा भजन में आसक्ति होती है, नियमानुसार भजन करते रहने से। कहा भी है—'जहाँ नेम है, वहीं प्रेम है।'

७३. इष्टाकार वृत्ति करना तो अपना काम है, किन्तु उसकी गाढ़ता तो भगवत्कृपा से ही होती है। यह अपने वश की बात नहीं है, तथापि लगे रहना चाहिये। भगवान् अपने अनन्यचेता भक्त के योग-क्षेम का निर्वाह करते ही हैं।

७४. जो काम भगवद्बुद्धि से किया जाता है वह भजन ही है।

७५. भजन के समय साधक को बोलना, हिलना अथवा इधर-उधर देखना नहीं चाहिये। बल्कि शान्त स्थिर और मौन होकर भजन करना चाहिये।

नाम-जप और सङ्कीर्तन

प्र०—सबके लिये सुगम और सर्वोत्तम मार्ग क्या है ?

उ०—नामजप करना सबके लिये सुगम और श्रेष्ठ है ।

प्र०—नामजप में रुचि कैसे हो ?

उ०—रुचि होना ही कठिन है । रुचि हो जाने पर तो भजन छूटता ही नहीं । विषय सेवन का अभ्यास अनेकों जन्मों से पड़ा हुआ है । वह धीरे-धीरे बदलेगा । इसलिये उत्साहपूर्वक नाम जप करते रहना चाहिये । इससे ऊबने की जरूरत नहीं है ।

प्र०—श्री कृष्णकीर्तन क्यों करना चाहिये ?

उ०—श्रीकृष्ण हमारे प्यारे हैं, इसीलिये उनका कीर्तन करना चाहिये । प्यारे का नाम लेना हमारी न छूटने वाली आदत है । इसलिये प्यारे के नाम का जप, कीर्तन और उसका गुणानुवाद किये बिना रहा ही नहीं जाता । यह भक्तों का मानो स्वभाव ही है । इसके लिये भले ही उनकी कोई निन्दा करे । यह एक नियम भी है कि जिस प्रकार बनिये से व्यापार किये बिना नहीं रहा जाता, कामी से स्त्री का कीर्तन किये बिना नहीं रहा जाता, किसानों से खेती किये बिना नहीं रहा जाता, इसी प्रकार भक्तों से श्रीकृष्णकीर्तन किये बिना नहीं रहा जाता ।

प्र०—महाराजजी ! जो लोग लज्जा और संकोच छोड़कर कीर्तन करते हैं उन्हें बहुत आदमी तो ढोंगी बताते हैं ?

उ०—बताने दो ढोंगी । भौंरे को तो रस चूसने से काम । जो तमोगुणी होते हैं उन्हें ही भगवन्नाम-कीर्तन में लज्जा आती है ।

प्र०—क्या कीर्तन करने से ध्यान स्थिर रह सकता है ?

उ०—कीर्तन भी ध्यान ही है। भगवद्भक्त को भगवान् का किसी भी प्रकार भजन-चिन्तन करने से आनन्द आ जाता है। भगवान् को याद करना और इस जगत् को भुलाना—यही हमारा लक्ष्य है। कीर्तन करो, कीर्तन से थक गये हो तो जप करो, जप से थक जाओ तो स्वाध्याय करो और स्वाध्याय से भी थको तो ध्यान करो तथा ध्यान से भी थक जाओ तो भगवच्चर्चा करो। समय को व्यर्थ बातों में नष्ट न करो। हर समय भगवान् का चिन्तन करते रहो।

प्र०—कीर्तन में झाँझ पीटने से क्या पुण्य होता होगा ?

उ०—यदि पुण्य नहीं होता होगा तो पाप भी तो नहीं होता। जब तुम सुल्फा, बीड़ी, तम्बाकू आदि का सेवन करने और ताश खेलने को बुरा नहीं मानते तो इसीको क्यों बुरा मानते हो ? कुछ न करने से तो यह अच्छा ही है—

भाव कुभाव अनख आलस हू। नाम जपे मगल दिसि दस हू ॥

प्र०—श्रीकृष्णकीर्तन से क्या लाभ है ?

उ०—श्रीकृष्णकीर्तन से साधक को भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन होते हैं और उन सिद्धों को जिन्हे भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन हो गये हैं, अपने प्यारे के नाम लेने में परम आनन्द आता है।

प्र०—महाराजजी, सकीर्तनोत्सवों का लक्ष्य क्या होना चाहिये ?

उ०—मैं तो कहता हूँ कि हरिनामसंकीर्तन हरिनाम में आसक्ति होने के लिये ही होना चाहिये। भगवान् के दर्शन या किसी अन्य हेतु से नहीं।

प्र०—तो क्या भगवन्नाम में आसक्ति होना भगवद्दर्शन से भी बढ़कर है ?

उ०—हाँ, अवश्य बढ़कर है भगवन्नाम में आसक्ति हो जाने के बाद दर्शन हों चाहें न हों, साधक को परवा नहीं रहती। उसको दर्शन देने के लिये तो भगवान् तैयार ही रहते है।

प्र०—मन तो लगता नहीं, ऐसी अवस्था में क्या केवल जिह्वा से नामजप करते रहने से विशेष लाभ हो सकता है?

उ०—अवश्य लाभ होता है, क्योंकि सांसारिक काम भी बिना मन लगे करने से पूरा हो ही जाता है। जैसे बहीखाते का काम करते समय भी मन भ्रमण करता रहता है, किन्तु इस प्रकार बिना मन लगे भी करते रहने से वह काम पूरा हो ही जाता है, वैसे ही बिना मन लगे केवल जिह्वा से ही जप करते रहने पर भी सफलता अवश्य मिलेगी।

प्र०—नामजप, नामस्मरण और नामकीर्तन में कौन श्रेष्ठ है? वाणी द्वारा होनेवाले, उपांशु और मानसिक जपों में कौन-सा जप उत्कृष्ट है?

उ०—साधारण जनता के लिये नामसंकीर्तन विशेष लाभप्रद है, और जो सयतचित्तवाले है, उनके लिये जप अधिक उपयोगी है। प्रारम्भ में उच्चारण करके जप करना चाहिये, फिर उपांशु और उसके बाद मानसिक जप करना अच्छा है। जैसे-जैसे मन समाहित होगा वैसे-वैसे ही मानसिक जप अधिक प्रिय लगने लगेगा।

प्र०—संकीर्तन मे जो स्वर-ताल आदि का रस आता है, वह क्या बन्धनकारी है?

उ०—वह भक्त के लिये तो बन्धनकारक हो नहीं सकता, क्योंकि उसकी उसमें भगवदीयता की भावना है—वह उसे श्रवण-रस न समझकर भगवद्रस समझता है। अतः भगवत्प्राप्ति का साधन होने के कारण वह उसके बन्धन का कारण नहीं हो सकता। हाँ, जिज्ञासु की अवश्य उसमें उपेक्षा रहती है, क्योंकि उसकी

उसमें भगवद्भावना नहीं होती। इसके सिवा भगवत्प्रेम उसका लक्ष्य भी नहीं होता। वह तो भगवत्तत्त्व का जिज्ञासु है। अतः उसे ये स्वर-ताल भी विषयरूप प्रतीत होने के कारण हेय ही प्रतीत होते हैं। परन्तु बोधवान की उनमें न तो हेयबुद्धि होती है और न उपादेयबुद्धि ही; उसकी दृष्टि में तो सब कुछ ब्रह्मस्वरूप ही है।

प्र०—कुछ लोग आपके ऊपर आक्षेप करते हैं कि आप लोगों को सन्ध्या-गायत्री का उपदेश न देकर संकीर्तन का ही उपदेश क्यों देते हैं?

उ०—भाई! मैं यह कब कहता हूँ कि संध्या मत करो। मैं तो कहता हूँ कि जो संध्या कर सके वे अवश्य करें। किन्तु जो अक्षर नहीं जानता, शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकता और न जिसे पढ़ने-लिखने का समय है वह मेरे कहने से संध्या कैसे याद कर सकता है? उससे मैं कह देता हूँ कि कीर्तन करो। यदि कीर्तन के लिये भी न कहूँ तो वे कुछ भी नहीं करेंगे।

प्र०—महाराज जी! बहुत-से पण्डित लोग कहते हैं कि कीर्तन में ओंकार का उच्चारण नहीं करना चाहिये। इसे सब नहीं बोल सकते। शूद्र का इसे उच्चारण करने में अधिकार नहीं है।

उ०—यदि मना करते हैं तो मत बोलो, शास्त्र के विरुद्ध मत चलो। हमारा 'कृष्ण' नाम तो सब नामों से बड़ा है। देखो, मुझे बङ्गाली स्वामी से एक श्लोक प्राप्त हुआ है, उसमें श्रीकृष्ण नाम की कितनी महिमा है—

वज्रं पापमहीभृतां भवगदोद्रेकस्य सिद्धौषधं
मिथ्याज्ञाननिशाविशालतमसस्तिग्मांशुबिम्बोदयः।
क्रूरक्लेशमहीरुहामुरुतरज्वालाजटालः शिखी
द्वारं निर्वृतिसद्मनो विजयते कृष्णेति वर्णद्वयम्॥*

* 'कृष्ण' इस दो वर्णोंवाले नाम की जय हो। वह पापरूपी पर्वतो

प्र०—लोग कहते हैं कि केवल जिह्वा से नामजप करते रहने से कोई लाभ नहीं, किसी ने कहा है—

कर मे तो माला फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुवाँ तो चहुं दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं ॥'

उ०—ऐसा कहने वालों की बात मत सुनो। उन्हें कहने दो। अपने को तो जैसे बने वैसे भगवन्नाम-स्मरण करते रहना चाहिये। यदि मन भगवान् मे लग जायगा तो फिर तो भजन करने के लिये कहना ही नहीं पड़ेगा, क्योंकि उस व्यक्ति से तो फिर निरन्तर भजन ही होगा। जब तक मन नहीं लगता तभी तक भजन करने के लिये जोर लगाना पड़ता है। केवल जिह्वा से भजन करते-करते भी भजन में मन लगने लगता है। जो काम अधिक समय तक किया जाता है उसमें मन को लगना ही पड़ता है—यह नियम है।

प्र०—निरन्तर भगवदाकार वृत्ति कैसे रह सकती है?

उ०—तीव्र अभ्यास करने से वृत्ति क्षण-क्षण में भगवान् का चिन्तन करती है। इसी को भगवदाकार वृत्ति कहते हैं। वृत्ति क्षण-क्षण में बदला करती है। इसलिये विशेष प्रयत्न करने पर ही उसे भगवदाकार किया जा सकता है। तथापि भक्त लोग पुरुषार्थ (अपने प्रयत्न) को प्रधान नहीं मानते। वे तो कहते है कि जो कुछ होता है भगवत्कृपा से ही होता है।

के लिये वज्र, संसार-रोग के आवेश को शान्त करने के लिये अचूक औषध, अज्ञानरात्रि के सघन अन्धकार के लिये सूर्योदय, क्रूर क्लेशरूपी वृक्षो के लिये प्रचण्ड ज्वाला-मालाओ से मण्डित अग्नि और शान्तिसदन का खुला द्वार है।

प्र०—भगवान् की आज्ञा समझकर पुरुषार्थ करे और जो लाभ हो उसे भगवान् की कृपा से हुआ समझे तो क्या ह

उ०—यही तो भक्तों का सिद्धान्त है। ऐसा ही तो म चाहिये। ऐसा माननेवाले को अभिमान नहीं होता।

प्र०—महाराजजी! बहुत-से विद्वान् लोग भगवन्नाम जपते ?

उ०—भगवत्कृपा बिना श्री भगवन्नाम नहीं लिया और न उसमें प्रीति ही होती है।

प्र०-क्या निराकारोपासकों के लिये भी कीर्तन उपयोग

उ०—जप और कीर्तन दो वस्तुएँ नहीं हैं। जो जप कर वह कीर्तन भी कर सकता है। निराकारोपासक भगवान की तो नहीं कर सकते, किन्तु जप या कीर्तन करने का उन्हे अधिकार है। जप एवं कीर्तन से वृत्ति भगवदाकार होत लक्ष्य निर्गुण हो अथवा सगुण, दोनों ही में जप या कीर्त वृत्ति तदाकार हो जाती है। इसलिये जप और कीर्तन तो कर सकते हैं। किन्तु जिज्ञासु साकारोपासक एवं निराकारोप इन दोनों ही से विलक्षण होता है। उसके लिये श्रवण, और निदिध्यासन ही मुख्य हैं कीर्तन उनके लिये गौण है श्रवण, मनन और निदिध्यासन तो करता ही है, किन्तु थोड़ जप या कीर्तन भी करे तो उसके लिये इससे कोई हानि नहीं ये तो उसके सहायक ही होंगे। किन्तु उपासकों के लिये मुख्य साधन हैं। वर्तमान काल में तो कोई-कोई ऐसे जिज्ञासु होते हैं जो प्रणव का जप भी नहीं करते। वे कीर्तन करेंगे। ऐसों के लिये हमें कुछ नहीं कहना है। वे दुनिय बातें तो कर सकते हैं, परन्तु कीर्तन नहीं कर सकते, जप नह सकते और न ध्यान ही कर सकते हैं।

प्र०—एक देवता का उपासक दूसरे देवता का नामकीर्त्तन और पूजनादि कर सकता है या नहीं ?

उ०—अच्छी तरह कर सकता है। परन्तु कर सकता है अपने इष्टदेव में अनुराग होने के लिये ही और तभी तक कर सकता है जब तक अपने इष्टदेव में पूर्ण अनुराग न हो। वैधी और गौणी भक्ति में तो सभी कुछ कर सकता है, परन्तु रागात्मिका भक्ति प्राप्त होने पर सब छूट जाता है।

प्र०—संकीर्तन ज्ञान-प्राप्ति में कारण हो सकता है या नहीं और हो सकता है तो किस प्रकार ?

उ०—ज्ञानेच्छु साधकों के लिये कर्म और उपासना अन्तःकरण की शुद्धि के लिये होते हैं। कीर्तन भी कर्म और उपासना के ही अन्तर्गत है। अतः उससे उनके अन्तःकरण की शुद्धि होगी और अन्तःकरण शुद्ध होने पर उन्हें ज्ञान की प्राप्ति होगी। किन्तु ज्ञानेच्छु का लक्ष्य भगवत्प्राप्ति नहीं होता वह तो प्रेमियों का लक्ष्य है। अतएव भगवत्प्रेमियों के लिये तो कीर्तन साधन है और साध्य भी तथा ज्ञानमार्गियों के लिये वह केवल अन्तःकरण की शुद्धि का ही साधन है।

प्र०—कहते हैं, योग से चित्त शान्त होता है। क्या यह ठीक है ?

उ०—यह भी ठीक है। परन्तु जप के अन्दर भी अनन्त सामर्थ्य है। इसलिये जप में तत्पर हो जाना चाहिये। उसी से सब कुछ प्राप्त हो जायगा।

× × ×

प्र०—संकीर्तन के समय जिस नाम की ध्वनि उच्चारण करे उसके साथ नामी का ध्यान करना आवश्यक है। किन्तु महामंत्र के एक चरण में तो 'हरि' और 'राम' है तथा दूसरे में 'हरि'

और 'कृष्ण' नाम हैं। सो क्या एक पद बोलने के समय श्रीराम का ध्यान करना उचित है और दूसरा पद बोलने के समय उस ध्यान को बदलकर श्रीकृष्ण का ध्यान करना चाहिये? ऐसी दुविधा होने से तो ध्यान ठीक नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में क्या कर्त्तव्य है?

उ०—भक्त को सदैव एकमात्र अपने इष्टदेव का ही ध्यान करना चाहिये। मन्त्र में जो इष्टदेव का नाम है वह तो उसका है ही। उसके अतिरिक्त जो अन्य नाम हैं वे भी अपने इष्टदेव के ही समझने चाहिये। जैसे महामन्त्र का जप या कीर्तन करते समय कृष्ण का ही ध्यान करना चाहिये। जब वह 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे' पद का उच्चारण करे तो भी श्रीकृष्ण का ही ध्यान रक्खे और यह समझे कि 'राम' भी श्रीकृष्ण का ही नाम है; क्योंकि 'राम' उसी को कहते हैं जो सब जगह रमा हुआ है अथवा जिसमें योगीजन रमण करते हैं। श्रीकृष्ण में यह नाम पूर्णतया सार्थक है, क्योंकि वे सब जगह रमे हुए हैं और योगी उनमें रमण करते हैं। इसी प्रकार रामभक्त को जब वह 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे' उच्चारण करे तो भी श्रीराम का ही ध्यान करना चाहिये, क्योंकि राम का नाम 'कृष्ण' भी है। 'कृष्ण' का अर्थ 'खींचने वाला' है। जैसे श्रीकृष्ण मन को खींचते हैं उसी प्रकार रामजी भी उसे अपनी ओर खींचते हैं। इसी प्रकार यदि शिव के नाम का कीर्तन करें तो भी राम या कृष्ण के भक्तों को अपने इष्टदेव का ही ध्यान करना चाहिये, क्योंकि उनके इष्टदेव का नाम 'शिव' भी है। शिव का अर्थ है 'मंगलकारी' सो राम और कृष्ण भी मंगलकारी हैं ही। अतः उनका नाम शिव भी हो ही सकता है। मैं तो यह कहता हूँ कि अच्छे-बुरे जो कुछ भी नाम हैं वे सब भगवान् के ही हैं। अतः भक्त को उनमें इष्टबुद्धि ही करनी चाहिये।

प्र०—विद्वान् लोग भगवान् का नाम क्यों नहीं जपते ?

उ०—भगवत्कृपा के बिना भगवन्नाम नहीं लिया जाता और न उसमें प्रीति ही होती है। भगवत्कृपा कब और किस पर होती है—यह हम नहीं कह सकते।

प्र०—भगवान् का जोर-जोर से नाम लेने से क्या लाभ है?

उ०—भक्त लोग अपने प्यारे का नाम जोर-जोर से लेकर आनन्दित होते हैं।

प्र०—नामकीर्तन में सबकी निष्ठा क्यों नहीं होती ?

उ०—जिस प्रकार स्कूल में दो सौ लड़के पढ़ते हैं, परन्तु परीक्षा मे सभी उत्तीर्ण नहीं होते। हाँ, बार-बार प्रयत्न करें तो और सब भी उत्तीर्ण हो सकते हैं; इसी प्रकार नामकीर्तन में एका-एकी सबकी निष्ठा नहीं होती, किन्तु बार-बार कीर्तन करने से सभी की निष्ठा हो सकती है। आसक्ति का नाश होने पर ही तुम्हें भगवन्नाम-निष्ठा की उपलब्धि होगी। नामकीर्तन करने से मनुष्य की तदाकार वृत्ति हो जाती है। जो रामनाम-कीर्तन करते हैं वे राम को प्राप्त होते हैं तथा जो कृष्णनाम-कीर्तन करते हैं वे कृष्ण को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार अपनी-अपनी धारणा के अनुसार हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सब ईश्वर को ही प्राप्त होते हैं।

प्र०—तत्त्वज्ञान या भगवत्प्राप्ति के लिये क्या साधना करनी चाहिये ?

उ०—चोरी, हिंसा, व्यभिचार, नशा, जुआ, झूठ, गाली, चुगली, असम्बद्ध प्रलाप, दूसरे का अनिष्ट चिन्तन, परधन लेने का सङ्कल्प और देह में आत्मबुद्धि—इन सबका त्याग और दैवीसम्पत्ति का ग्रहण—ये भगवत्प्राप्ति के साधारण उपाय हैं। त्याग की

भावना और भगवत्स्मरण—ये दो असाधारण साधन हैं। स्
का अर्थ है जप। जप के लिये मैंने तीन मन्त्र चुने हैं—

(१) हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
(२) ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।
(३) ॐ नमः शिवाय।

× × ×

प्र०—कीर्तन करने की विधि क्या है?

उ०—कीर्तन में तीन बातों पर दृष्टि रखनी चाहि
(१) कीर्तन का स्थान, (२) कीर्तन करने वाले और (३)
लोग। स्थान परम सात्त्विक और भगवान् के चित्र तथा ध
पताका आदि से सुसज्जित होना चाहिये। दर्शकों में भी
नास्तिक या बहिर्मुख पुरुष न हो। कीर्तनकारों को सब ओ
चित्त हटाकर नेत्र मूँदे हुए अनन्य भाव से भगवान् की
मूर्त्ति का चिन्तन करते हुए कीर्तन करना चाहिये। जब व
समाप्त हो जाय तभी नेत्र खोलने चाहिये। इस प्रकार कीर्तन
से बहुत शीघ्र भगवत्कृपा होती है।

प्र०—एक आदमी को तो नाम जप में आनन्द आ
और दूसरा वेदपाठ में मस्त है। इन दोनों में कौन ठीक है?

उ०—नाम जप से नामाकार वृत्ति हो जाती है और ज
कार वृत्ति का अन्त हो जाता है। पीछे जब नाम में आसक्ति
है तो आँसू आने लगते हैं और भगवदनुराग की प्राप्ति हो
है। किन्तु जो वेदपाठी है वह तो अधिक से अधिक स्व
प्राप्ति कर सकता है। उसे भगवान् नहीं मिल सकते।

× × ×

जिज्ञासु—श्रीमहाराज जी ! मैं आपका नाम सुनकर आया हूँ। मुझे क्या करना चाहिये ? मेरा कल्याण किस प्रकार होगा, सो कृपा करके बताइये।

बाबा—तुम कौन-सा मन्त्र जपते हो ?

जि०—गायत्री मन्त्र की एक माला जपता हूँ।

बाबा—अरे ! एक माला गायत्री से क्या होगा ? कम से कम ग्यारह माला नित्य जपो तो कुछ चमत्कार हो सकता है।

जि०—महाराज ! मैं ब्राह्मण हूँ और एक व्यक्ति के यहाँ रसोई बनाता हूँ। गरीब आदमी हूँ। मुझे इतना समय नहीं मिलता जो ग्यारह माला जप सकूँ।

बाबा—अच्छा, तुम गायत्री की तो एक ही माला जपते रहो। किन्तु इसके सिवा और सब समय काम-काज करते हुए ही 'राधेश्याम-राधेश्याम' जपा करो। इस प्रकार निरन्तर नामजप करने से बड़ा लाभ होता है, भगवन्नाम में बड़ी अद्भुत शक्ति है। इसका निरन्तर जप करने से भगवान् के दर्शन भी हो सकते हैं।

× × × ×

१. जब तक किसी चीज का लोभ नहीं होता तब तक उसे पाने और सुरक्षित रखने की धुन सवार नहीं होती। इसी से जब तक हमारा नाम में लोभ नहीं होता तब तक नामजप में प्रीति होना भी कठिन है। नाम का लोभ होने पर तो स्वतः ही हर समय जप होने लगेगा। फिर तो एक मिनट भी व्यर्थ बात करना बुरा जान पड़ेगा। जिस प्रकार धन के लोभी को पाँच मिनट भी अपने व्यापार को छोड़ना कठिन हो जाता है, उसी प्रकार भगवन्नाम का लोभी पाँच मिनट भी व्यर्थ बात नहीं कर सकता।

२. जप सबसे कठिन चीज है। मैं तो ज्ञान और ध्यान से भी जप को कठिन समझता हूँ। लोग ज्ञान की बातें तो रात-दिन

कर सकते हैं, परन्तु उन्हें जप करना कठिन है। सब प्रकार की बातें छोड़कर निरन्तर एक ही मन्त्र को जपते रहना साधारण बातें नहीं है। जप में बड़ी विलक्षण शक्ति होती है।

३. नाम मन्त्र से भी बड़ा है, क्योंकि मन्त्र जप में विधि का बन्धन है, जब कि नामजप में विधि-विधान की कोई आवश्यकता नहीं है। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—

'नाम लेत भवसिन्धु सुखाही। करि विचार देखहु मन माही॥'

नाम की यह महिमा कोई कल्पना नहीं, सर्वथा सत्य है।

४. जिसकी राम नाम में निष्ठा हो गयी उसके लिये संसार में क्या काम बाकी रहा ?

५. तुम जिस समय कृष्ण नाम लो उस समय अपने को गोलोक में समझो।

६. नाम के अभ्यास से नाम मधुर लगने लगेगा। जैसे ध्यान करने वाले को दिव्य गंध एवं दिव्य दर्शनादि चमत्कार होते हैं वैसे ही नामजप करने से भी होंगे। भगवान् के दर्शनों की चाह होगी तो वे भी तत्काल दर्शन देंगे। विश्वास होने पर तो केवल नामजप से भगवान् के दर्शन हो सकते हैं। जो काम अधिक करता है वह भजन भी अधिक करेगा। जो काम नहीं करता उससे भजन भी नहीं हो सकता। हाँ भजन धीरे-धीरे बढ़ाते जाओ तो काम अपने आप कम होता जायगा। यदि भजन में अत्यन्त प्रेम है तो घर छोड़कर एकान्त में भजन कर सकते हो। भजन में कोई विघ्न कर ही नहीं सकता। इसलिये पहले अभ्यास करना चाहिये, कुछ समय भजन-कीर्तनादि करना चाहिये और थोड़ी देर गुणानुवाद करना चाहिये। इससे भजन में मन लग जायगा यदि पैसे पास हों तो साधु-सेवा भी करो।

७. श्रीकृष्ण के गुणानुवाद में कर्मकाण्ड की तरह आचार-विचार का कोई नियम नहीं है। वहाँ तो गौ दुहते, झाड़ू देते, दही मथते तथा हर एक काम करते हुए व्रजबालाएँ श्रीकृष्ण का गुणगान किया करती थीं।

८. कल्याण' मासिक पत्र ने ध्यानसहित नामजप की महिमा गाकर संसार का बड़ा उपकार किया है, क्योंकि सब लोग जप के साथ ध्यान नहीं करते। अतः ध्यान के बिना उन्हें विशेष लाभ भी नहीं होता। भजन कैसे करना चाहिये, इस विषय में गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं:—

'कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥'

लोभी की भाँति नाम अधिकाधिक मात्रा मे जपना चाहिये और कामी की भाँति निरन्तर स्वरूप का ध्यान करना चाहिये।

९. इष्टदेव के अनन्त नाम और अनन्त रूप हैं, किन्तु हमारा तो एक नाम और एक रूप में ही अनन्य प्रेम होना चाहिये।

१०. भगवान से भगवन्नाम अलग है, परन्तु भगवन्नाम से भगवान् अलग नहीं हैं। नाम के अन्दर भगवान् हैं।

११. गोस्वामी तुलसीदास जी की 'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु विचार सुजन मन माहीं' इस चौपाई को सब लोग गाते हैं, किन्तु फिर भी भगवन्नाम नहीं जपते और भगवन्नामकीर्तन भी नहीं करते। भगवान् तो अनन्त सौन्दर्य की खान हैं, फिर भी उनकी ओर मन नहीं जाता। इनका कारण यही है कि श्रीभगवान् का कृपाकटाक्ष नहीं है। अपना पुरुषार्थ भी हो और भगवत्कृपा भी हो, तभी काम बनता है।

१२. ऋषियों ने यह निश्चय किया है कि भगवच्चिन्तन ही विधि है और जगच्चिन्तन ही निषेध है। जगच्चिन्तन का

परिणाम ही यह देह है। भगवच्चिन्तन करने से यह दिव्य हो जायगा। अतः सर्वदा भगवान् का चिन्तन करना चाहिये। बस, भगवन्नाम की रट लगा दो—'कलियुग करम न धरम विवेकू। राम नाम अवलम्बन एकू।'

१३. जो जितना अधिक जप करेगा उसे उतनी ही अधिक शीघ्र सिद्धि मिलेगी। सोलह नाम के महामन्त्र की कम से कम सोलह माला, द्वादशाक्षर मन्त्र की कम से कम बारह माला और 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्र की कम से कम पचास मालाएँ नित्यप्रति फेरनी चाहिये। अधिक जितनी कर सके उत्तम है। जिस व्यक्ति को जिस मन्त्र में प्रीति हो उसे उस एक ही मन्त्र का जप करना चाहिये। त्याग की भावना के लिये परद्रव्य का त्याग करे, पुरुषार्थ से यथावश्यक द्रव्योपार्जन करे, विषयों में आसक्ति का त्याग करे यथालाभ सन्तुष्ट रहे तथा ब्याज के ब्याज (सूद दर-सूद) से बचे। इन नियमों का पालन किये बिना तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इससे भी शीघ्र तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का उपाय है सद्गुरु की प्राप्ति! सद्गुरु मिल जाने से उसे शीघ्र ही सिद्धि हो जाती है। सद्गुरु जो नियम बतलावें उन्हीं का पालन करे।

१४. अधिक जप करने से शरीर के परमाणु मन्त्राकार हो जाते हैं।

१५. भगवन्नामस्मरण करने के लिये शुचि-अशुचि, सुसमय-कुसमय और सुस्थान-कुस्थान का विचार नहीं करना चाहिये।

१६. भगवान्के अनन्त नाम हैं, अनन्त शक्तियाँ है, अनन्त रूप हैं और अनन्त भाव हैं। किन्हीं-किन्हीं महानुभाव ने अनन्त नाम और अनन्त शक्तियाँ ये दो ही पक्ष माने हैं। इस प्रकार जब उनके अनन्त नाम हैं तो 'श्रीकृष्ण' 'श्रीराम' 'श्री शिव' ये

भगवन्नाम क्यों नहीं हो सकते। जो इन्हें भगवन्नाम नहीं मानते वे उक्त सिद्धान्त से अनभिज्ञ है।

१७ कीर्तन करनेवालों को सन्ध्या अवश्य करनी चाहिये। यह नहीं सोचना चाहिये कि हम कीर्तन करते हैं, हमें सन्ध्या करने की क्या आवश्यकता है।

१८ कीर्तन करनेवाले भक्तों से मेरा निवेदन है कि वे कीर्तन करते समय बिना भाव की विशेषता के दिखावटी गिर पड़ना, मूर्च्छित हो जाना, रोना नाचना आदि न करे तो अच्छा हो। यदि अत्यन्त बढ़े हुए भाव के आवेश मे कोई सावधान न रह सकता हो तो दूसरी बात है।

१६. भाई, मैं यह नहीं कहता कि ध्यान मत करो। किन्तु एक आदमी तो केवल ध्यान ही करता हो और दूसरा ध्यान भी करता हो और समय मिलने पर कीर्तन भी—तो थोड़े ही दिनों में देख लोगे कि कौन अधिक उन्नति करता है।

२०. कलियुग सब युगों से खराब है, परन्तु तो भी देवताओं ने भगवान् से प्रार्थना की कि हम कलियुग में पैदा हों। इसका कारण यही है कि इस युग में केवल श्रीभगवन्नाम जप और कीर्तन से ही मोक्ष मिल जाता है।

२१. सब यज्ञों में जपयज्ञ श्रेष्ठ है। और यज्ञों में तो यह देखना होता है कि उसमें काना न हो, कुष्ठी न हो, विधुर न हो, अविवाहित न हो, आदि-आदि; किन्तु जपयज्ञ में ऐसो कोई बात नहीं देखी जाती। इसमें तो चाहे बालक हो, चाहे बूढ़ा हो, चाहे स्त्री या शूद्र हो, सभी का अधिकार है।

२२. मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि आज-कल भगवन्नामजप और जितेन्द्रियता ही सब कुछ है। तत्त्वज्ञान

कलियुगी जीवों की समझ में नहीं आ सकता। तत्त्वज्ञान तो पवित्र हृदयवालों को ही होता है। और हृदय तब पवित्र होता है जब सब प्रकार की पवित्रताओं का पालन किया जाय।

२३. सबसे कठिन चीज क्या है? जप। और बुद्धि को पवित्र करनेवाली चीज क्या है? जप। जप यदि एक आसन से किया जाय तो बहुत अच्छा है।

२४. जिस दिन हमारी नाम में आसक्ति हो जायगी उसी दिन भक्ति महारानी आ जायेगी।

२५. भगवन्नामकीर्तन से ही उद्धार हो सकता है—

'देखो जी ऐसो राम नाम रसखान।
मूरख याको मरम न जाने पीवे चतुर सुजान॥

२६. जिनकी विचार में रुचि नहीं है और जो भगवद्गुणानुवाद में ही मस्त हैं वे ही उत्तम हैं। पाप कर्मों को ध्वंस करने के लिये भी जप करने की आवश्यकता है। इसी से ज्ञान-वैराग्ययुक्त भक्ति की प्राप्ति होगी। इसको भी अनिर्विण्ण चित्त से करना चाहिये देहनाशपर्यन्त इसे तत्परता से करते रहना चाहिये। पुनः पुनः चिन्तन करने को ही अभ्यास कहते हैं और यही पुरुषार्थ है। ईश्वर-चिन्तन में आनन्द आवे अथवा न आवे उसे तो प्रतिज्ञापूर्वक करते ही रहना चाहिये। मन भागता रहे तो भी कोई चिन्ता नहीं, किन्तु नियमपूर्वक चिन्तन की प्रतिज्ञा करनी ही चाहिये। भगवान उन्हीं पर दया करते हैं जो उनका चिन्तन करता है। जिस प्रकार से भगवान् में मन लगे वही करना चाहिये। जप में मन कम लगे तो कीर्तन करे या स्तोत्रपाठ अथवा स्तुतिपरक पदों का गान करे।

२७. अभ्यास करने से हम निद्रा को जड़-मूल से उखाड़

सकते हैं। किन्तु यह काम चार दिन के अभ्यास से नहीं होगा। इसलिये जल्दबाज नहीं होना चाहिये। यह निश्चय कर लेना चाहिये कि मैं आजन्म भगवन्नाम लेता रहूँगा। नित्य के नामजप का हिसाब लिखें। इस प्रकार प्रतिज्ञा करने से भजन होगा। भजन तो हठपूर्वक भी करना चाहिये। भजन करने वालों के लिये अतिआहार और अतिपरिश्रम निषिद्ध हैं। जप करते हुए मन भटके तो भटकने दो। जप में इतनी शक्ति है कि वह अधिक होने से अपने-आप मन को एकाग्र करने में सहायता करेगा। हम एकाग्रता की अपेक्षा भी प्रतिज्ञापूर्वक नियमित रूप से जप करने में विशेष लाभ समझते हैं। जैसे तीन घण्टे भजन का तथा नित्यप्रति गीतापाठ का नियम कर लिया जाय। नित्यप्रति साधन करने की प्रतिज्ञा कर ली जाय तो इससे बड़ा लाभ होगा। यदि लाभ न भी दीखे तो भी कोई हर्ज नहीं। इस जन्म मे नहीं तो अगले जन्म में लाभ दिखायी देगा। कभी न कभी तो आनन्द आवेगा ही।

२८. एक बार एक मुसलमान ने मेरे पास आकर पूछा कि हमारा उद्धार कैसे हो सकता है। मैंने कहा, 'भैया, अल्लाह-अल्लाह रटा करो। अल्लाह-अल्लाह रटने से तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा और हिंसा आदि बुरे कर्म छूट जायँगे, क्योंकि यह भी एक प्रकार का कीर्तन ही है।'

२९. माला भगवत्स्वरूप है। जिस माला से हम जप करते हैं उसमें एक प्रकार की शक्ति पैदा हो जाती है। अतः माला को जल्दी जल्दी नहीं बदलना चाहिये।

३०. कीर्तन से एकाग्रता उत्पन्न होती है। शब्द में रूप के समान ही आकर्षणशक्ति है। इसलिये प्रभु श्रीकृष्ण ने वंशी और रूप दोनों ही से सबको वश में किया था। मिलकर कीर्तन करने

से तुमुल ध्वनि होती है। दूसरी बात यह है कि कीर्तन करनेवालों में से यदि एक का चित्त भी सत्त्वगुणमय होगा तो सभी के चित्तों में सत्त्वगुण का आविर्भाव हो जायगा। इस प्रकार पहले कीर्तनद्वारा चित्त की एकाग्रता लाभ कर लेने पर प्रभु का ध्यान होगा।

३१. भगवान् और भगवान् के नाम मे कोई भेद नहीं है, अतः प्रेम से भगवन्नाम जपना चाहिये—

'जोई नाम सेई कृष्ण भज निष्ठाकरि।
नामेर सहित आछे आपनि श्रीहरि॥'

३२. जब तक पाप रहेगा तब तक श्रीकृष्ण नाम में प्रेम नहीं हो सकेगा।

३३. जब पास बैठने से ही दूसरे व्यक्ति की जप मे प्रवृत्ति होने लगे, तब समझो कि जापक का नाम-जप सिद्ध हुआ।

३४. जप किये बिना न रहा जाय, यहाँ तक कि जप पूरा न होने पर खाना पीना भी अच्छा न लगे तब समझो कि जप सिद्ध हुआ। इसी को जपनिष्ठा कहते हैं।

३५. पाठ आदि अन्य साधनों से तो मनोरञ्जन भी होता है, ये प्रवृत्ति की ओर ले जाते हैं। किन्तु जप निवृत्ति मार्ग है और भगवान् की ही ओर ले जाता है। वास्तव में जप ही सबसे मुख्य है, किन्तु उसमें मन कठिनता से लगता है।

३६. भगवान् के स्वरूप मे तो प्रेम हो सकता है, परन्तु नाम में प्रेम होना कठिन है। जिसने बहुत समय तक सेवा की हो उसे ही नाम में प्रेम हो सकता है। भगवान् का नाम उनके स्वरूप और सेवा दोनों की अपेक्षा सूक्ष्म है।

३७. स्मरण ही प्रेम का स्वरूप है। स्मरण करने से ही प्रेम होता है। बिना स्मरण किये केवल जप करने से विशेष लाभ नहीं

होता । जब इष्ट-नाम में प्रेम हो जाता है तो नाम लेने के साथ ही गद्गद्ता होकर आँसू आ जाते हैं और बेहोशी होने लगती है। जो प्रेम से भगवान् का नाम लेता है, भगवान् उस भक्त का स्मरण करते हैं। देखो, एक ओर श्री राधिकाजी 'कृष्ण-कृष्ण' कहती रहती हैं तो दूसरी ओर श्रीकृष्ण 'राधे-राधे' की रट लगाये रहते हैं। इससे निश्चय होता है कि जप इष्टदेव के स्मरणपूर्वक होना चाहिये। देखा जाता है कि बहुत लोग माला लेकर जप भी करते रहते हैं और भाई से लड़ाई अथवा मुकदमेबाजी की बातें भी। ऐसे जप से भला क्या लाभ होगा ? होगा भी तो, अगले जन्म में भले ही हो । तत्काल लाभ तो स्मरणपूर्वक जप करने से ही होगा।

३८. जप के समय ये चार काम नहीं करने चाहिये—(१) बोलना, (२) इधर-उधर देखना, (३) सिर या गर्दन हिलाना और (४) हँसना। जैसा कि कहा है—

'जपकाले न भाषेत नान्यानि प्रेक्षयेद्बुधः।
न कम्पेत शिरोग्रीवा दन्तान्नैव प्रकाशयेत् ॥

३९. भगवान् के मंगलमय नाम उच्चारण करने से करोड़ों जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं—ऐसा विद्वानों ने निश्चय किया है।

४०—भगवान् उत्तमश्लोक (पवित्र कीर्त्ति) का नाम, जान कर लिया जाय अथवा बिना जाने. वह पापों का नाश करता ही है।

४१. ज्ञानी या भक्त से कोई अपराध (पाप) बन जाय तो उसे शास्त्रोक्त प्रायश्चित की आवश्यकता नहीं है। वह केवल जप से ही दूर हो जायगा। बस, जप ही उसका प्रायश्चित है।

उपासनातत्व

प्र०—भगवान् का निराकार स्वरूप क्या है तथा उसकी कैसे उपासना हो सकती है?

उ०—जो वस्तु रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से परे है, वही भगवान् का निराकार रूप है। सम्पूर्ण विषयों को त्यागकर तदाकार वृत्ति करना ही उपासना है।

प्र०—भगवान् और गुरुदेव के चरणों की ही वन्दना क्यों की जाती है?

उ०—चरण सबसे छोटा अङ्ग है, इनकी वन्दना करने से भक्त अपने को इनसे भी छोटा और हीन अनुभव करता है। अतः ऐसा करने से उनमें दैन्य आ जाता है। इस प्रकार चरण पकड़कर वन्दना करने और शरण होने से हर एक का चित्त द्रवीभूत हो जाता है।

प्र०—पूजा और सेवा के क्या लक्षण है? इन दोनों में क्या अन्तर है तथा इनके अलग-अलग कौन अधिकारी हैं?

उ०—भक्त अपने भाव के अनुसार उपास्यदेव को वस्तु अर्पण करता है तो उसे 'पूजा' कहते हैं, इसमें उपासक के भाव की ही प्रधानता रहती है। किन्तु जब वह अपने इष्ट की रुचि को समझकर उसकी प्रसन्नता के लिये चेष्टा करता है तो इसे 'सेवा' कहा जाता है। इसमें इष्टदेव की रुचि ही प्रधान होती है। यही इन दोनों का अन्तर है, पूजा के अधिकारी तो सभी भक्त होते हैं, किन्तु सेवा कोई निजदास या अन्तरङ्ग भक्त ही कर सकते हैं।

प्र०—साकार और निराकार उपासना में मुख्यतया क्या अन्तर है?

उ०--साकारोपासना में जीव और ईश्वर का भेद वास्तविक माना जाता है, जब कि निराकारोपासना में इनका भेद मायिक है।

× × +

१. संसारी पुरुष को देहाभिमान रहता है और उपासक को जीवत्वाभिमान रहता है। मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा ब्रह्मचारी, गृहस्थ या सन्यासी हूँ--इसका नाम देहाभिमान है। तथा जो कुछ है वह प्रभु है, मैं सबका सेवक हूँ—यह जीवत्व का अभिमान है।

२. उपासना तीन प्रकार की होती है--अहंग्रहोपासना, निर्गुणोपासना और सगुणोपासना। वेदान्ती अहंग्रहोपासना करता है, योगी निर्गुण उपासना करता है और भक्त सगुणोपासक होता है।

३. उपासना में भाव ही की प्रधानता होती है। अपने इष्ट के अतिरिक्त भगवान् के किसी अन्य रूप मे प्रेम होना ही उपासना का प्रधान विघ्न है। देखो, पतिव्रता स्त्री अपने पति के अतिरिक्त किसी दूसरे पुरुष की ओर कभी आँख उठाकर नहीं देखना चाहती; भले ही वह अत्यन्त रूपवान, बलवान् अथवा मधुर प्रकृति का हो। इसी प्रकार भक्त, अपने इष्टरूप के अतिरिक्त भगवान् का कैसा ही चित्तचोर दूसरा रूप सामने आवे, देखना नहीं चाहेगा। यही निष्ठा की दृढ़ता है।

४. भाव की बड़ी महिमा है। देखो, भाव की दृढ़ता के कारण ही माँ या बहिन के समीप रहने पर भी कभी काम-बुद्धि नहीं होती।

५. उपासना मूर्ति की नहीं होती, अपितु सच्चिदानन्दघन की ही होती है। उपासना में भाव की प्रधानता तो है ही, इसके

साथ इन दस बातों पर भी पूरा ध्यान रखना चाहिये—सम्मान, बहुमान, प्रीति, विरह, इतरविचिकित्सा, महिमाख्याति, तदर्थ-प्राण धारण करना, तदीयता, सर्वत्र तद्भाव और अप्रतिकूलता। इनका विवरण नीचे दिया जाता है—

(१) *सम्मान*—भगवान् के मन्दिर के सामने से जितनी बार निकले उतनी बार प्रणाम करे तथा गुरु, भक्त एवं ब्राह्मणादि अपने पूज्य व्यक्तियों से जितनी बार मिले उतनी ही बार नमस्कार करे। इससे दैन्य भाव बढ़ता है।

(२) *बहुमान*—अपने नाम आदि भगवान् के नामानुसार रखे, इससे भक्त में भगवदीय गुण आ जाते हैं। इसी प्रकार भगवान् का नाम सुनकर अथवा नीले बादल या वृक्षादि को देखकर मन में भगवान् की महिमा का उदय हो जाना बहुमान है।

(३) *प्रीति*—जप आदि करते-करते उन्हीं में आसक्ति हो जाना प्रीति है।

(४) *विरह*—भगवान् की स्मृति से चित्त गद्गद् होकर व्याकुल हो जाय, करुणा से भर जाय अथवा बेसुध हो जाय—इसी का नाम विरह है।

(५) *इतरविचिकित्सा*—अपने इष्ट के सिवा और किसी से प्रभावित न होना इतरविचिकित्सा है।

(६) *महिमाख्याति*—अपने इष्टदेव या गुरुदेव की महिमा प्रकट करना तथा और किसी की महिमा हृदय में न लाना महिमाख्याति है।

(७) *तदर्थप्राणधारण*—अपने इष्टदेव के लिये ही प्राण धारण करना तथा उन्हीं के लिये प्रत्येक क्रिया करना।

(८) *तदीयता*—सब कुछ अपने इष्टदेव का ही समझना तदीयता है।

(९) *सर्वत्र तद्भाव*—सब जगह परमात्मा को ही देखना।

(१०) *अप्रतिकूलता*—भगवदिच्छा में दखल न देना। जो कुछ हो रहा है उसे भगवदिच्छा समझकर ठीक मानना तथा उसके विपरीत लोकहित की दृष्टि से भी कोई सङ्कल्प न करना अप्रतिकूलता है।

६. संशयात्मा को न संसार में सुख होता है, न भजन में। प्रायः देखा गया है कि जो विषयों में पूरे आसक्त होते हैं वे ही भगवान् में भी पूर्णतया आसक्त हो सकते हैं। भक्तशिरोमणि सूरदास, तुलसीदास ऐसे ही महापुरुष थे। जो सच्चे हृदय से भगवान की ओर थोड़ा भी लग गया है उसे संशयात्मा नहीं कह सकते। संशयात्मा तो वह है जिसका कहीं भी विश्वास नहीं है।

७. उपासना दो प्रकार की होती है—ऐश्वर्योपासना और माधुर्योपासना। भगवान् सर्वव्यापक हैं, सर्वशक्तिमान् हैं—इस प्रकार चित्त में भगवान का प्रभाव आना ऐश्वर्योपासना है। किन्तु माधुर्योपासना में तो भगवान् अपने निजजन होते हैं, वे एकदेशीय और बालक ही जान पड़ते हैं तथा डरते और लड़ते-झगड़ते भी हैं।

८. उपासना के और भी तीन प्रकार माने गये हैं-वैदिकी, गौणी और अनुरागात्मिका। (१) वैदिकी या वैधी उपासना उसे कहते हैं जब भक्त निर्मान होकर वेद-शास्त्र की विधि के अनुसार अपनी कुलपरम्परा का अनुसरण करते हुए इष्टदेव या कुलदेव का पूजन करता है। (२) गौणी उपासना में प्रधानतया भगवान् के गुण और प्रभाव पर दृष्टि रहती है। 'भगवान् ऐसे समर्थ और कृपालु हैं कि प्रह्लाद की रक्षा के लिये खंभ फोड़कर

प्रकट हो गये इस प्रकार भगवान् के ऐश्वर्य को लक्ष्य करके उनकी भक्ति करना गौणी उपासना है। (३) अनुरागात्मिका तो भगवान् की माधुर्य भक्ति है। यह तो भगवान् में अत्यन्त अनुराग होने पर सबसे पीछे आती है। पहले तो ऐश्वर्य भाव से ही भगवान् की भक्ति करनी चाहिये। जो आरम्भ से ही माधुर्य-भक्ति करना चाहते हैं वे तो प्रायः संसार की ओर ही चले जाते हैं।

९. उपासना के दो परिणाम होते हैं। कोई उपासक तो उपासना द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होने पर जिज्ञासु हो जाते हैं और फिर ज्ञान प्राप्त करते हैं। और दूसरे केवल प्रेम मे ही तत्पर रहते हैं। ऐसे भक्त ज्ञान की इच्छा कभो नहीं करते। वे तो भगवान् को ही आत्म-निवेदन करके प्रेमानन्द में मग्न रहते हैं। उनमें अहंता-ममता नहीं रहती। वे तो अपना सर्वस्व प्रभु को अर्पण कर देते हैं।

१०. भगवान् की दया और अपनी निज की चेष्टा—दोनों ही से भजन में उन्नति होती है।

११. साकार-उपासक के लिये तो इष्टदेव की मूर्ति साक्षात भगवान् ही है।

१२. मेरा इष्टदेव ही भगवान् है, उससे अतिरिक्त सब माया है, संसार कुछ भी नहीं—यह उत्तम उपासक की निष्ठा होती है। इसी से भगवान् मिलते हैं।

१३. जप, ध्यान और पाठ सर्वदा नियत समय पर नियमित रूप से नियत संख्या में करते रहना चाहिये।

१४. गुरु को मनुष्य समझना, भगवद्विग्रह को पत्थर समझना, मंत्र को शब्द समझना, चरणोदक को सामान्य जल मानना, महाप्रसाद को केवल भोजन समझना तथा साधु की जाति

पर दृष्टि रखना उपासना के महान् विघ्न हैं। ऐसे लोगों का कल्याण नहीं हो सकता।

१५. यदि इष्टदेव की परिपूर्णता के भाव में कुछ भी कमी है तो उपासना सफल नहीं हो सकती। इष्टदेव में एकदेशीयता का भाव नहीं आना चाहिये। ऐसी ही धारणा रहनी चाहिये कि परिपूर्ण सच्चिदानन्दघन श्री भगवान् के सिवा और कुछ भी नहीं है। एक बादशाह की बेगम हर समय खुदा की बन्दगी करती रहती थी और उनके ध्यान में तल्लीन रहा करती थी। एक दिन बादशाह आँख बन्द किये खुदा का ध्यान कर रहे थे। बेगम ने पूछा, "क्या बाहर-भीतर कुछ अन्तर है?" बादशाह ने कहा, "हाँ, अन्तर है।" बेगम बोली, "तो आपकी इबादत कुछ नहीं। जब तक बाहर भीतर एक न हो तब तक सच्ची उपासना नहीं हो सकती।"

१६. मन बिना उपासना किये नहीं रह सकता। यह प्रकृति का नियम है। वह यदि भगवान् की उपासना नहीं करेगा तो सांसारिक विषयों की उपासना करेगा। किसी एक की उपासना तो उसे करनी ही पड़ेगी। अतः उसे भगवान् की उपासना में लगा दो।

१७. साकार भगवान् तो भक्त की अपनी वस्तु है। वह अपने भगवान् के पास किसी को आने दे अथवा न आने दे, किसी को उनकी पूजा करने दे अथवा न करने दे, उसे पूर्ण अधिकार है। हाँ, निराकार भगवान् सबकी वस्तु हैं। उन पर सारी सृष्टि का अधिकार है, उनके पास जाने या उनका पूजन करने से कोई किसी को नहीं रोक सकता। देखो, पृथ्वी सबकी चीज है और उस पर सबका अधिकार है; किन्तु यदि कोई मकान

बना लेता है, तो बनाने वाला ही उसका मालिक हो जाता है। वह किसी को अपने मकान में आने दे अथवा न आने दे—यह उसके अधिकार की बात है। यद्यपि तत्त्वदृष्टि से पृथ्वी और मकान में कोई अन्तर नहीं है, इसी प्रकार साकार और निराकार भगवान् में भी वस्तुतः कोई भेद नहीं है। किन्तु उनकी उपासना आदि के विषय में कुछ व्यावहारिक भेद तो हैं ही।

१८. ईश्वर का शुद्ध स्वरूप तो निर्विशेष है। उसकी उपासना नहीं हो सकती। इसलिये उसके साकार या निराकार स्वरूप की उपासना करनी चाहिये। जहाँ तक भेददृष्टि है वहीं तक बुद्धि की गति है और वहीं तक उपासना हो सकती है। अभेददृष्टि तो बुद्धि से परे की बात है और यही ज्ञान है।

१९. भगवत्सेवा में भगवान् को भोग लगाया जाता है। सो, क्या भगवान् भूखे हैं? नहीं, नहीं, भगवान् तो नित्यतृप्त हैं। भक्तजन अपने लाभ के लिये ही भगवत्सेवा करते हैं। इसका एकमात्र उद्देश्य यही है कि भगवदाकार वृत्ति हो, भगवान् तो भावग्राही हैं।

२०. अपनी इष्ट मूर्त्ति के सिवा भगवान् के अन्य विग्रहों को अपने इष्ट की ही विभूति समझो। इष्ट में अनन्यभाव ही उपासना है। उपासक के लिये इष्ट से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, वह तो सबमें अपने इष्ट को ही देखता है।

२१. उपासना दो की होती है—(१) विषय की, या (२) सच्चिदानन्दघन की। विषय की उपासना से कोई लाभ नहीं, वह व्यर्थ है। किन्तु जो परिपूर्ण सच्चिदानन्दघन की उपासना करता है वह तो सच्चिदानन्द ही हो जाता है। उसके लिये जड़ कहीं नहीं रहता। उसने तो आरम्भ से ही सबको सच्चिदानन्दस्वरूप

निश्चय किया है। इस प्रकार ज्ञानी की जो अन्तिम स्थिति होती है, भक्त वैसा पहले ही निश्चय कर लेता है। अतः अन्त में भी उसकी वही स्थिति रहती है।

२२. देवता की उपासना के लिये शरीर को दिव्य बनाया जाता है, क्योंकि दिव्य शरीर से ही देवता की आराधना हो सकती है, इसी तरह भगवान् की उपासना के लिये भक्त अपने को चिन्मय बनाता है। तभी भगवान् की उपासना होती है, क्योंकि भगवान् का शरीर चिन्मय ही है; वह जड़, मायामय, स्थूल अथवा नाशवान् नहीं है। और चिन्मय की उपासना चिन्मय ही कर सकता है। भगवान् की सभी वस्तुएँ चिन्मय हैं, जैसे समुद्र की अनन्त लहरों के अनन्त आकार-प्रकार होने पर भी वस्तु एकमात्र जल ही है। कहा भी है—'गुड़-सा मीठा है भगवान्। बाहर भीतर एक समान॥' यह तो साधक की बात हुई। किन्तु साधक ही सिद्ध हो जाता है। भक्त को जब ज्ञान होता है तो वह अपनी सच्चिद्रूपता का अनुभव करता है। वह साक्षीभाव में स्थित हो अपना एक नया चिन्मय शरीर पैदा कर लेता है और उसी से भगवदीय आनन्द प्राप्त करता है। आनन्द के भण्डार तो श्री भगवान् ही हैं। भक्त स्वयं अपनी आनन्दरूपता स्वीकार नहीं करता।

२३. एक बार देवताओं ने हनुमानजी से पूछा कि तुम भक्त हो या ज्ञानी। इस पर हनुमानजी ने विचार किया कि मैं भगवान् का सेवक हूँ और उन्हीं के पास रहता हूँ। यदि अपने को अज्ञानी कहूँ तो मेरे प्रभु पर ही दोष आता है। अतः वे बोले, "शरीरदृष्टि से तो मैं भगवान् का सेवक हूँ और जीवदृष्टि से उनका अंश हूँ। अंश और अंशी वास्तव में एक ही होते हैं, जैसे समुद्र और लहर। अतः वास्तव में चेतन सत्ता-दृष्टि से तो जो प्रभु हैं

वही मैं हूँ। मुझमें और प्रभु में कोई अन्तर नहीं है।" इस प्रकार भक्त और ज्ञानी की साधनावस्था में जिस प्रकार अन्तर रहता है, वैसे ही सिद्धावस्था में भी रहता है। भक्त साक्षीभाव से चिन्मय शरीर प्राप्त कर लेने पर भी अपने चिन्मय आनन्द के भण्डार भगवान् से ही आनन्द का भोग करता है, स्वयं आनन्द-स्वरूप कभी नहीं बनता। देखो, खाँड़ के अनेकों प्रकार के खिलौने बनते हैं, किन्तु वे खाँड़मात्र ही तो होते हैं। उसी प्रकार भगवदीय सृष्टि की सब वस्तुएँ चिन्मात्र ही होती हैं। चेतन से भिन्न कुछ नहीं होती। भक्त के इस चिन्मय शरीर का कभी नाश भी नहीं होता। जिस प्रकार भगवान् नित्य हैं उसी प्रकार भक्त का चिन्मय शरीर भी नित्य ही होता है। वास्तव में भक्त और भगवान् की एक ही सत्ता होती है, तथापि भगवान् की लीला और सेवा का विलक्षण आनन्द अनुभव करने के लिये भक्त भगवान् से अपना भेद बनाये रहता है। देखो, स्नान करने पर जब शरीर शुद्ध हो जाता है तो दूसरे को छूने की भी इच्छा नहीं होती, किन्तु उस समय क्या शरीर का मल-मूत्र कहीं चला जाता है, अथवा उसके अस्थि, मांस एवं लोहू में कोई कमी आ जाती है। केवल भावना में ही तो शरीर की शुद्धि होती है। इसी प्रकार भाव से ही शरीर की चिन्मयता होती है और स्थूल शरीर का नाश होने पर भी वह भावमय चिन्मय शरीर नष्ट नहीं होता। वह नित्य बना रहकर भगवदीय आनन्द का उपभोग करता है।

२४. उपासक को ध्यान करते समय त्याग का आश्रय लेना होता है। जिस समय इष्टाकार वृत्ति करनी होगी उस समय अन्य का त्याग करना आवश्यक होगा। ध्यान के समय भूत-भविष्य का चिन्तन छोड़ना होगा। बस, कृष्णाकार वृत्ति करता रहे। वृत्ति गाढ़ होने पर श्रीकृष्ण का दासत्व प्राप्त होगा।

२५. साकारोपासक के लिये तो मूर्त्ति भगवान् ही है। उत्तम उपासक की अपने इष्टदेव में ही भगवद्बुद्धि होती है। उससे अतिरिक्त और सब माया है।

२६. संसार कुछ नहीं है—यह उपासक की निष्ठा होती है और इस निष्ठा से ही उसे भगवान् मिलते हैं।

२७. उपासना में बत्तीस अपराध माने गये हैं। इन्हें करने से ही उपासक को भक्ति प्राप्त नहीं होती। अतः इन्हें त्यागकर ही उपासना करना चाहिये—

(१) भगवान् के मन्दिर में सवारी में बैठकर जाना।
(२) ,, ,, ,, खड़ाऊँ पहिनकर जाना।
(३) ,, ,, ,, शयन करना।
(४) ,, ,, ,, भोजन करना
(५) ,, ,, ,, जोर से बोलना।
(६) ,, ,, ,, झूठ बोलना।
(७) ,, ,, ,, लड़का, लड़की या धन के लिये रोना।
(८) ,, ,, ,, लड़ना।
(९) ,, ,, ,, कम्बल ओढ़कर जाना।
(१०) ,, ,, ,, रुपये-पैसे का व्यवहार करना।
(११) ,, ,, ,, बैठे हुए रिश्तेदार को प्रणाम करना।
(१२) ,, ,, ,, अपान वायु छोड़ना।
(१३) भगवान् का उत्सव न करना।
(१४) भगवान् के सामने अन्य देवता की स्तुति करना।
(१५) जूठे हाथ या मुँह से भगवान् के लिये चन्दन या पुष्प उतारना।

(१६) एक हाथ से प्रणाम करना ।
(१७) प्रदक्षिणा न करना ।
(१८) भगवान् के सामने पैर फैलाकर बैठना ।
(१९) भगवान् के मन्दिर के सामने खाट या तख्त पर बैठना
(२०) आपस में संसारी बातचीत करना ।
(२१) निग्रह-अनुग्रह करना अर्थात् किसी को दण्ड देना अथवा छोड़ देना ।
(२२) क्रूर भाषण करना अर्थात् कठोर वचन बोलना ।
(२३) निन्दा-स्तुति करना ।
(२४) अश्लील शब्द बोलना ।
(२५) समय मिलने पर भी नियम से ठीक-ठीक पूजा न करना ।
(२६) ऋतु के फलों का भोग न लगाना ।
(२७) भोग लगाकर प्रसाद ग्रहण न करना ।
(२८) भगवान को पंखा इत्यादि न करना ।
(२९) अपनी प्रशंसा करना ।
(३०) देवता की निन्दा करना ।
(३१) श्रेष्ठ पुरुषों की प्रशंसा सुनकर उनसे ईर्ष्या करना ।
(३२) भगवान को बिना निवेदन किये खाना अथवा जल-पान करना ।

भक्ति-रहस्य

प्र०—महाराजजी, भक्ति का चरम लक्ष्य क्या है ?

उ०—भक्ति का चरम लक्ष्य है भगवत्प्रेम, दुःख का अभाव और नित्य परमानन्द की प्राप्ति।

प्र०—भक्तों की देह बुद्धि कब नष्ट होती है ?

उ०—जब भगवान् मिल जाते हैं। पहले सबसे प्यारी चीज क्या थी ? देह। अब हो गये भगवान्, इसलिये देहबुद्धि नष्ट हो गयी।

प्र०—भगवान् में अनुराग कैसे हो ?

उ०—निरन्तर चिन्तन से। यदि तुम्हारा चित्त निरन्तर भगवान् श्रीकृष्ण की ओर आकर्षित होता है तो तुम निरन्तर उन्हीं का चिन्तन करो। ऐसा करते-करते अनुराग की उत्पत्ति होगी और संसारबन्धन छूट जायगा।

प्र०—भगवान् की कृपा तो सभी पर समान है, फिर उसके लिये किसी प्रकार की याचना करने की क्या आवश्यकता है ? और मनुष्यों की परिस्थिति में भी अन्तर क्यों है ?

उ०—भगवान् या महात्मा की कृपा सामान्यतः तो सभी पर समान है; परन्तु भक्त की सेवा से जो उन्हें एक प्रकार का संतोष होता है वही विशेषतया कल्याण का हेतु होता है। इसी से मनुष्यों की परिस्थिति में भी अन्तर है। उस भगवत्प्रसाद या महात्मा की प्रसन्नता के दो कारण हैं। या तो भक्तिपूर्वक उनकी सेवा की जाय या उनकी आज्ञा का पूर्णतया पालन करें।

प्र०—प्यारे श्रीकृष्ण के दर्शन किस उपाय से हो सकते हैं ?

उ०—संसार दुःखरूप प्रतीत होने से मनुष्य भगवद्भक्तों की शरण में जाता है। भगवद्भक्तों में प्रेम होने से भगवान् में स्वाभाविक प्रेम हो जाता है। इस प्रकार भगवान् और भक्तों की कृपा ही श्रीकृष्णदर्शन का मुख्य साधन है।

प्र०—गोपिकाओं की भाँति भगवान् में अनन्य प्रेम होने के लिये क्या करना चाहिये ?

उ०—एक इष्टदेव के सिवा अपना कोई इष्ट न रहे—ऐसी अनन्यता होनी चाहिये। अनन्य प्रेम की प्राप्ति के लिये पहले तो वल्लभ कुलवालों की भाँति मूर्त्ति की बाह्य सेवा-पूजा करे। उसके पश्चात् मानसिक पूजा-सेवा करनी चाहिये, क्योंकि केवल बाह्य पूजा से प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती। बाह्य पूजा से मानसिक पूजा श्रेष्ठ है। स्थिर आसन से इष्टदेव का चिन्तन करते हुए जप करना चाहिये। केवल बाह्य जप में लगे रहने से ध्यान तथा विशेष आनन्द का अनुभव नहीं होता। इससे बहुत काल में लाभ होता है। इसलिए जप के साथ ध्यान, मानसिक पूजा और दैवीसम्पद् के गुण धारण करना तथा अवगुणों को छोड़ना अत्यन्त आवश्यक है।

प्र०—श्रीशुकदेवजी की भाँति तीव्र वैराग्य होने के लिये क्या करना चाहिये ?

उ०—निष्काम भगवत्प्रेम या ध्यान ही तीव्र वैराग्य का साधन है। बिना प्रेम के जो बाह्य त्याग करते हैं, वह विशेष मूल्यवान् नहीं है। उसमें धोखा हो सकता है।

प्र०—क्या सविशेष उपासना निर्विशेष उपासना का साधन है ?

उ०—भगवान् के सोपाधिक और निरुपाधिक दोनों ही रूप स्वयंप्रकाश हैं। सविशेष उपासना निर्विशेष उपासना का साधन है—यह विचार ठीक नहीं। प्रेमी भगवान् के सविशेष-

निर्विशेष किसी भी रूप से प्रेम करे, वह भगवान् से ही प्रेम करता है। भगवान् के इन रूपों में किसी प्रकार का तारतम्य मानना ठीक नहीं। हाँ, भगवान् के शुद्ध स्वरूप को समझने के लिये यदि ऐसा भेद किया जाय तो कोई आपत्ति नहीं। परन्तु यह सिद्धान्त नहीं है। भगवान् का सगुण रूप भी वस्तुतः निर्गुण ही है, क्योंकि भगवान् तो भक्तानुग्रहविग्रह हैं। भक्तों को आनन्दित करने के लिये उनकी भावना के अनुसार वे भिन्न-भिन्न रूपों में भासते हैं, वस्तुतः तो वे सच्चिदानन्दस्वरूप ही हैं। श्रीगोसाईं जी महाराज कहते हैं—

निरगुन ब्रह्म सगुन भये कैसे ? जल-हिम-उपल विलग नहिं जैसे।

प्र०—जितने भी महापुरुष हैं या हुए हैं, उनकी निन्दा क्यों होती है ?

उ०—भगवान् की दो शक्तियाँ हैं—माया और भक्ति। जहाँ माया है वहाँ भक्ति नहीं रहती और जहाँ भक्ति है, वहाँ माया नहीं रहती। माया शक्ति भक्तों के हृदय में तो आ नहीं सकती वह दुष्ट के हृदय में बस जाती है, इसी से वे भक्तों की निन्दा किया करते हैं।

प्र०—श्रीकृष्ण भगवान् में प्रेम होने की जोरदार बातें सुनाने की कृपा कीजिये।

उ०—हमारे पास तो वैसी बातें नहीं है, परन्तु भागवत में श्रीकृष्णप्रेम के सम्बन्ध में बहुत जोरदार बाते कहीं हैं, उनको देखना चाहिये। एवं रामायण में कहा है—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुशासन मानइ जोई॥

प्र०—मनुष्य को भगवान् की इच्छा पर निर्भर रहना चाहिए, या पुरुषार्थ पर ?

उ०—भगवान् की आज्ञा पालन करते हुए पुरुषार्थ करने में तत्पर रहना एवं फल में उनकी इच्छा पर निर्भर रहना चाहिये, क्योंकि पुरुषार्थ तीव्र करने से भगवत्कृपा से सब कुछ हो सकता है। पुरुषार्थ करते हुए भी सिद्धि-असिद्धि में भगवान् की इच्छा की प्रधानता समझनी चाहिये। यही भक्तों की मान्यता है। भगवान् की इच्छा मानकर पुरुषार्थ किसी भी काल में न छोड़े।

× × +

प्र०—भजन किसे कहते हैं? अर्थात् भजन का स्वरूप क्या है?

उ०—अन्तःकरण की वृत्ति का भगवदाकार हो जाना ही भजन है। भजन का दूसरा अर्थ सेवा है। सेव्य को पूर्ण सुख पहुँचाना, उन्हीं के सुख से अपने को परमानन्द होना—यह भी उनकी इच्छा के लिये नहीं, अपने ही आनन्द के लिये, क्योंकि महापुरुषों को सेवा कराने की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार सेव्य के तद्रूप हो जाना ही सेवा का प्रधान लक्ष्य है।

प्र०—भजन क्यों करना चाहिये?

उ०—हम छोटे हैं, अवगुणी हैं, दीन-हीन हैं और दुखिया हैं—इन बातों को दूर करने के लिये भजन करना चाहिये। हम जिसका भजन करेंगे उसी के गुण हममें आ जायँगे। अतः अपनी अल्पशक्ति एवं चाहना-कामना को दूर करने के लिये हमें भगवान् का भजन करना चाहिये। भगवान् सबसे बड़े हैं, अतः उनका भजन करने से मनुष्य सबसे बड़ा बन जाता है।

प्र०—भजन करने से क्या लाभ है?

उ०—प्रेम किये बिना हमसे रहा नहीं जाता। प्रेम की पराकाष्ठा को पहुँच जाना, प्रेमस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर लेना ही भजन का मुख्य लाभ है।

प्र०—भजन न करने से क्या हानि है?

उ०—भजन किये बिना कोई रह नहीं सकता। विषयों का भजन करने से विषयों की प्राप्ति होगी। विषय क्षणभंगुर हैं, इस लिये उनका नाश होने पर दुःख होगा। अतः भजन न करने से निरन्तर दुःखों की प्राप्ति होगी। इससे बढ़कर और क्या हानि हो सकती है।

प्र०—भजन करने का अधिकारी कौन है ?

उ०—जो विषयों में दुःख देखे अथवा जिसे विषय दुःख-रूप दिखायी पड़े, वही भजन का मुख्य अधिकारी है। जो विषयानन्द में मस्त रहते हैं वे भजन नहीं कर सकते।

प्र०—भजन करनेवालों से पापकर्म क्यों नहीं छूटते ?

उ०—इन्हें विषयचिन्तन करने को समय मिलता है, जिससे पाप होता है। यदि निरन्तर भजन करने लगें तो फिर पाप नहीं हो सकते। जन्मजन्मान्तरों से विषय सेवन करते आये हैं; इसलिये एक जन्म का सारा समय भजन में लगावें तो भी थोड़ा ही है। परन्तु हम तो उसे भी नहीं लगाते। हम जितना भजन करते है उतने पाप तो छूटते ही हैं।

प्र०—भजन करनेवालों को एकान्त की आवश्यकता है या नहीं ?

उ०—एकान्त की अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि एकान्त के बिना विरोधी वृत्ति दूर नहीं होती।

प्र०—भजन करनेवालों को क्या करना चाहिये ?

उ०—आवश्यकता से अधिक प्रवृत्ति करने से भजन नहीं होगा। अतः अधिकाधिक भजन करना और संसार की ओर से चित्त हटाना चाहिये।

प्र०—महाराजजी ! मानसिक पाप क्यो होते हैं ?

उ०—पूर्व संस्कारों से।

प्र०—यदि कोई मानसिक पाप हो जाय तो उसका क्या प्रायश्चित है?

उ०—सच्चे मन से पश्चात्ताप करे और भगवन्नाम जपे। भगवान् के नाम-जप में अचिन्त्य शक्ति है। इससे अनन्त जन्मों के पाप विध्वंस हो जाते हैं। नाम में जितने पापों को जलाने की शक्ति है उतने पाप मनुष्य एक जीवन में कर ही नहीं सकता।

प्र०—भगवद्गुणानुवाद का प्रभाव दूसरों पर कब पड़ता है?

उ०—जब गुणानुवाद करते हुए रोमाञ्च हो जाय और नेत्रों से जल बहने लगे।

प्र०—भक्ति में मुख्य विघ्न क्या है?

उ०—चिन्ता और क्रोध—ये भक्ति के प्रधान विघ्न हैं।

प्र०—भगवान् का तत्त्व कैसे मालूम होता है?

उ०—ध्यान से भगवान् का तत्त्व मालूम होता है। भगवान् का ध्यान उनका रूप जानने से होता है, इसके लिये तत्त्व-ज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

प्र०—सकाम भक्ति और निष्काम भक्ति में क्या अन्तर है?

उ०—केवल भगवान् को ही चाहना निष्काम भक्ति है और भगवान से कोई अन्य वस्तु चाहना सकाम भक्ति है। अर्थात् भोगों की इच्छा सकामता है और केवल भगवान् को ही चाहना निष्कामता है।

× × ×

१. भगवान् की कृपा तो सभी जीवों पर रहती है, किन्तु मन की मलिनता से हमें मालूम नहीं होती। मीराबाई जहर का प्याला पी गयीं, किन्तु उनका कुछ नहीं बिगड़ा।

२. पराभक्ति में ज्ञान भी रहता है और प्रेम भी। श्री नारायण स्वामीजी कहते हैं—

'परा भक्ति और ज्ञान में, तनिकौ नाही भेद।
नारायण मुख्य प्रेम है, कहे संत अरु वेद॥

३. भगवत्प्राप्ति के अनेक मार्ग हैं, किन्तु एक ही पुरुष द्वारा एक ही समय में सबका साधन नहीं किया जा सकता। इसलिये भक्ति को तो भक्ति बढ़ानेवाले कार्य ही करने चाहिये।

४. विषयों मे सुख नहीं है। सुख तो केवल एक भगवान् श्रीकृष्ण में ही है। श्रीनारायण स्वामीजी कहते है—

'मन मे लागी चटपटी, कब निरखों घनस्याम।
नारायण भूल्यो सभी, खान पान बिसराम॥
ब्रह्मादिक के भोग सब, विष सम लागत ताहि।
नारायण ब्रजचन्द की, लगन लगी है जाहि'॥

५. जगत् का चिन्तन छूट जाय, श्रीकृष्ण का ही चिन्तन हो—बस, इसी का नाम भक्ति है।

६. जैसे संसारी मनुष्य का किसी स्त्री में प्रेम हो जाता है तो वह, चाहे कोई कुछ भी कहे, किसी की नहीं सुनता, इसी प्रकार जिसको श्रीकृष्ण-प्रेम हो जाता है, उसकी संसार कितनी ही बुराई करे, वह किसी की परवा नहीं करता।

७. गुरु का अङ्ग, साधु का संग, नाम का रङ्ग, विवेक का अभंग और प्रभु का विश्वास होना आवश्यक है। (अर्थात् गुरु की सेवा, सत्सङ्ग, हरिनाम में प्रेम, विवेक की जागृति और भगवान् मे विश्वास होने से सब कुछ सिद्ध हो जाता है।)

८. अनेक जन्मों के शुभ संस्कार इकट्ठे होने पर श्रीकृष्ण मे भक्ति होती है—'जन्मान्तरसहस्राणां कृष्णे भक्तिः प्रजायते।'

९. विषयासक्ति बन्धन है, परन्तु भगवदासक्ति बन्धन नहीं है, क्योंकि भगवान् में आसक्ति होने से विषयासक्ति नष्ट हो जाती है।

१०. आसक्ति किये बिना जब हम रह नहीं सकते तो फिर हमें भगवान् में ही आसक्ति करनी चाहिये; चाहे सगुण-साकार में हो चाहे निर्गुण-निराकार में। जिस ओर दृढ़ संकल्प होगा उसी में आसक्ति होगी।

११. एक ओर भगवान् है और दूसरी ओर सारा संसार है। हमको एक जगह प्रेम करना है, तो दूसरी जगह छोड़ना पड़ेगा। जैसे लड़की ससुराल जाती है तो पिता के घर को बड़े दुःख से छोड़ती है, पर ससुराल में मन लग जाने पर पिता का घर बहुत कम याद आता है। इसी प्रकार साधक को सारे संसार से आसक्ति हटाकर भगवान् में प्रेम करना चाहिये। आरम्भ में दुःख-सा होगा, परन्तु भगवान् में प्रेम होने के बाद संसार याद ही नहीं आवेगा। यह मोह केवल वेदान्त-विचार से थोड़ा ही छूटेगा, क्योंकि आज-कल वेदान्त-विचारवाले तो बहुत देखे जाते हैं, परन्तु मोह विरलों का ही छूटता है। इसलिये भगवान् का आश्रय लेकर निरन्तर उनका भजन करने से ही मोह छूट सकता है।

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥' (गीता ७।१४)

१२. भगवान् के सगुण रूप में प्रेम होने के चार उपाय हैं- (१) भगवान् के नाम का जप, (२) उनके गुणों का बारम्बार कहना-सुनना, (३) उनके स्वरूप का ध्यान और (४) उनके भक्तों का संग। ये सब बातें महाभागवत अम्बरीप की जीवनचर्या में बतायी गयी हैं—

'स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥'
(भाग० ९।४।१८)

अर्थात् उस (अम्बरीष) ने अपने चित्त को भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों मे, वाणी को भगवान् के गुणों के वर्णन मे, हाथों को श्रीहरि के मन्दिरों को साफ करने में और कानों को उनकी मनोहर कथाओं के श्रवण में लगा दिया था।

१३. लोग निष्कामता को बहुत महत्त्व देते हैं। परन्तु भक्तिपक्ष में तो अच्युत-भावहीन निष्कामता भी व्यर्थ है। भक्त का तो प्रत्येक कार्य भगवान् की पूजा के लिये ही होना चाहिये।

१४. तुलसीदासजी ने विनयपत्रिका में सब देवताओं की वन्दना की, किन्तु उन सबसे भीख केवल श्रीराम-पदारविन्द की ही माँगी है। इसी प्रकार सूरदासजी श्रीकृष्णपदपंकज के भ्रमर बने रहे। अतएव साधक को भगवान् के किसी एक रूप में ही मन लगाने की चेष्टा करनी चाहिये। किन्तु आज-कल तो लोग कभी साकार की उपासना करते हैं तो कभी निराकार की, कभी वेदान्ती बनकर योगवासिष्ठ विचारते हैं तो कभी उपदेशक बनकर ब्रह्म का उपदेश देते हैं। इसलिये उन्हें शीघ्र सिद्धि भी नहीं मिलती।

१५. प्रेम करनेमें विचार की जरूरत नहीं है, क्योंकि विचार करने से तो वस्तु का निश्चय होता है, प्रेम नहीं।

१६. भगवान् में मन जोड़ने से भगवान् में प्रेम हो सकता है। जैसे विषयों के संग से विषयों में प्रेम होता है वैसे ही भक्तों के संग से भगवान् में प्रेम हो जाता है।

१७. भक्ति के साधक को पहले श्रद्धा करनी चाहिये और फिर सत्संग। सत्संग भी भक्तों का करे, वेदान्तियों का नहीं। जो भगवत्प्रेम चाहता हो, वह अद्वैतवाद के ग्रन्थ न सुने, न पढ़े और उनकी निन्दा ही करे; क्योंकि भक्तों में तो द्वैतभाव रहता है। जो अद्वैत के ग्रन्थ पढ़ता-सुनता है उसकी भक्ति दब जाती है।

वेदान्त-विचार करनेवाला तो भक्ति भी कर सकता है, किन्तु भक्त यदि वेदान्त विचार करेगा तो उसकी भक्ति दूर हो जायगी। भक्त को तो भगवान् के गुणानुवाद ही सुनने चाहिये और उन्हीं की भक्ति करनी चाहिये।

१८. भक्ति के वैधी, गौणी, अनुरागात्मिका और प्रेमलक्षणा ये चार भेद हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) मनुष्य जन्म का कर्त्तव्य समझकर अपने पूर्वजों की देखा-देखी शास्त्रोक्त विधि के अनुसार जो भक्ति की जाती है उसे वैधी भक्ति कहते हैं।

(२) भगवान् के गुण श्रवण करके मीराबाई, नरसी मेहता आदि की तरह जो भक्ति की जाती है उसे गौणी भक्ति कहते हैं।

(३) गुण-अवगुण का विचार न करके भगवान् के साथ जो स्वाभाविक प्रेम होता है उसे अनुरागात्मिका भक्ति कहते हैं।

(४) इन तीनों के पश्चात् जो स्वतः ही भगवान् के साथ प्रगाढ़ प्रेम हो जाता है उसे प्रेमलक्षणा भक्ति कहते हैं। उसका यथार्थ वर्णन हो ही नहीं सकता।

१९. मुझे गीता का यह श्लोक बहुत प्रिय है—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥' * (१२।८)

२०. श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध की रासपञ्चाध्यायी को भगवान् में आसक्ति होने के लिये ही पढ़ना चाहिये तथा भगवान्

---

* तू मुझमे ही मन लगा दे, मेरे मे ही बुद्धि जोड दे। ऐसा होने पर नि सन्देह तू मुझमे ही निवास करेगा।

की पूजा-सेवा भी उन्हीं में आसक्ति होने के लिये करनी चाहिये। यद्यपि भगवान् नित्यतृप्त हैं, सेवा-पूजा से भला उन्हें कौन तृप्त कर सकता है ? तथापि भक्तों पर दया करके उनकी प्रीति बढ़ाने के लिये भगवान् उनके द्वारा की हुई सेवा-पूजा ग्रहण करते हैं। अतः नित्य-निरन्तर भगवान् के गुणों का कथन-श्रवण, नाम-कीर्तन एवं साधु-सङ्ग आदि भक्तिवर्धक कार्य करते रहना चाहिये। इससे भगवान् मे आसक्ति हो सकती है।

२१. भक्ति मार्ग में सबसे पहले श्रद्धा, फिर सत्संग और उसके बाद भजनक्रिया होती है। निन्दा भूलकर भी किसी की नहीं करनी चाहिये। निन्दा से जितनी हानि होती है उतनी किसी से नहीं होती। निन्दा को भगवन्नामजप में पहला अपराध माना है। इसलिये किसी के दोष नहीं देखने चाहिये और न किसी की निन्दा ही करनी चाहिये।

२२. भगवान् तो भावग्राही हैं। वे विश्वास के अधीन हैं तथा चालाकी और तर्क से दूर रहते हैं। सच्चे रोने से काम चलता है। जो सच्चे हृदय से रोवेगा उसे भगवान् अवश्य मिलेंगे, नकल से भगवान् बहुत अप्रसन्न होते हैं।

२३. भगवान् का सच्चा भक्त तो वही है जो भगवान् को अर्पण किये बिना कुछ भी नहीं खाता पीता।

२४. जो भगवान् का भक्त होगा वह भक्तों का भक्त अवश्य होगा।

२५. प्रतिदिन नियत समय में इष्टदेव को हृदय-सिंहासन पर विराजमान कर मानसिक द्रव्य-द्वारा पूजा करनी चाहिये। पूजा के उपरान्त जप करना चाहिये। नाम-जप से सम्पूर्ण पापों का क्षय एवं सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। अन्य चिन्ताएँ त्याग

कर यथासाध्य नाम-जप करना ही मङ्गल है। साधक के लिये नाप-जप, सद्ग्रन्थपाठ, पवित्रता और नियमनिष्ठा भक्ति-पथ में सहायक हैं।

२६. सम्पूर्ण नदियों का जल गङ्गाजी में मिलकर गङ्गारूप हो जाता है। इसी प्रकार भगवान को निवेदन करने से सम्पूर्ण पदार्थ पवित्र हो जाते हैं। भक्ति-मार्ग ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा सरल और सुमधुर है, किन्तु श्रद्धाहीन तर्कवादी के लिये वह दुर्लभ है।

२७. भक्त के लिये 'संसार नित्य है या अनित्य' यह विचार करना आवश्यक नहीं है; उसे तो जो कुछ दिखलायी देता है वह लीलामय पुरुषोत्तम का लीलास्थान है।

२८ भक्त के लिये नामस्मरण तथा ध्येय मूर्त्ति को प्रेम के साथ देखना ही मुख्य साधन है। देखने का अभ्यास जितना अधिक होगा, चित्त की चञ्चलता उतनी कम होगी।

२६. वाणी के मौन से कोई मुनि नहीं होता। मन की चञ्चलता के अभाव से ही मुनि होते हैं।

३०. भजन में चार विघ्न हैं—लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद। लय—ध्यान के आरम्भ में निद्रा-तन्द्रा से ध्येय भूल जाना ही लय है। विक्षेप—ध्यान के समय अगली-पिछली बातें याद करना विक्षेप है। कषाय—ध्यान के समय राग-द्वेप का सूक्ष्म संस्कार चित्तमें रहने से शून्य हो जाना कषाय है। रसास्वाद—स्वल्प आनन्द में ही अपने को कृत-कृत्य मान लेना रसास्वाद है।

३१. भक्त निरन्तर अभ्यास के वल से राग-द्वेषरहित होकर विधि-निषेध रूप भव-सागर को पार कर जाता है।

३२. भक्तिपरायण पुरुषों को स्त्रियों से जितना भय होता है, उतना ही भयदायक भक्तिपरायण स्त्रियों के लिये पुरुष भी है।

३३. लोग पूछते हैं कि भगवान् कैसे मिलेंगे। क्या यह पूछने की बात है? भगवान् से भला कौन मिलना चाहता है? सब तो स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि में ही आसक्त रहते हैं। इन सबकी आसक्ति छोड़कर प्रत्येक श्वास में भगवान् का स्मरण करो। उनके बिना अधीर हो जाओ; फिर देखो भगवान् कैसे नहीं मिलते?

३४. चार बातें बड़े ही पुण्यों से होती हैं—[१] भगवद्-भक्तों में प्रेम, [२] भगवन्नाम में प्रेम, [३] भगवद्विग्रहों में प्रेम [४] भगवान् के प्रसाद में प्रेम।

३५. भगवत्प्राप्तिके चार उपाय है—[१] भगवद्दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा, [२] निरन्तर नामजप, [३] विषयों में अरुचि और [४] सहनशीलता।

३६. जगत् का चिन्तन छूट जाय और श्रीकृष्ण का चिन्तन हो—बस इसी का नाम भक्ति है।

३७. साधु-महात्माओं की सच्ची सेवा उनकी आज्ञानुसार भगवद्भजन करना ही है, उन्हें रोटी तो कोई न कोई दे ही सकता है।

३८. *भक्ति का रूप*—भक्ति नाम भजन का है। भजनीय के नाम अथवा रूप का प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करना ही भक्ति है।

३९. *भक्ति का लक्षण*—प्रह्लादजी ने जो वर माँगा कि मुझे कभी किसी चीज की इच्छा न हो, यही भक्ति का लक्षण है।

४०. *भक्तिप्राप्ति का उपाय*—भगवच्चिन्तन ही भक्तिप्राप्ति का प्रधान उपाय है, इसी से प्रेम उत्पन्न होता है।

४१. शुद्धा भक्तिवाला भक्त तो ज्ञान की इच्छा ही नहीं करता। किन्तु ज्ञानमिश्रा भक्ति में ज्ञान और भक्ति मिले रहते हैं। श्रीरामचरितमानस में ज्ञानमिश्रा भक्ति है, शुद्धा या केवल भक्ति नहीं।

४२. श्री चैतन्य महाप्रभु ने भक्ति का लक्षण इस श्लोक में बताया है—

'अनन्यममता विष्णोर्ममता प्रेमसंज्ञिता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः॥'

अर्थात् भगवान् विष्णु में जो प्रेमसंज्ञक अनन्य ममता है उसी को भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव और नारद आदि ने 'भक्ति' कहा है।

४३. मेरे भक्त की क्या इच्छा होती है, इस विषय में भगवान् कहते हैं—

'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥'

अर्थात् मेरे भक्त सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—इन पाँच प्रकार की मुक्तियों को, दिये जाने पर भी, मेरी सेवा छोड़कर ग्रहण नहीं करते।

४४. सच्चिदानन्दघन परमात्मा का भजन-ध्यान करने में ज्ञान हो ही जायगा। इसके लिये यत्न की आवश्यकता नहीं, विश्वास चाहिये। जिसको विश्वास नहीं होता, उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी।

४५. श्रीगीता के अध्याय ८ के १४ वें श्लोक में भगवत्प्राप्ति का सबसे बड़ा साधन बतलाया है। इसको सब धर्म और सभी

मतों वाले मानेंगे। इसके अतिरिक्त और कोई साधन हो ही नहीं सकता—

'अनन्यचेता सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥*

४६. यह विश्वास रहना चाहिये कि प्रभु हमारी रक्षा करेंगे ही। जीव की ओर से चिन्तन कर्त्तव्य है, फिर तो प्रभु की ओर से कृपा होगी। जितना-जितना चिन्तन बढ़ेगा, उतना-उतना ही आनन्द बढ़ेगा।

४७. निर्गुण-उपासक को प्रभु के दर्शन नहीं होते, क्योंकि वह सगुण उपासना को हेय समझता है।

४८. सगुण-उपासक को निर्गुणोपासना का फल तो अवान्तर रूप से मिल ही जायगा; परन्तु उसे प्रभु-दर्शन और रस की अनुभूति अधिक होती है।

४९. ज्ञान की जिज्ञासा अनेक जन्मों के भजन से होती है। भक्ति सुलभ है; कारण उसमें करुणा-समुद्र का आश्रय है, वही पार करेगा। 'कर्णधार नमोऽस्तु ते।'

५०. भक्त की दशा वैसी ही है, जैसे नदी के पार जाने वाले यात्री की होती है, जो नाव में मल्लाह द्वारा सुखपूर्वक पार कर दिया जाता है।

५१ ज्ञानी की दशा वैसी ही है जैसे कोई नदी को बिना नाव के तैरकर पार करे और मार्ग में छः नाकों द्वारा खाये जाने का भय भी हो। इसीलिये गीता-भागवत आदि में ज्ञान को

*जो पुरुष अनन्यचित्त से नित्यप्रति मेरा स्मरण करता है उस नित्ययुक्त (सर्वदा मेरे में समाहित) योगी के लिये मैं सुलभ हूँ।

कठिन बतलाया है। श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अध्याय २२ में राजा पृथु और सनकादि के संवाद में यह ज्ञान और भक्ति के अन्तर का ही प्रसङ्ग है।

५२. किसी प्रकार से भी प्रेम की पराकाष्ठा पर पहुँच जाय, फिर कल्याण ही है।

५३. उपासना के बिना चित्त की शान्ति नहीं होती, मनोराज्य विचार से नहीं हट सकता, वह तो उपासना से ही शान्त होगा।

५४. चित्त के चित्तत्व को हटाना ही होगा। इसके बिना शान्ति नहीं। उपासना के बिना शान्ति न तो हुई है और न होगी ही। ज्ञानी को भी बिना उपासना के शान्ति नहीं। किसी भी प्रकार से नानात्व को उड़ाओ। यह नानात्व ही दुःख दे रहा है।

५५. सच्चिदानन्द की भावना सर्वत्र होने पर किसी भी वस्तु का ध्यान कर सकते हैं। मन से संसार निकलना चाहिये। सब चिन्मय है। इसलिये उपासना भी चिन्मय की होनी चाहिये। चाहे वह ब्रज के लाला की हो, चाहे किसी और की। प्रभु की लीला चिन्मय, ध्यान चिन्मय और लोक भी चिन्मय है। इसलिये चिन्मय प्रभु का ध्यान करना चाहिये। स्थूल-दृष्टि का सर्वदा त्याग करना चाहिये, मन से भी स्थूलदृष्टि हटा देनी चाहिये। गुरु को भी चिन्मय समझना चाहिये। श्रीमद्भागवत में भी कहा है—

'खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥' (११।२।४१)

अर्थात्—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ और समुद्र आदि जो कुछ अन्य पदार्थ हैं वे सब श्रीहरि के ही शरीर हैं—यह समझकर अनन्य भाव से सबको प्रणाम करना चाहिये।

५६. नाम और रूप नित्य हैं। भक्त जिस रूप से प्रभु को चाहता है, वे उसी रूप से उसे दर्शन देते हैं। किन्तु एक बात रहस्य की है। अनेक भक्तों ने जिस रूप से प्रभु की उपासना की है वही रूप उपासना करने योग्य है; क्योंकि इसमें उन भक्तों की शक्ति की सहायता मिलती है। जैसे श्रीकृष्णरूप से उपासना करने वाले को पूर्व के सब भक्तों की शक्ति की सहायता मिलेगी। इसलिये नवीन कल्पना करना ठीक नहीं है। रूप-समुद्र में से जैसे चाहो उसी प्रकार दर्शन होंगे।

५७ निष्ठा और मन्त्र ये दोनों पक्के होने चाहिये, चाहे कोई भी निष्ठा हो। जो बात दिमाग में समा जाय, हर समय बुद्धि में भरी रहे, उसे निष्ठा कहते हैं।

५८. जिस मुहूर्त्त या आधे क्षण में भी भगवान् श्रीकृष्ण का चिन्तन नहीं किया गया, वही सबसे बड़ी हानि, भूल, अन्धता, जड़ता और मूर्खता है।

५९. श्रीकृष्ण का जन तभी हुआ जानो जब संसार गौण और परमार्थ मुख्य हो जाय।

६०. परमार्थी वही है जिसको भगवान् मुख्य और संसार गौण हो जाय।

६१. श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि विषय की उपस्थिति में भी इन्द्रियों की प्रवृत्ति न होना वैराग्य का लक्षण है। और विषयों में अरुचि तब होगी जब प्रभु में पूर्ण रुचि होगी।

६२. प्रभु का एक नाम वाञ्छाकल्पतरु भी है। फिर उपासक को भय क्यों होना चाहिये? सच्ची वाञ्छा होगी तो प्रभु पूरी करेंगे ही।

६३. स्नेह में स्मरण बना रहना चाहिये। भगवान् का पूरा-पूरा आश्रय रहे।

६४. दुःख प्रभु की ओर लगन लगाने में सहायक है।

६५ दुःख प्रभुप्राप्ति का साधन है। प्रभु की याद जैसी दुःख में आती है वैसी सुख में नहीं आ सकती। सुख में जीव भूल जाता है। माया न होती तो ज्ञान होता ही नहीं। माया की कृपा से प्रभु की प्राप्ति होती है। सब कुछ जीव के कल्याण के लिये ही है।

६६. भगवत्प्रेम स्वाभाविक ही सब में है; परन्तु वह रजोगुण-तमोगुण से ढका हुआ है।

६७. प्रियतम प्रभु चाहे नरक मे भेजें या कहीं और जगह भेजें, प्यारे की वस्तु तो प्यारी लगनी ही चाहिये। प्रभु प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं।

६८. मनुष्य-शरीर बहुत ही गन्दा है। पर इसमें एक बहुत बड़ा गुण है। वह यह कि इसके द्वारा उपासना करके हम दिव्य देह प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य-शरीर को छोड़कर और किसी शरीर में यह गुण नहीं है।

६९. उपासना में हमारा पूरा आग्रह नहीं है, इसी से उसमें विघ्न आते हैं। जब उसमें हमारी पूरी आसक्ति होगी तब हमें कोई भी विघ्न विचलित नहीं कर सकेगा।

७०. उपासना में सबसे बड़ा विघ्न अपने किये का अभिमान है। अभिमानवश हम दूसरों का अपमान कर बैठते हैं, अपने से दूसरों को छोटा समझते हैं। यही सबसे बड़ा पाप है। इससे सारा किया-कराया नष्ट हो जाता है।

७१. अपनी निष्ठा में तो पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिये; परन्तु दूसरों की निष्ठा की कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये।

७२. प्रकृति या जगत् की सत्यता-असत्यता का निर्णय करने के लिये तो तर्क अपेक्षित है, किन्तु भगवद्भक्ति के लिये इसकी कोई अपेक्षा नहीं है। भक्ति-तत्त्व के लिये पूर्ण श्रद्धा और पूर्ण विश्वास ही आवश्यक है। भक्तितत्त्व ही परमतत्त्व है। इस परमतत्त्व की प्राप्ति के लिये अपने को पूर्णरूपेण समर्पण करना होगा। रागद्वेष-हीन जीवन में ही भक्तितत्त्व के भाव जागृत होते हैं। जो व्यक्ति निन्दा, स्तुति, चुगली, परस्त्रीगमन और परद्रव्य-सेवन से युक्त है वह भक्तितत्त्व से बहुत दूर है।

७३. भगवान् परिपूर्ण हैं, हमें उनसे प्रेम करना चाहिये। ज्ञान में सुख नहीं, सुख तो प्रेम में ही है। जैसे किसी बहुत बड़े धनी को केवल जान लेने से कोई सुख नहीं मिलता, सुख तो उसमें प्रेम हो जाने पर ही मिलता है। भगवान् को जान लेने का नाम ज्ञान है और उनसे प्रेम हो जाना ही भक्ति है। इसी को अभ्यास, योग अथवा चिन्तन भी कहते हैं।

७४. भक्ति भगवत्कृपा से ही प्राप्त होती है, उसमें अपना पुरुषार्थ काम नहीं देता—यह ठीक है; परन्तु भगवत्कृपा तभी हो सकती है जब हम भगवान् की ओर लगें। बिना भगवान् की ओर लगे उनकी कृपा नहीं हो सकती।

७५. जब तक भोग और मोक्ष की इच्छा रहती है तबतक वास्तविक भक्ति नहीं होती। भक्त कभी मोक्ष की कामना नहीं करता।

७६. राग, द्वेष और भय—ये तीनों मुक्ति के भी कारण हैं और बन्धन के भी। यदि भगवान् में हों तो मुक्ति के कारण होते हैं और संसार में हों तो बन्धन के।

७७. प्रणव या राम-कृष्णादि नामों मे से किसी का भी जप किया जाय, परन्तु उसी में तन्मय हो जाना चाहिये।

७८. स्तुति और निन्दा दोनों ही उपासना हैं; किन्तु स्तुति मे उपासना की दृष्टि उपास्य के गुणों पर रहती है, इसलिये वह गुणों को ग्रहण करता है और निन्दा में अवगुणों पर, इसलिये वह अवगुण ही ग्रहण करेगा।

७९. इन चारों को एक-सा समझो—माला, मन्त्र, गुरु और इष्टदेव। यदि इनमें एक भी छूट जाय तो उपासक व्यभिचारी हो जाता है। माला को प्राणों से भी प्यारी समझो, माला भगवत्स्वरूप है।

८०. जिस पुस्तक से हम नित्य पाठ करते हैं तथा जिस माला से हम नित्य जप करते हैं उसमें एक प्रकार की शक्ति पैदा हो जाती है। पहले लोग माला और पुस्तक को बड़ी अच्छी तरह रखते थे। आज-कल तो जल्दी-जल्दी बदलते रहते हैं, फिर प्रेम-प्राप्ति कहाँ से हो? हमारे घर में शक्तिपल्लव नाम की एक पुस्तक बहुत प्राचीन थी। मैंने एक बंगाली से उसकी माला माँगी तो वह बोला, 'महाराज यह तो हमें प्राणों से भी अधिक प्यारी है। हम इसे किसी को नहीं देते। एक माला को हमारे दादा-परदादा भी जपते थे। वह जब बहुत पुरानी हो गयी थी, तब बिलकुल घिस जाने पर हमने उसे गङ्गाजी में बहाया था।' स्वामी बगाक्षी बाबा भी जिस समय अपना पाञ्चभौतिक शरीर त्यागने लगे तो उन्होंने श्रीशास्त्रानन्दजी से कहा था कि मेरी छाती से मेरी गीता बाँधकर मुझे गङ्गाजी में बहाना। ऐसा ही किया गया।

८१. जो विषयों का प्रेमी होगा वह श्रीकृष्ण का प्रेमी नहीं हो सकता और जो श्रीकृष्ण का प्रेमी होगा वह विषयों का प्रेमी

नहीं हो सकता। विश्वास करो, विश्वास से ही सब कुछ होता है, बिना विश्वास तो कुछ भी नहीं हो सकता।

ये चार बातें बड़े ही पुण्य से प्राप्त होती हैं—

(१) भगवद्भक्तों में प्रेम होना, (२) भगवन्नाम में प्रेम होना, (३) भगवद्विग्रह में प्रेम होना और (४) भगवत्प्रसाद में प्रेम होना।

८२. भक्त को ज्ञान या कर्म के झंझट में पड़ने की क्या आवश्यकता है? वह तो भक्ति की पक्की सड़क पर दौड़ता चला जाय। कच्ची सड़क पर क्यों भटके? बस, भगवान् का नाम लेते हुए इस पक्की सड़क पर दौड़ते चले जाओ।

८३. मर जाय, किन्तु प्यारे को छोड़ना न चाहे—इसी का नाम भक्ति है। जिस प्रकार बछड़ा प्राण निकलने पर भी गाय का पीछा नहीं छोड़ता उसी प्रकार भक्त भी भगवान् को नहीं छोड़ सकता।

८४. उपासना से जो चाहो वही हो सकता है। ऐसी कोई बात नहीं जो उपासना से न हो सके।

८५. भगवान् का भजन तो बहुत लोग करते हैं, परन्तु सबको उनका दर्शन नहीं होता। इसका कारण यही है कि वे भगवान् में गोता नहीं लगाते। देखो, ध्रुव जी ने गोता लगाया तो छः महीने में ही उन्हें भगवान् के दर्शन हो गये।

८६. जहाँ मिट्टी खोदोगे वहीं पानी निकलेगा। यह बात दूसरी है कि कहीं देर से निकले और कहीं जल्दी निकल आवे; किन्तु निकलेगा अवश्य। इसी प्रकार जहाँ भी अनुराग होगा वहीं भगवान् प्रकट हो जायँगे। यदि तुम बबूल के पेड़ में भी ध्यान करोगे तो वहाँ भी प्रकट हो जायँगे।

८७. जिसका रामनाम में अनुराग है, जिसका रामरूप में अनुराग है तथा जिसका रामकथा में अनुराग है उसे विचार करने की क्या आवश्यकता है ? विचार करने की आवश्यकता तो संशयात्मा को होती है—

तेरे भावे जो करो, भलो बुरो ससार।
नारायण तू बैठि के, अपनो भवन बुहार॥

८८. जीव पागलों की तरह घूम रहा है। उसका असली अनुराग किसी में नहीं है। वह बावले कुत्ते की तरह इधर-उधर भटक रहा है। जो चीज नाना होती है उसमें किसी का वास्तविक अनुराग होता ही नहीं। विषय अनेक हैं, अतः उनमें सच्चा अनुराग नहीं हो सकता। भगवान् एक हैं, इसलिये उन्हीं में वास्तविक अनुराग हो सकता है। अनुराग निरन्तर चिन्तन से होता है। वाणी से उन्हीं का गुणानुवाद करें, हृदय से उन्हीं का चिन्तन करें और नेत्रों से किसी को भी उनके बिना न देखे।

'सियाराम मय सब जग जानी।
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी॥'

जगत् नहीं, बस सियाराम ही सियाराम देखना है। सिया-राम के सिवा मन में जो कुछ आवे उसी को हटाता रहे।

८९. भक्त और भगवान् दोनों ही चिन्मय हैं। जो इन्हे भिन्न-भिन्न मानते हैं वे गलती करते हैं। ये देखने में दो हैं, किन्तु वस्तुतः एक हैं।

९०. जहाँ मुक्ति है वहाँ भक्ति नहीं। भक्त मुक्ति कभी नहीं चाहता। उसका और भगवान् का तो ऐसा प्रेम हो जाता है कि वह जैसा चाहता है वैसा ही भगवान् को बनना पड़ता है। देखो प्रह्लाद के लिये भगवान् को नृसिंह बनना पड़ा और सेनभक्त के

लिये नाई। इसी प्रकार भक्तों के प्रेमवश भगवान् को अनेकों रूप धारण करने पड़े हैं।

६१. भक्ति-मार्ग श्रुति से भी परे है। श्रुति में भी भक्ति का इतना प्रतिपादन किया गया है कि कुछ ठीक नहीं।

६२. शरणागति के नौ लक्षण हैं—(१) दीनता, (२) निष्कपटता, (३) सत्यता, (४) सर्वसमर्पणता, (५) सर्वाधारता[1] (६) पूर्ण विश्वास, (७) सर्वाराध्यता[2], (८) अनन्यता और (९) निज स्वरूपविस्मरण[3]।

६३. परमहंस श्रीरामकृष्ण कहा करते थे—'डूबो-डूबो रे मन, रूप-सागरे।' बस, आनन्दघन में गोता लगाना यही भक्त का कर्त्तव्य है। परन्तु यह पुरुषार्थ का काम नहीं है, यह तो भगवत्कृपा से ही हो सकता है। श्री गोसाईं तुलसीदासजी कहते हैं—

'यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोई कोई॥'

६४. इष्टदेव का निरन्तर चिन्तन भक्त का मुख्य कर्त्तव्य है। खाँड़ के खिलौने के प्रत्येक अङ्ग में जैसे खाँड़ मौजूद है उसी प्रकार इष्टमूर्ति के प्रत्येक अङ्ग में चिदानन्द परिपूर्ण रूप से ओत-प्रोत है।

६५. भक्ति का आधार श्रद्धा ही है। वह दो प्रकार की होती है—(१) जड़ श्रद्धा और (२) विचारयुक्त श्रद्धा। इनमें जड़ श्रद्धा सूरदासजी जैसे साम्प्रदायिक भक्तों में पाई जाती है और गोस्वामी तुलसीदासजी में विचारयुक्त श्रद्धा थी। भक्त उपासना के प्रकार में तो तर्क कर सकता है, किन्तु उपास्य के विषय में उसे कोई तर्क नहीं करना चाहिये। यदि उपास्य के विषय में

---

(१) सबका सहायक होना। (२) सबका प्रिय होना। (३) भगवान् से पृथक् अपनी सत्ता भूल जाना।

तर्क करेगा तो उसकी भक्ति नष्ट हो जायगी। अतः उपासना में जो विघ्न हों उन्हीं के विषय मे तर्क करे, गुरुदेव के बताये हुए मन्त्र या साधन में कभी तर्क न करे। गोस्वामी तुलसीदास जी विचारयुक्त श्रद्धावाले थे; अतः यद्यपि वे उपासना सबकी करते थे, तथापि उनसे वर यही माँगते थे कि श्रीरघुनाथजी मे मेरा प्रेम हो। किन्तु सूरदासजी के तो केवल बालकृष्ण ही सर्वस्व थे। उनके सिवा और किसी को वे नहीं जानते थे। ऐसे जड़ श्रद्धावाले सरल भक्तों को यद्यपि शीघ्र ही भगवान् की प्राप्ति हो सकती है, तथापि उन्हे विचारवानों का साथ नहीं करना चाहिए। इससे उनकी श्रद्धा मे शिथिलता आ जाना सम्भव है। इसके विपरीत विचारवानों पर जड़-श्रद्धालुओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। वे भले ही उनका सङ्ग करें, उनकी श्रद्धा में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। इस प्रकार यद्यपि जड़ श्रद्धावानों का कल्याण शीघ्र होता है, तथापि विरोधी सङ्ग से उनका पतन भी जल्दी हो जाता है; जब कि विचारयुक्त श्रद्धा साधक को बराबर उसके लक्ष्य की ओर ही ले जाती है, भले ही उसकी गति बहुत मन्द हो।

६६. भक्त को भगवान के स्वरूप का ज्ञान, भगवान् के दर्शन और उनमे प्रेम तीनों बातें प्राप्त हो जाती हैं। जो भगवत्-परायण हो जाता है उसकी संसार में आसक्ति नहीं रहती। हठपूर्वक भगवान् का चिन्तन किया जाय तो उनमें प्रेम हो ही जायगा। भक्त तो कूकर, गधा और चाण्डाल को भी प्रणाम करता है, क्योंकि वह उन्हे भगवत्स्वरूप से अतिरिक्त और कुछ नहीं समझता।

६७. जब स्मरण के लिये किसी प्रकार की चेष्टा न करने पर भी भगवान् को न भूले तब समझना चाहिये कि कुछ भक्ति भाव हुआ। देखो, अपने शरीर को भी तो हम याद करने की कोई

चेष्टा न करने पर भी कभी नहीं भूलते। इसी प्रकार भगवान् को भी कभी न भूलें।

९८. देखो, जल जड़ है, तथापि रगड़ लगने पर उससे बिजली पैदा हो जाती है। इसी प्रकार भक्त का भावसंघर्ष लगने पर शालग्राम शिला से भगवान् क्यों नहीं प्रकट होंगे? अतः भक्त की दृष्टि में तो शालग्राम साक्षात् चैतन्यस्वरूप भगवान् ही हैं।

९९. जिसकी शुद्धा भक्ति होती है वे भगवान् को सर्वव्यापक रूप में नहीं देखना चाहते। वे तो उन्हें अपने इष्टदेव रूप में देखना और पाना चाहते हैं। इसी से तो श्रीकृष्ण-विग्रह को देखकर गोस्वामी तुलसीदासजी बोल उठे—

'कहा कहौ छवि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, जब धनुष बान लेउ हाथ॥'

१००. जिसकी शुद्धा भक्ति होती है वह निरन्तर अपने प्रियतम का नाम जपता है, उसकी लीला और गुणों का गान करता है, उनकी रूपमाधुरी का चिन्तन करता है तथा उनके धाम में ही निवास करता है। ऐसा करने से उसका भाव बढ़ता जाता है, और भाव ही प्रेम है।

१०१. यदि भक्त के सामने कोई उसके इष्ट की निन्दा करे तो उसे सहन करना चाहिये। नीति तो सहन करने के लिये नहीं कहती; किन्तु भक्त को तो क्रोध करना या बदला लेने की भावना का पोषण करना उचित नहीं। अतः उसे तो सब कुछ सहन करते हुए भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिये कि वे निन्दक की बुद्धि शुद्ध करें।

१०२. भक्ति तो भाव से होती है और भाव होता है भगवत्कृपा से। इसका कोई और उपाय नहीं है। श्री गोसाईंजी कहते हैं—

'यह गुण साधनतें नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोई कोई॥'

१०३. भगवत्कृपा तो अलौकिक और स्वतन्त्र है, उसमें जाति-पाँति का कोई नियम नहीं है। इसी कारण रैदास चमार होते हुए भी भगवान् का परम भक्त हुआ। भावदृष्टि से वह नीचा नहीं है। जिस पर भगवत्कृपा हो वह भला नीचा कैसे रहेगा? हाँ, कर्मकाण्ड की दृष्टि से वह अवश्य नीचा है; किन्तु कर्मकाण्ड में आना भक्ति से तो गिरना ही है।

१०४. भगवान् की स्मृति तो भगवान् से भी बढ़कर है। क्योंकि भगवान् तो किसी का दुःख दूर नहीं करते। यदि वे दुःख दूर करते तो संसार में कोई दुःखी नहीं होना चाहिये था। दुःख तो उसी का दूर होता है, जो दुःखी होकर उनका स्मरण करता है। अतः भगवत्स्मृति ही दुःख दूर करने वाली है।

१०५. 'मेरा' 'तेरा' यह दो बातें हैं—एक तो भगवान् समझ लें कि यह जीव मेरा है और दूसरी यह कि जीव मान ले 'प्रभु! मैं तेरा हूँ'। उसकी भगवान् में ऐसी आसक्ति होजाय कि उनके बिना रहा न जाय। यह आसक्ति चिन्तन से ही होती है। जब सांसारिक विषय से दुःख हो तभी समझना चाहिये कि आसक्ति हुई।

१०६. आनन्द तो भगवान् की याद में है। जब हृदय में राग, भय और क्रोधादि दोष न रहें तभी नित्यानन्द की अनुभूति होती है। जो चित्त रागद्वेषादि से दूषित है उसमें भगवदीय आनन्द का आविर्भाव नहीं हो सकता।

१०७. भक्ति में जो सबसे मुख्य बात है वह यह है कि भक्त का अपराध न हो। इसका पूरा ध्यान रखना चाहिये। यह बहुत गूढ़ बात है।

१०८. भक्ति दो प्रकार की है—साधन भक्ति और सिद्धा क्ति। साधन भक्ति में भक्त और भगवान् का भेद रहता है। सका फल ही सिद्धा भक्ति या प्रेम है। इसमें भक्ति और भगवान् ा अभेद हो जाता है। इस प्रेम और ज्ञान में कोई भेद नहीं है। खो, समुद्र के दो रूप हैं—सतरङ्ग और निस्तरङ्ग। जब तक ामुद्र है तब तक तरङ्ग भी रहेगी ही। तरङ्गदृष्टि ही भेद दृष्टि है ौर समुद्रदृष्टि ही अभेद है। समुद्रदृष्टि से जैसे किसी प्रकार का ेद नहीं है उसी प्रकार प्रेमाभक्ति में भी भगवान् से भिन्न कुछ ाहीं हैं। वहाँ लीला, वस्त्र, आभूषण और धाम आदि सभी चेन्मय हैं। इस चित्समुद्र को ज्ञानी शान्त रूप से अनुभव करते हैं और भक्त तरङ्गित रूप से। यही इनका भेद है।

१०९. भगवान् भक्त के ही हृदय में रहते हैं और भक्त के ी सामने प्रकट होते हैं। भक्त भगवान् को सर्वत्र देखता है, अतः े सर्वत्र उसके आगे प्रकट हो सकते हैं। इसी से तो प्रह्लाद ने खम्भ से भगवान को प्रकट कर लिया था।

११०. भक्ति में छः बातें होती हैं—

(१) क्षमा अर्थात किसी कारण से क्रोध न आना।

(२) समय व्यर्थ न खोना।

(३) पदार्थ पास रहने पर भी आवश्यकता से अधिक काम में न लाना।

(४) निरभिमान होना।

(५) निरन्तर इष्टदेव का चिन्तन करना।

(६) सद्गुरु की शरण में रहना।

१११. भक्तिनिष्ठा का अर्थ है सबसे छोटा बनकर, यहाँ तक कि झाड़ू के तिनके से भी अपने को तुच्छ समझकर तथा सबको अपने से बड़ा मानकर, उनकी सेवा करे।

११२. भय और प्रलोभन का त्याग, यही भक्ति का फल है। भक्ति का फल ज्ञान अथवा कोई दूसरी चीज नहीं है, भक्ति ही भक्ति का वास्तविक फल है। इस फलस्वरूपा भक्ति को ही प्रेम कहते हैं।

११३. तर्क तो भक्त को भी हो सकता है, किन्तु उसे इष्टदेव में संशय नहीं होना चाहिये। जिस भक्त को इष्टदेव के विषय में संशय हो जाता है उसकी भक्ति स्वाहा हो जाती है। भक्त को तो केवल साधन के विषय में ही तर्क करना चाहिये। और जब ऐसा संशय हो तो अपने गुरुदेव से पूछकर उसका निश्चय कर लेना चाहिये।

११४. निष्ठा तो एक ही रखनी चाहिये। सङ्ग भी अपनी निष्ठा वालों का ही करे। अपनी निष्ठा का ही चिन्तन करे। उसी का ध्यान करे, उसी की बातें करे और उसी का गान करे। अर्थात् सब प्रकार अपनी निष्ठा का ही सेवन करे। दूसरी निष्ठा का आना ही अपनी निष्ठा का विघ्न है। बस, एक बार गुरु से जो निश्चय कर लिया जाय उसमें अपनी बुद्धि न लगावे। कारण कि भक्ति तो अन्धी होती है।

११५. उपासना में जिसका भाव किया है उसमें जब तक तल्लीन नहीं होगा तब तक उपासना सिद्ध नहीं हो सकती। फिर तो सर्वत्र वही दीखने लगेगा।

११६. भगवान् की चीज भगवान् को दे देना ही मुक्ति है। भगवान् की चीजों का चिन्तन न करना ही उन्हें भगवान् को दे देना है। इसके विपरीत भगवच्चिन्तन को छोड़कर चीजों का चिन्तन करना ही उन्हें ले लेना है।

११७. भगवान् का साक्षात्कार दो प्रकार का होता है—साधनसाध्य और कृपासाध्य। जब ध्याता, ध्यान और ध्येय एक

हो जायें और यह स्थिति तीन घण्टे तक बनी रहे तभी भगवान् का साक्षात्कार हो जाता है। यह साधनसाध्य है। किन्तु-कृपासाध्य साक्षात्कार में काल का कोई नियम नहीं है। वह तो एक घण्टे में भी हो सकता है। हाँ, हृदय में दीनता और करुणा अवश्य होनी चाहिये। जब भक्त करुणभाव से विह्वल हो उठता है तो उसके पास भगवान् से आये बिना नहीं रहा जाता।

११८. भगवत्प्राप्ति का मार्ग तो अनुगमन है। किसी आदर्श पुरुष के अनुगामी बनो तभी भगवत्प्राप्ति हो सकेगी।

११६. भक्ति से अच्छा कोई मार्ग नहीं है। जिनका हृदय कोमल है वे ही भक्ति के अधिकारी हैं। कठोर हृदय वाले या तर्कप्रधान पुरुषों के लिये ज्ञान मार्ग ही उपयोगी हो सकता है। भगवान् वांछाकल्पतरु हैं। भक्त जैसी इच्छा करता है भगवान् को वैसा ही होना पड़ता है। वे प्रेमी भक्त के तो पीछे-पीछे फिरते हैं। यह निष्काम भक्ति की ही महिमा है।

१२०. भगवान् माया के पति हैं और हम सब माया के दास हैं। जब हम माया-पति की शरण ले लेते है तो उनके आगे माया की कुछ भी नहीं चलती। अतः भगवान् की शरण लिये बिना माया से छुटकारा नहीं मिलता। इसीलिये भगवान् की शरण लेना प्रत्येक व्यक्ति के लिये परम आवश्यक है। भक्त के लिये तो यों भी माया कोई वस्तु नहीं है। जो कुछ है सब भगवान् का ही स्वरूप है।

१२१. भय और प्रलोभन इन दो दोषों का त्याग हो जाना भक्ति का प्रधान फल है। भय में भी मुख्यतया जो अपनी मृत्यु के भय से छूट जाता है वह सम्पूर्ण संसार से निर्भय हो जाता है। प्रलोभनों में मुख्य कर्मफल का लोभ है। इस लोभ

से छूट जाने पर ही भक्त का भगवान् में सच्चा अनुराग हो सकता है। और ऐसा होने पर ही स्वार्थ से छुटकारा मिलता है।

१२२. भगवान् में भक्ति होने से ये सब गुण स्वभाव से ही आ जाते हैं—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय (चोरी न करना), (४) ब्रह्मचर्य, (५) अपैशुन (चुगली न करना), (६) लज्जा, (७) अमानिता, (८) शौच, (९) सन्तोष, (१०) तितिक्षा, (११) निष्कपटता, (१२) सत्सङ्गप्रेम, (१३) सेवा, (१४) यज्ञ, दान, तप, (१५) स्वाध्याय, (१६) शम-दम, (१७) विनय, (१८) आर्जव (सरलता), (१९) दया, (२०) श्रद्धा, (२१) विवेक, (२२) वैराग्य, (२३) एकान्त सेवन, (२४) अपरिग्रह, (२५) समाधान (शङ्कारहित हो जाना), (२६) उपरति, (२७) तेज, (२८) क्षमा, (२९) धैर्य, (३०) अद्रोह, (३१) अभय, (३२) निरहङ्कारता और (३३) शान्ति।

१२३. संसार की किसी एक वस्तु में भी भगवद्भाव से प्रेम करे तो भगवान् की ही प्राप्ति होती है, क्योंकि वास्तव में भगवान् से भिन्न और कुछ नहीं है। इस प्रकार जब भगवद्-भाव से एक में प्रेम हो जाता है तो चित्त और सब ओर से हट जाता है। इसी को वैराग्य भी कहते हैं।

भक्त के विषय में

प्र०—श्री भगवान् सबके सामने प्रकट होकर सबको कैसे दर्शन दे सकते हैं ?

उ०—भगवान् चाहे तो सबके सामने प्रकट होकर दर्शन दे सकते हैं। और यदि भक्त चाहे कि जिस समय मैं ध्यान करूँ उसी समय प्रकट होकर भगवान् सबको दर्शन दें तो भगवान् उसकी प्रार्थना से सबके सामने प्रकट होकर भी दर्शन दे सकते हैं।

प्र०—यदि भक्तों से भगवद्दर्शन कराने की प्रार्थना की जाती है तो वे कह देते हैं कि ऐसी प्रार्थना करने का हमारा अधिकार नहीं है। ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिये ?

उ०—भक्तों को प्रार्थना करने का अधिकार क्यों नहीं है ? नारदादि ने अनेकों वार भगवान् से प्रार्थना की है। भगवान् ने अपने भक्तों के लिये छान छायी है। उनके प्रेम के वश होकर उनके सामने नृत्य किया है। इसलिये भक्त की इच्छा के अनुसार भगवान् सब कुछ करने के लिये तैयार है। हाँ, भक्त वैसा अनन्य प्रेमी अवश्य होना चाहिये।

प्र०—बाबा ! कृपा करके बताइये कि प्यारे श्रीकृष्ण का दर्शन किस प्रकार हो सकता है ?

उ०—संसार दुःखमय प्रतीत होने से जब प्राणी भगवद्-भक्तों की शरण में जाता है तो उन भगवद्भक्तों में प्रेम होने से स्वाभाविक ही उसका भगवान् से प्रेम हो जाता है। भगवान् की कृपा से उसे भगवान् का दर्शन होता है। सामान्यतया भगवान् और भक्तों की ही कृपा मुख्य साधन है।

❀ ❀ ❀

प्र०—भक्तों के दर्शन से क्या लाभ है ?

उ०—भगवद्भक्तों के दर्शन से पाप के परमाणु दूर होते हैं—यह बड़े-बड़े वैज्ञानिकों का सिद्धान्त है। प्रत्यक्ष में भगवद्भक्तों के दर्शन से भगवान् के गुण सुनने में आते हैं। गुण श्रवण करने से भगवान् में श्रद्धा-प्रीति बढ़ती है। सब महापुरुषों का भी यही सिद्धान्त है कि ईश्वर सृष्टि रचकर जीवों को सुख-दुःख भुगाता है और जीव भोगते हैं, क्योंकि ईश्वर जगत् का कर्त्ता है। भगवद्भक्त संसार का प्रेम छुड़ाकर भगवान् में प्रेम कराते हैं, इसलिये भक्त भगवान् के प्यारे हैं।

❀ ❀ ❀

१. भगवान् का भक्त कितना बड़ा होता है। वह भगवान् पर भी अधिकार प्राप्त कर लेता है। गोपियाँ पहले तो भगवान् से प्रार्थना करती थीं कि वे हमारा माखन चुराने के लिये आवें, किन्तु जब भगवान् आते और चुराकर माखन खाने लगते तो उनके गलमुच्चे लगाती थीं।

२. अनुरागी भक्त के आगे तो भगवान् दीन हो जाते हैं। भगवान् में जिनकी दृढ़ आसक्ति है वे ही अनुरागी भक्त होते हैं। ऐसे भाग्यवान् भक्त विरले ही हुआ करते हैं।

३. भक्त के लिये तो भगवान् एकदेशीय हो जाते हैं वे भक्त के सामने नाचने लगते हैं। भक्त तो भगवान् को अपने पास ही समझता है, वह उन्हें कहीं दूर नहीं समझता। वास्तव में भगवान् तो भक्त को ही मिलते हैं, ज्ञानी को तो ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

४. भक्त की शत्रुता किसी भी प्राणी से नहीं होती; क्योंकि उसमें अहंता-ममता का सर्वथा अभाव हो जाता है। इसी से किसी के प्रति उसका राग या द्वेष भी नहीं होता। उसकी तो

सम्पूर्ण संसार के प्रति उपेक्षा-दृष्टि रहती है। अतः उसे राग-द्वेष हो ही कैसे सकते हैं।

५. भक्त के सामने विषय तभी आते हैं जब भगवदाकार वृत्ति उससे छूट जाती है। उसे भगवान् को अपने सामने बुलाने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि भगवदाकार वृत्ति का रहना ही भगवान् को अपने सामने बुलाना है। निरन्तर भगवदाकार वृत्ति रहने से उसके लिये शुभाशुभ भी कुछ नहीं रहता, क्योंकि शुभाशुभ का भेद तो संसार में ही है, भगवान् में नहीं।

६. भक्त के पास जब तक बुद्धि बनी रहती है, तब तक उसे भक्त नहीं कह सकते। भक्त तो वही हो सकता है जो अपने मन, बुद्धि, चित्त आदि सभी को भगवान के अर्पण कर देता है। किन्तु जो भक्त ऐसा कहते हैं कि हम तो भगवान् के अर्पण हो चुके हैं, अब हमारे लिये कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है, वे गिर जाते हैं, क्योंकि वे या तो दम्भ से ऐसा कहते हैं या अभी उनमें अर्पण करने का अभिमान बना हुआ है।

७. भक्त के विषय में ये छः अपराध महान् हैं। इनसे सर्वदा बचना चाहिये—

(१) *वासनिरूपण*—किसी महात्मा के विषय में ऐसा कहना कि ये गाँव-गाँव क्यों घूमते-फिरते हैं, गंगा किनारे अथवा किसी स्थान-विशेष में क्यों नहीं रहते ?

(२) *ज्ञाननिरूपण*—किसी सन्त के विषय में ऐसा कहना कि ये पढ़े-लिखे नहीं हैं। ये भला, क्या भजन करेंगे और क्या विचार कर सकेंगे ?

(३) *जातिनिरूपण*—किसी साधु के विषय में कहना कि यह छोटी जाति का है, शूद्र है, यह क्या भजन कर सकता है ?

(४) *वृत्तिनिरूपण*—किसी महात्मा के विषय में कहना कि ये तो पड़े रहते हैं, इनसे भजन-ध्यान तो कुछ भी नहीं बनता, इस प्रकार किसी की निन्दा करना।

(५) *स्वरूपनिरूपण*—किसी के विषय में कहना कि ये महात्मा तो कुरूप हैं, इनमें तेज नहीं है, मालूम होता है ये कोई सच्चे साधु नहीं हैं।

(६) *धातुनिरूपण*—भगवद्विग्रह या भक्तविग्रह में धातु की कल्पना करना। उसे पाषाण, लोहा, ताँबा अथवा काष्ठ मात्र समझना।

८. व्रज में मुझे एक महात्मा मिले थे। उन्होंने मुझे भक्तों के कुछ लक्षण बतलाये थे, जिन्हें मैंने उड़िया लिपि में अपनी डायरी में लिख लिया था। वे लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) सबसे दीन भाव से बर्ताव करना।
(२) निष्कपटता का व्यवहार होना।
(३) सत्य भाषण करना।
(४) सब चराचर जगत् का आधार भगवान् को समझना।
(५) भगवान् को तन, मन, धन सब अर्पण करना।
(६) भगवान् को पूर्ण श्रद्धेय समझना।
(७) हमेशा भगवान् के अधीन रहना।
(८) भगवान को आराध्यदेव समझना।
(९) अनन्य भाव से श्री भगवान् का चिन्तन करना।
(१०) अपने स्वरूप को कभी न भूलना।

९. किसी भी तीर्थ में रहा जाय, किन्तु यदि श्रीभगवान् का गुणानुवाद और भगवच्चिन्तन न हो तो कल्याण होना असंभव है।

१०. अहितकारी के प्रति क्षमा तथा सम्पद्-विपद्, मान-अपमान और सुख-दुःख में समचित्त रहना हीभक्त का लक्षण है।

११. जो भगवान् का भक्त होगा वह बीड़ी, हुक्का, सिगरेट, सुल्फा, तम्बाकू, भाँग आदि नशीली वस्तुएँ नहीं खाये-पियेगा। क्योंकि भक्त जो कुछ भी खाये-पीयेगा अपने भगवान् को अवश्य अर्पण करेगा। फिर भला भक्त ऐसी तमोगुणी और शास्त्रविरुद्ध वस्तुएँ भगवान् को क्यों भोग लगावेगा ?

१२. भक्त वही है जो भगवन्नामजप को ही अपना धन मानता है; तथा संसारी लोग जिस प्रकार धन कमाने में लगे रहते हैं उसी प्रकार जो भगवन्नाम के संग्रह करने में ही लगा रहता है।

१३. भक्त वही है जो आप भी श्रीकृष्ण-कीर्तन करता है और दूसरों को भी इसका उपदेश करता है।

१४. भक्त वही है जो सांसारिक पुस्तकों को या सांसारिक समाचार-पत्रों को न पढ़कर श्रीकृष्णप्रेम से भरी हुई पुस्तक या भक्तों के चरित्र पढ़ना पसन्द करता है।

१५. भक्त वही है जो सन्त-महात्माओं और भक्तों के वचनों में विश्वास रखता है।

१६. भक्त वही है जिसकी जिह्वा पर हर समय श्रीकृष्ण, श्रीराम या श्रीशिव का पवित्र नाम फिरता रहता है।

१७. भक्त वही है जो किसी के चित्त को नहीं दुखाता, बल्कि जहाँ तक बने सबकी सेवा करता है।

१८. भक्त वही है जिसने अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया है।

१९. भक्त वही है जो भगवान् श्रीकृष्ण से सांसारिक चीजें न माँग कर बस यही माँगता है कि मैं आपके प्रेम में मस्त रहूँ।

२०. भक्त वही है जो, श्रीकृष्ण मेरे हैं और मैं श्रीकृष्णका हूँ, ऐसा समझकर विपत्तिकाल में किसी भी आदमी की सहायता नहीं माँगता।

२१. भगवान् का सच्चा भक्त वही है जो सब जगह भगवान् को देखता है। भगवान् से अधिक या भगवान् के बाहर कोई भी वस्तु नहीं है। जड़-चेतन मनुष्य-पशु-पक्षी सब कुछ भगवान् ही हैं। फिर तुम किसी को कैसे बुरा कह सकते हो? क्या तुम भक्त होकर भगवान् को गाली दोगे? यदि तुम किसी को भी बुरा कहते हो तो अपने भगवान को ही बुरा कहते हो। इससे बढ़कर राग-द्वेष को मिटाने की कोई और औषधि नहीं है।

२२. प्राणिमात्र में रागद्वेष न होना—यह बात भक्त में अवश्य होनी चाहिये।

२३. भक्त को तो भगवान् की मूर्त्ति के विषय में ऐसी धारणा होनी चाहिये कि यह साक्षात् श्रीभगवान् ही हैं। यह तो आर्यसमाजी भी कह देंगे कि ईश्वर सर्वव्यापी होने के कारण मूर्त्ति में भी है। यदि उपासक की ऐसी ही दृष्टि हो तो उसकी विशेषता ही क्या रही?

२४. भगवान् के भक्तों में यों तो अनेक सद्गुण रहते हैं, परन्तु उसे दो बातों का विशेषरूप से ध्यान रखना चाहिये। एक तो उसे सहिष्णु होना आवश्यक है। लोग उसे बुरा कहेंगे, उसकी हँसी उड़ायेंगे, उस पर नाना प्रकार के कटाक्ष करेंगे; किन्तु यदि उसने अपना कार्य छोड़कर उनसे लड़ना आरम्भ कर दिया तो उनकी जीत और उसकी हार होगी। बिना इस गुण के आये आध्यात्मिक उन्नति का केवल स्वप्न देखना मात्र हो सकता है; हाथ कुछ भी नहीं लगता। अतः भक्त को शान्त रहकर शक्ति का सञ्चय करना चाहिये और उसे सर्वदा दूसरे का शुभ चिन्तन करना चाहिये। दूसरी बात है भगवान् के नाम में श्रद्धा होना। भगवान् और उनके नाम में जितनी अधिक श्रद्धा होगी उतना ही मन अधिक सबल और निर्मल होगा। भगवन्नाम संकीर्तन

जितना हो सके श्रद्धा-विश्वास पूर्वक करते रहना चाहिये। फिर भगवान् अपनी कृपा करने में देरी नहीं करेंगे।

२५. एक बार मुझसे एक मुसलमान ने पूछा कि क्या आपके सनातनधर्म के अनुसार मुझे खुदा मिल सकता है ? यदि मिल सकता है तो किस प्रकार ? मैंने कहा, "हाँ, मिल सकता है। खुदा को पाने के लिये सबसे सुलभ उपाय प्रेम है। खुदा के यहाँ हिन्दू-मुसलमान का कोई प्रश्न नहीं है। उन्हें जो चाहे वही प्राप्त कर सकता है। हाँ, हिंसा करने वाले को—वह हिन्दू हो अथवा मुसलमान—भगवान् कभी नहीं मिल सकते।"

२६. संसार का चिन्तन तो सारी दुनियाँ करती है। यदि भक्त ने भी वही किया तो उसमें और संसारी लोगों में अन्तर ही क्या रहा ? इससे बचने के ये छः साधन हैं। इन छः साधनों से बहुत शीघ्र शान्ति प्राप्त हो सकती है—

(१) एकान्त देश में रहना।
(२) प्राण-संयम।
(३) हल्का भोजन।
(४) कम बोलना।
(५) कोई इच्छा न रखना।
(६) किसी भी इन्द्रिय के विषय से संसर्ग न रखना।

२७. भक्तों को अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है। भगवान् के सिवा और किसी को देखना ही नहीं। बस, जो दीखे केवल भगवान् ही दीखे।

२८. भगवद्भक्त का मन बुरे कर्म में नहीं जाता—यह अकाट्य नियम है।

२९. भक्त और भगवान् की पहचान भक्त ही कर सकता है, और कोई नहीं। वन्ध्या स्त्री भला प्रसव की पीड़ा क्या जान सकती है। केवल विद्वान ही विद्वान् को जान सकता है !

३०. भगवान्, भजन और गुरुवाक्य—इन्हें छोड़कर और किसी में भक्त की श्रद्धा नहीं होती।

३१. वृक्ष चाहे सूख जाय अथवा हरा रहे, वह कभी किसी से जल नहीं माँगता। इसी प्रकार वैष्णव को कभी किसी से कुछ माँगना नहीं चाहिये।

३२. भक्त मोक्ष नहीं चाहता। यदि वह मोक्ष चाहता है तो भक्त नहीं, क्योंकि फिर तो वह भक्ति से भी मुक्त होना चाहेगा। अतः भक्त तो केवल प्रेम चाहता है, उसे और किसी वस्तु की इच्छा नहीं होती।

३३. भक्त की शोभा भक्ति से ही है, जिस प्रकार घर की शोभा कुलीन स्त्री से ही होती है।

३४. भक्तों ने भगवान् को खिलौना बना लिया है; वे व्यापक होने पर भी भक्तों के लिये छोटे हो जाते हैं—

'रहे सर्वत्र एक समान।
पर निज भक्तो के लिये छोटा है भगवान्॥'

३५. भक्त हठीले होते हैं, वल्लभाचार्य का तो आपको पुत्र बनना पड़ा।

३६. भक्त तीन प्रकार के होते हैं—सकाम, निष्काम और प्रेमी। इनका विवरण इस प्रकार है—

(१) *सकामभक्त*—जो किसी लौकिक या पारलौकिक विषय की प्राप्ति के लिये भगवान् की भक्ति करते हैं।

(२) *निष्कामभक्त*—जो ज्ञान या मोक्ष की प्राप्ति के लिये भगवान् को भजते हैं।

(३) *प्रेमीभक्त*—इन्हें न भोग की इच्छा होती है, न मोक्ष की। ये तो भगवान् के साकार स्वरूप के उपासक होते हैं और उनका यह स्वरूप सर्वदा सामने बना रहे—यही इनकी इच्छा होती है।

३७. भक्त समझता है कि जो मेरे इष्टदेव हैं वे ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के लिये ब्रह्मा, विष्णु और शिव हो जाते है। अतः उनसे भिन्न कोई और जगन्नियन्ता नहीं है—

'सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।
स याति संज्ञां भगवानेक एव जनार्दनः॥'

३८ उत्तम, मध्यम और लघु भेद से भक्त तीन प्रकार के होते हैं। उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) संसार में जो कुछ है वह भगवान् का शरीर ही है—यह लघु भक्तों की दृष्टि है।
(२) यह सारा प्रपञ्च साक्षात् भगवान् ही है—यह मध्यम भक्तों का लक्षण है।
(३) जिसे अपनी और संसार की कोई सुधि नहीं रहती, बल्कि जो भगवदीय आनंद समुद्र में डूबे रहते हैं, वे उत्तम भक्त है।

३९. भक्त में अहंता-ममता नहीं रहती और न उनमें राग-द्वेष ही रहते हैं। यद्यपि राग-द्वेष तो अन्तःकरण के धर्म हैं, तथापि भक्त की तो सारे संसार की ओर से उपेक्षा रहती है, इसलिये उसका उसमें राग कैसे होगा? तथा भगवान् के स्वरूप और ऐश्वर्य का विचार करने पर यह संसार भी उन्हीं की विभूति जान पड़ता है, इसलिये इसमें द्वेष भी नहीं हो सकता। इसी से संसार के प्रति भक्त राग-द्वेष से रहित रहता है।

४०. नामकीर्तन, भगवद्भक्तों की सेवा, भागवतश्रवण और वृन्दावनवास—ये चार बातें भक्त में अवश्य होनी चाहिये। मैत्री और करुणा ये दो गुण प्रायः ज्ञानियों में नहीं पाये जाते, केवल भक्तों में ही मिलते हैं। भक्त के चित्त में मैत्री स्वभाव से

ही रहती है। जो उसके प्यारे भगवान् सच्चिदानन्दघन और उनके प्रेमियों से प्रेम करता है उसके प्रति भक्त का मैत्री भाव रहता है और जो भगवत्प्रेम से वञ्चित हैं उनके प्रति उनका करुणाभाव होता है।

४१. भक्त को अपनी वृत्ति भगवान् में तदाकार रखनी चाहिये, किसी भी समय उनको भूले नहीं। जप करे, ध्यान करे, कीर्तन करे अथवा स्वाध्याय करे। इस प्रकार किसी न किसी तरह उनसे सम्बन्ध बनाये रखे। भगवान् के सिवा और कुछ भी उसे अच्छा न लगे। ऐसे भक्त की स्थिति का श्रीनारायणस्वामी इस प्रकार वर्णन करते हैं—

'ब्रह्मादिक के भोग सब, विषसम लागत ताहि।
नारायण ब्रजचन्द की, लगन लगी है जाहि॥
लगन लगन सब कोइ कहे, लगन कहावै सोइ।
नारायण जा लगन मे, तन मन दीजै खोइ॥
नारायण अति कठिन है, हरी मिलन की बाट।
या मारगजो पग धरै, सीस देय सो काट॥
हाथ उठाये कहत हूँ, कहा बजाऊँ ढोल।
स्वासा खाली जात है, तीन लोक के मोल॥
कपट गाँठ मन मे नही, सब सों सरल स्वभाव।
नारायण ता भगत की, लगी किनारे नाव॥'

४२. भक्त पाँच बातों को सर्वदा स्मरण रखता है—
(१) अपने स्वरूप को।
(२) भगवान् के स्वरूप को।
(३) भक्ति के साधन, जैसे जप, ध्यान, भगवद्गुणानुवाद आदि को।
(४) भक्ति के विघ्नों को। (५) भक्ति के फल को।

४३. महात्मा के अप्रसन्न होने पर भी जो उनके प्रति सद्भाव रखता है वही असली भक्त और सच्चा सेवक है। महात्मा के प्रसन्न रहते हुए तो सभी प्रसन्न रहते हैं; किन्तु महापुरुषों का तो यही स्वभाव है कि वे उनकी अप्रसन्नता रहते हुए भी अपने पिछले सम्बन्ध में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं आने देते। 'आज कुछ, कल कुछ' ऐसा अव्यवस्थित चित्त तो प्रायः सभी का रहता है, तथापि महात्मा लोग तो सर्वदा एकरस रहते हैं।

४४. जिन पर भगवान् की कृपा होती है उनमें ये आठ लक्षण होते हैं—

(१) प्राणिमात्र पर दया।
(२) अपराधी के प्रति क्षमा।
(३) अनसूया—अच्छे पुरुष को दोष न लगाना।
(४) शौच—भीतर-बाहर से पवित्र रहना।
(५) अधिक परिश्रम न करना।
(६) सबकी मंगलकामना करना।
(७) निष्कामता अर्थात् लोभ न करना।
(८) सांसारिक वस्तुओं की इच्छा न रखना।

४५. भक्त में पाँच बातें नहीं रहतीं—ईर्ष्या, घृणा, भय, लज्जा और निन्दा।

४६. आचार दृष्टि से भक्त तीन प्रकार के होते हैं—(१) सात्विकाचार, (२) भ्रष्टाचार और (३) पिशाचाचार।

(१) *सात्विकाचार*—जो शास्त्रीय आचार का अनुसरण करते हुए भक्ति करते हैं।

(२) *भ्रष्टाचार*—जिनका आचार मलिन होता है, जो नाली या पायखाना आदि गन्दे स्थानों में पड़े रहते हैं, किन्तु जिनकी वृत्ति हर समय भगवदाकार रहती है।

(३) *पिशाचाचार*—जो गाली-गलौज बकते रहते हैं, पास आनेवालों को ईंट-पत्थर आदि मारते हैं अथवा बच्चों के साथ खेलते-कूदते रहते हैं । तथापि इनकी भी हर समय भगवदाकार वृत्ति रहती है । ऐसे भक्तों से लोगों को हानि ही अधिक होती है । तथा ये जो बात कह देते हैं वही प्रायः सत्य हो जाती है ।

४७. कर्मकाण्ड पहली कक्षा है, भक्ति दूसरी और ज्ञान तीसरी । भक्त के लिये कर्मकाण्डी छोटे बच्चे के समान अबोध है, इसलिये उसकी बातों पर वह ध्यान नहीं देता । तथा ज्ञानी बड़ा है, इसलिये उसके सामने मुँह खोलना धृष्टता होगी । अतः दोनों ही की बात सहन करनी चाहिये । किसी से झगड़ा करना भक्त का काम नहीं है ।

४८. आलस्य, अनुसन्धान का त्याग, संसारी मनुष्यों से भय और वासना—ये भगवद्भक्ति के विघ्न हैं ।

४६. भक्त को तो गुरुवाक्य में पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिये । भक्ति का तो यही मुख्य साधन है कि बुद्धि को खो दिया जाय ।

५०. भक्त का मैत्री तो स्वाभाविक गुण है । उसका मुख्य प्रेम तो सच्चिदानन्दघन श्रीभगवान् और उनके प्रेमी भक्तों में रहता है । उनके सिवा जो संसारी दुःख से दुःखी हैं उन पर भी उसकी करुणादृष्टि ही होती है । उसके लिये तो सभी भगवान् के हैं, इसलिये उसका द्वेष किसी से नहीं होता ।

५१. भक्त को आवरण होता ही नहीं ।

५२. उपासक की भगवदाकार वृत्ति हटती है तो उसे विषयों का चिन्तन होने लगता है, किन्तु भक्त को ऐसा नहीं होता । भक्त के सामने भगवान् बने रहें—इसकी भी अपेक्षा नहीं है,

उसे तो भगवदाकार वृत्ति रहना ही भगवान् का मिलना है। भगवदाकार वृत्ति में सत्य-असत्य भी कुछ नहीं है, इनका भेद भी संसार में ही है। जिनकी भगवदाकार वृत्ति रहती है उनके लिये पाप-पुण्य का भेद भी नहीं है। जब मन, बुद्धि और चित्त भगवान् को अर्पित हो जाते हैं तो सम्पूर्ण जगत् भगवद्रूप हो जाता है। किन्तु जो लोग ऐसा मान बैठते हैं कि हमने तो भगवान् को आत्मसमर्पण कर दिया है अब हमें कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं है, उनका पतन हो जाता है, क्योंकि आत्मसमर्पण तो एक स्थिति है, केवल मान्यता नहीं है।

५३. मैत्री और करुणा—ये दो गुण भक्त में ही होते हैं, ज्ञानी में प्रायः नहीं पाये जाते।

५४. अनुरागी भक्त ही भगवान् में आसक्त होता है और राग से ही भगवान् भक्त के सामने दीन हो जाते हैं।

५५. भक्त को इन आठ बातों पर अवश्य ध्यान रखना चाहिये—

(१) नामजप, कीर्तन और गुणगान —ये भक्ति के मुख्य साधन हैं।
(२) साधुसङ्ग करना।
(३) सांसारिक चर्चा से बचना।
(४) दूसरों की निन्दा न तो सुने और न करे।
(५) स्वयं अमानी रहकर दूसरों को मान दे।
(६) किसी का चित्त न दुखावे, और यदि दूसरे चित्त दुखाने का काम करें तो स्वयं दुःखी न हो।
(७) अपनी प्रतिष्ठा को विष्ठावत् समझे।
(८) सर्वदा सच्चरित्र होकर जीवन व्यतीत करे।

५६. जिसका मन एकाग्र हो, विषय में आसक्ति न हो और नेत्र के विषय की इच्छा न हो, वह भगवान् को प्राप्त कर सकता है।

५७. भक्त तो बुद्धि भी भगवान् के अर्पण कर देता है। फिर दो कहाँ रहेंगे ? दो तो बुद्धि के रहते हुए ही रह सकते हैं। जब प्रेमातिरेक से बुद्धि निवृत्त हो जाती है, तभी भगवदाकार वृत्ति होती है। इस अवस्था में बुद्धि का लय हो जाने से भगवान् के सिवा और कुछ नहीं रहता।

५८. भक्त में मैत्री और करुणा स्वभाव से ही रहते हैं। उसका प्रेम श्रीभगवान् में रहता है; अतः जो उसके प्यारे को प्यार करते हैं उन भक्तों से उसकी मैत्री रहती है। तथा जो संसार दुःख से दुःखी हैं उन पर उसकी करुणा रहती है।

५६. जिसमें चार बातें हों वही भगवद्भक्त है। इन चार बातों को धारण किये बिना कोई भक्त नहीं हो सकता—

(१) उदारता।

(२) इन्द्रिय-संयम।

(३) सर्वप्रेम अर्थात् सब पर प्रेम रखना।

(४) सत् और असत् का विचार अर्थात् विवेक।

६०. प्रत्येक भगवद्भक्त को इन बीस नियमों का पालन करना चाहिये—

(१) सत्य बोले।

(२) निन्दा न करे।

(३) भगवान् की माया समझकर हर्ष या शोक में समचित्त रहे।

(४) पराये दुःख की उपेक्षा न करे तथा किसी से द्वेष भी न करे।

(५) दुःख उपस्थित होने पर सहन करे।
(६) यथाशक्ति सबका उपकार करे।
(७) प्राणियों का अपराध सहन करे।
(८) काम करते हुए बुद्धि को चंचल न होने दे।
(९) मधुरभाषी हो।
(१०) अश्लील शब्द न बोले।
(११) चुगली न करे।
(१२) व्यर्थ भाषण न करे।
(१३) दूसरे का धन हरण करने की इच्छा न करे।
(१४) व्यर्थ काम न करे।
(१५) हित[१], मित[२], पथ्य[३] और मेध्य[४] भोजन करे।
(१६) अपने विचार को साधारण जनता में प्रकट न करे।
(१७) अभिमानी न बने।
(१८) दूसरों को मान दे तथा स्वयं मान की इच्छा न करे।
(१९) अपना गुण प्रकट न करे।
(२०) शृङ्गार से प्रेम न करे।

६१. भक्त के लिये ये पाँच नियम बहुत उपयोगी हैं—
(१) निष्पक्ष होकर रहना।
(२) संसार में बालकवत् आचरण करना।
(३) वर्णाश्रम के अभिमान से दूर रहना।
(४) किसी के साथ वाद-विवाद न करना।
(५) भजन के विघ्नों से दूर रहना अर्थात् भजन के बहाने दुष्कर्म न करना।

———

(१) शरीर के लिये हितकारी। (२) परिमित। (३) स्वास्थ्यकर। (४) बुद्धिवर्धक अथवा पवित्र।

वन्दनीय भक्त

१. अन्य समस्त कार्य छोड़ कर जो सर्वदा एकमात्र भगवान् का ही अवलम्बन करता है, एकमात्र भगवान् की ही सेवा-पूजा में तन-मन-धन से निरन्तर नियुक्त रहता है, वह भक्त नमस्कार-योग्य है।

२. जो भगवान् में समस्त लोक और समस्त लोकों में भगवान् का दर्शन करता है, जो सर्वत्र समानबुद्धि रखता है और सर्वभूतों में प्रेम रखता है, वह भक्त नमस्कार के योग्य है।

३. जिसको अपने और पराये का भेद नहीं है, जिसको इच्छा द्वेप और अभिमान नहीं है तथा जो सर्वदा पवित्र एवं भगवान् में दत्तचित्त है वह भक्त नमस्कार-योग्य है।

४. जिसका मन सम्पत्ति या विपत्ति में भगवान् को छोड कर अन्यत्र कहीं नहीं जाता, जो सर्वदा सत्यवादी एवं सदाचार-परायण है, वही भक्त नमस्कार-योग्य है।

५. जो प्रपञ्च से विमुख है, विचारयुक्त है, एकान्तसेवी है तथा भगवत्परायण है, वही नमस्कार-योग्य है।

६. जो भगवान् का सर्वत्र दर्शन करता है, जिसको संसार से अभय प्राप्त है, जो अन्य प्राणियों को अभय प्रदान करता है, जो संसार से उदासीन है तथा जो आश्रमधर्म में कुशल है वही भक्त नमस्कार-योग्य है।

७. जो सर्वदा चातक की नाईं एकनिष्ठ है, सर्वदा लक्ष्मण की नाईं स्वतन्त्रता से रहित है, सर्वदा द्वन्द्वों अर्थात् शीतोष्ण और राग-द्वेपादि से परे है एवं सन्तुष्टचित्त है, वही भक्त नमस्कार-योग्य है।

८. जो भगवान् के अतिरिक्त और किसी को नहीं जानता और न किसी को चाहता है, जिसका मन स्थिर है और जो संयमी है, वही भक्त नमस्कार-योग्य है।

९. जो भगवान् को इसी शरीर से प्राप्त कर लेता है, जिसका समय भगवान् के चिन्तन में ही व्यतीत होता है, वही भक्त नमस्कार के योग्य है।

१०. जिसने भगवान् को, जो कि एकमात्र सत्य वस्तु हैं, आत्मसमर्पण किया है, वही भक्त नमस्कार-योग्य है।

११. जिसका प्रेम ही अवलम्बन है, जिसने मत-मतान्तर को पार कर लिया है और जिसका हृदय प्रेममय है, वही भक्त नमस्कार के योग्य है।

१२. ऐसे भक्तराज के दर्शन, प्रणाम और सेवा करने वाले का जीवन धन्य है। ऐसे भक्त की कृपा से प्रेम की वृद्धि और कामनाओं से मुक्ति होती है। भक्त का हृदय ही भगवान् का विलास-स्थान है। भक्त के हृदय से भगवान् का स्वरूप और भगवान् की महिमा प्रकाशित होती है। ऐसे भक्त को त्यागकर और किसका सङ्ग करें? भक्त सम्पत्ति, सिद्धि अथवा कैवल्य मुक्ति नहीं चाहता। वह सर्वस्व त्याग देता है और सम्पूर्ण रूप से भगवान् में विलीन होता है। अर्थात् आत्मविसर्जन करता है। भगवान में आत्मा की आहुति प्रदान करना सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है, यही परम पुरुषार्थ भी है। जो जिस पदार्थ को चाहता है उसी को प्राप्त भी करता है। जो कुछ नहीं चाहता वह भगवान् को प्राप्त करता है। भक्त का धन केवल श्रीकृष्ण के चरणकमल हैं और वह धन केवल भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होता है।

अभक्त के लक्षण

१. जिसकी विद्या ऐश्वर्य और अभिमान के लिये है, बुद्धि एवं शक्ति अन्य मनुष्यों को दुःख देने के लिये है तथा धर्म और कर्म स्वार्थ, यश एवं मान के लिये हैं वह निश्चय ही भगवद्-भक्ति से रहित है।

२. जो भगवान् की सगुण मूर्त्ति का निन्दक है, शास्त्र की अवज्ञा करने वाला है और देह को आत्मा मानता है वह भगवद्-भक्ति से रहित है।

३. जो भक्त और गुरुजनों की निन्दा करता है, विद्वान ब्राह्मणों की अवज्ञा करता है और सदाचार से रहित है वह भगवद्भक्ति से रहित है।

४. जो औरों को पीड़ा देता है, जिसे इन्द्रियतृप्ति में आनन्द है तथा कटुभाषण जिसका स्वभाव है, वह भगवद्भक्ति से रहित है।

५. जिसकी इन्द्रियाँ मित्र हैं, आशा और ममता सुख के हेतु हैं तथा जो सद्-विचार से रहित है, वह भगवद्भक्ति से रहित है।

६. जो वेष की सहायता से दोष को छिपाता है तथा अधर्म करता हुआ भी धर्माचरण दिखलाता है, वह भगवद्भक्ति से रहित है।

७. जो विद्वान् होते हुए भी भगवत्स्मरण से रहित है, सत्कार्य करते हुए भी अभिमानी है तथा विनय और शिष्टाचार को छोड़ने वाला है, वह भगवद्भक्ति से रहित है।

८. जो धूर्त्त और मिथ्यावादी है तथा दूसरे की उन्नति को सहन न करने वाला और कपटी है, वह भगवद्भक्ति से रहित है।

६. जो क्रोधी, लोभी, निर्लज्ज और दूसरों की प्रशंसा को सहन न करने वाला है, वह निश्चय ही भगवद्भक्ति से रहित है।

१०. जो सम्मान लाभ के लिये पुरुषार्थ करता है, जिसकी विद्या-बुद्धि विवाद के लिये है और जो अधिक भाषण में तत्पर है वह भगवद्भक्ति से रहित है।

———

प्रेमी और प्रेम

प्र०—भक्त के क्या लक्षण हैं ?

उ०—(१) क्रोधरूपी शैतान से दूर रहना।

(२) किसी भी स्त्री के साथ एकान्त में बात न करना।

(३) सर्वदा एकान्तवास मे प्रेम होना।

(४) कम बोलना।

(५) सवेरे तीन बजे से पाँच बजे तक भगवद्भजन करना। भक्तों का मुख्य साधन भजन ही है।

वेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत-फल राम-सनेहू॥

प्र०—भगवत्प्रेमी किसे कहते हैं ?

उ०—जो षडैश्वर्ययुक्त भगवान् श्रीकृष्ण में प्रेम करता है उसे प्रेमी कहते हैं।

प्र०—प्रेमी क्या चाहता है ?

उ०—इहलोक, परलोक और अणिमादि सिद्धियाँ—इन तीनों को त्यागकर जो केवल श्रीभगवान् मे आसक्त है उसी का नाम भगवत्प्रेमी है। वह कुछ भी नहीं चाहता।

प्र०—प्रेम का लक्षण क्या है ?

उ०—प्रेम का लक्षण इस श्लोक में बताया है—

सर्वथा ध्वंसरहितः सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भावबन्धनं यूनोः तत्प्रेम परिकीर्तितम्॥*

---

* नाश का कारण उपस्थित होने पर भी जो दो व्यक्तियो (प्रेमी और प्रेमास्पद) का भावमय बन्धन नाशरहित रहता है वह प्रेम कहलाता है।

प्र०—भगवान् को देखकर श्रीजी मूर्च्छित क्यों हो जाती हैं?

उ०—दर्शन से मिलन होता है। फिर भी यदि होश बना रहा तो मिलन ही क्या हुआ? भगवान् और श्रीजी तत्त्वतः एक ही हैं। वे केवल लीला के लिये दो बने हुए हैं। बिना दो हुए प्रेम नहीं होता। बस, प्रेमसुख के विस्तार के लिये ही उन्होंने द्वैत स्वीकार किया है। जिस समय प्रेम का अत्यन्त उत्कर्ष होता है उस समय द्वैतजनित पार्थक्य भी असह्य हो जाता है और उसके लिये गुञ्जाइश न रहने के कारण होश नहीं रहता। यह ठीक है कि श्रीजी चिन्मयी हैं, इसलिये उनका मूर्च्छित होना नहीं बनता, तथापि लीला में तो यह सब भी हो ही सकता है।

प्र०—क्या माधुर्य में शृङ्गार की प्रधानता रहती है?

उ०—माधुर्य मे तो ऐश्वर्य भी बाधक है, फिर शृङ्गार की तो बात ही क्या? आज-कल बहुत लोग तो लौकिक शृङ्गार को ही माधुर्य समझते हैं। परन्तु माधुर्य तो इससे बहुत आगे की चीज है। इसे उसका साधन तो अवश्य कह सकते हैं, परन्तु वास्तव में माधुर्य तो वह है जिसमें जीवत्व और ईश्वरत्व दोनों ही की भावना नहीं है तथा जिसमें स्त्रीत्व और पुंस्त्व का भी अभाव है। इस स्थिति में अपने प्रियतम में न जड़बुद्धि रहती है और न सच्चिदानन्दबुद्धि; बस केवल प्रियतमबुद्धि रहती है।

प्र०—क्या ऐसे भक्त को भी अज्ञान रहता है?

उ०—यह स्थिति तो ज्ञान से भी आगे है। तत्त्वज्ञान रहते हुए भी ऐसे प्रेमी की दृष्टि भाव पर ही रहती है। वह प्रेमानन्द के उत्कर्ष के लिये द्वैत स्वीकार करता है। किन्तु इस द्वैत से उसके बोध में कोई हानि नहीं होती। विवेकियों की तरह उसकी दृष्टि में जड़-चेतन या आत्मा-अनात्मा का भेद नहीं रहता, सब

कुछ केवल चिन्मय हो जाता है। उसका प्रेमास्पद कैसा है क्या है—यह वह कुछ नहीं कह सकता।

प्र०—सच्चे प्रेमी की क्या दृष्टि रहती है ?

उ०—जिसकी कोई दृष्टि नहीं होती वही सच्चा प्रेमी है। यदि उससे पूछा जाय कि तुम क्यों प्रेम करते हो और वह उसका कोई उत्तर न दे सके तभी उसका सच्चा प्रेम समझना चाहिये। जो लोग किसी निमित्त को लेकर प्रेम करते हैं उनका प्रेमास्पद तो वह निमित्त ही होता है। आज-कल लोगों से पूछो कि तुम महात्मा को भिक्षा क्यों देते हो तो वे कहेंगे, 'इससे पुण्य होता है' ऐसे लोगों को महात्मा का भक्त नहीं कहा जा सकता। वे तो धर्म के भक्त हैं। शुद्ध धर्म के भी नहीं, उसके फलस्वरूप स्वर्ग या धनादि ही उनके प्रेम के प्रधान विषय होते हैं। सच्चा प्रेमी तो वही है जो अपने प्रेम का कोई कारण नहीं बता सकता।

प्र०—प्रेम कैसे नष्ट हो जाता है ?

उ०—(१) बहिर्मुख पुरुषों की संगति करने से।

(२) बहिर्मुख पुरुषों की बनायी हुई पुस्तकों को पढ़ने से।

(३) बहुत शास्त्रों का अभ्यास करने से।

(४) संसारी पुरुषों के साथ राग करने से।

(५) बहुत शिष्य करने से।

प्र०—क्या कोई ऐसा मार्ग भी है जिससे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी सम्प्रदायों के लोग भगवान् को प्राप्त कर लें ?

उ०—हमारे शास्त्रों में तो ऐसा ही मार्ग बताया गया है जिससे सभी इस अपार संसार-सागर से पार जा सकते हैं। उसके दो भेद हैं—प्रेम और विचार या ज्ञान। भगवान् प्रेममय

हैं, उनसे प्रेम तो सभी कर सकते हैं। सम्प्रदाय आदि का भेद तो कर्मकाण्ड में है, प्रेम में कोई भेद नहीं है। प्रेमीजन मजहब के चक्कर में नहीं पड़ते।

प्र०—क्या केवल नामोच्चारणमात्र से पाप नष्ट हो जाते हैं?

उ०—हाँ, हो जाते हैं! यही तो भगवान् के नाम की महिमा है। परन्तु नाम में आसक्ति अवश्य होनी चाहिये। यह आसक्ति नाम का उच्चारण करते-करते स्वयं ही हो जाती है। संसार की आसक्ति को भगवान् की आसक्ति में लीन कर दो। आसक्ति के बिना काम नहीं चलेगा। जब सच्ची आसक्ति हो जायगी तब सदा सर्वदा अपने-आप ही चिन्तन होता रहेगा!

प्र०—साधारण पतिव्रता भी पति का वियोग होने पर अपने शरीर को नष्ट कर देती है, फिर जो प्रेममार्ग में सबसे मुख्य मानी जाती हैं उन गोपियों ने श्री कृष्ण का वियोग होने पर अपने शरीर क्यों नहीं छोड़ दिये।

उ०—जहाँ प्रेम अनित्य होता है वहाँ उसका वियोग होने पर शरीर-त्याग किया जाता है। गोपिकाओं का प्रेम तो नित्य था, उसका न तो नाश हो सकता था और न वस्तुतः कभी वियोग ही होता था, फिर वे शरीर क्यों छोड़तीं? इसके सिवा वे तो अपना सर्वस्व श्रीकृष्ण को अर्पण कर चुकी थीं, उनके शरीर तो श्रीकृष्ण की वस्तु थे, उन्हें वे कैसे नष्ट कर सकती थीं। तीसरे उनकी प्रसन्नता तो अपने प्रियतम की प्रसन्नता में ही थी। वे शरीर छोड़ देतीं तो प्यारे को दुःख होता। अतः प्रियतम की प्रसन्नताके लिये उन्होंने दुःसह विरहानल का दाह सहते हुए शरीर-त्याग नहीं किया।

प्र०—प्रेमी को ध्यान कब तक करना चाहिये?

उ०—जब तक शरीर रहे। कारण कि प्रेम में विषयासक्ति

तो रहती ही नहीं, फिर और करेगा क्या ? गाढ़ अनुराग में ध्येय से अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। विषय तो मिट्टी की लड़की के समान रह जाते हैं। मिट्टी की लड़की से भला कौन विवाह करेगा, कागज के घोड़े पर कौन चढ़ना चाहेगा ? इसी प्रकार प्रेमी को विषय तुच्छ दिखाई देते हैं। उस समय प्रेमी के लिये कोई नियम भी नहीं रहता। अतः ध्यान का भी कोई नियम नहीं किया जा सकता। ध्यान का नियम तो उसी के लिये है जो सब काम नियम से करता है प्रेमी का तो स्वभाव से ही निरन्तर ध्यान चलता है।

प्र०—भक्ति और प्रेम में क्या अन्तर है ?

उ०—भगवदाकार वृत्ति करते हुए जब तक भगवान् और भक्त का भेद बना रहता है तब तक उसे भक्ति कहते हैं और जब भगवदाकार वृत्ति इतनी गाढ़ हो जाय कि भक्त और भगवान् का भेद प्रतीत न हो, तो उसे प्रेम कहा जाता है।

प्र०—भक्ति और मुक्ति में क्या अन्तर है ?

उ०—जगत् को याद न करके भगवान् को याद करें–यही भक्ति है और जब जगत् एवं भगवान् दोनों को याद न करें तो यही मुक्ति है।

प्र०—उपासक को यदि आनन्द का अनुभव न हो, तो उसका क्या कारण समझना चाहिये।

उ०—इसका कारण चिन्तन की कमी है। जब तक चिन्तन में आसक्ति नहीं होगी तब तक आनन्द नहीं होगा। इसलिये इष्टाकार वृत्ति करो, ध्यान करो, सत्सङ्ग करो, गुणानुवाद करो, श्रवण करो, साधु-दर्शन करो, एकान्त देश में रहो, गुरु-सेवा करो। इन सबसे ही इष्टदेव में आसक्ति होगी, विषय में दुःख

का अनुभव होगा तथा इष्ट में सुख की अनुभूति होगी। संशयात्मा की एक में आसक्ति नहीं होती, अतः वह नष्ट हो जाता है। अधिक पुस्तक या अधिक शास्त्र विचार करने से भी चिन्तन में आसक्ति नहीं होती।

* * *

१. प्रेम में माया, विचार और प्रारब्ध के लिये कोई स्थान नहीं है। प्रेमी मुक्ति या लय होना भी नहीं चाहता। वह तो अपने उपास्यदेव को अपने सामने देखते रहना चाहता है। प्रेम में कभी पूर्णिमा नहीं होती, सर्वदा प्रतिपदा ही रहती है। प्रेम जितना बढ़ेगा उसमें उतनी ही कमी दिखाई देगी। यदि प्रेमी में कुछ भी विचार या विवेक है तो उसमें उतनी ही प्रेम की कमी समझनी चाहिये। प्रेम का मार्ग ही निराला है। वहाँ मर्यादा कुछ भी नहीं है।

२. भगवान् में प्रेम होने पर तो घर ही जङ्गल हो जाता है, और बिना प्रेम के जङ्गल भी घर बन जाता है। इसी प्रकार भगवत्प्रेम न होने पर एकान्त भी संसार रूप हो जाता है।

३. प्रेम सक्रिय और अक्रिय दो प्रकार का होता है। सक्रिय प्रेम में वासना रहती है और बासना की पूर्त्ति होने पर वह निवृत्त हो जाता है। निष्क्रिय प्रेम स्वाभाविक होता है। यह साक्षात् भगवान् का स्वरूप ही है। जैसे यदि कोई स्त्री अत्यन्त रूपवती हो और उसे भोगने की इच्छा हो तो इसे सक्रिय प्रेम कहेंगे। यह भोगने के बाद समाप्त हो जायगा। किन्तु यदि सौन्दर्य में ही प्रेम है तो उससे कभी भोगवासना का भाव नहीं आ सकता। सौन्दर्य का तो कभी नाश नहीं होता। अतः उसके प्रति जो प्रेम है वह भगवद्रूप ही है। जैसे कोई सुन्दर पुष्प है। उसे यदि देखने से

प्रसन्नता हो, तोड़ने की इच्छा न हो, तो इसे निष्क्रिय प्रेम कहेंगे। और यदि उसे तोड़कर सूँघना चाहें तो यह सक्रिय प्रेम होगा।

४. यदि आनन्द लेना है तो भगवान् से प्रेम करो, पदार्थों के बनने-बिगड़ने से कोई लाभ हानि नहीं है।

५. इस दोहे में बतलाया हुआ व्यक्ति कितना जबरदस्त प्रेमी है—

सुरपति नरपति लोकपति, जिनके भावै घास।
रहे परम आनँद-मगन, तजि सब ही की आस॥

६. प्रेम ज्ञान को दबा देता है, श्रीनारायण स्वामी कहते हैं—

नारायण दो बात सो, और अधिक नहिं बात।
रसिकन को सतसंग नित, युगल ध्यान दिन-रात॥

सचमुच, इन दो बातों से बढ़कर और क्या बात हो सकती है?

७. भगवान् के बल का अनुभव प्रेम से होता है।

८. गोपियों से भगवान् कृष्ण एक क्षण के लिये भी अलग नहीं होते थे। जब वर्तमान काल के भक्तों से भी भगवान् दूर नहीं होते तो गोपियों से कैसे दूर जा सकते थे। शास्त्र में भी कहा है—

'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।'

सच है, भगवान् तो भक्त के अधीन हैं। भक्त यदि न चाहे तो वे वृन्दावन से बाहर कैसे जा सकते हैं? भगवान् सर्वव्यापक तो उन्हीं के लिये हैं, जिनकी दृष्टि में सर्व हैं। भगवान् तो भावग्राही हैं, वे भक्तानुग्रह-विग्रह हैं। उन्हें भक्तों की भावना के अनुसार ही व्यवहार करना पड़ता है।

९. एक बार नैमिषारण्य में ऋषियों ने मिलकर विचार किया कि ज्ञान बड़ा है या प्रेम तथा दान बड़ा है या श्रीकृष्ण-नाम, तब यह निर्णय हुआ—

ज्ञानमेव तुलितञ्च तुलाया प्रेम नैव तुलितञ्च तुलायाम् ।
दानमेव तुलितञ्च तुलायां कृष्णनाम तुलितं न तुलायाम् ॥

अर्थात् ज्ञान और दान को तो तराजू में तोल लिया गया, किन्तु प्रेम और कृष्णनाम तराजू में नहीं तोले जा सके। अतः ज्ञान और दान की अपेक्षा प्रेम और श्रीकृष्ण-नाम ही बढ़कर रहे।

१०. प्रेमी को त्याग स्वयं होता है और विवेकी को त्याग करना पड़ता है। प्रेमी से विषयों का चिन्तन होता ही नहीं और विवेकी विषयों में दोषदृष्टि करता रहता है। श्री नारायण स्वामीजी कहते हैं—

विधि निषेध श्रुति वेद की, मेंड़ देत सब मेट ।
नारायन जाके हिये, लागत प्रेम-चपेट ॥
नेम धर्म धीरज समुझ, सोच विचार अनेक ।
नारायन प्रेमी निकट, इनमें रहे न एक ॥

११. जिन भक्तों ने श्रीकृष्णचरणारविन्दों को ही सत्य समझ लिया है उनकी बुद्धि में ये भाव उत्पन्न नहीं होते कि जगत् सत्य है या असत्य। वे जगत् की सत्यता-असत्यता के कारण श्रीकृष्णपादपद्मों में प्रीति नहीं करते।

'श्रीकृष्णचरणाम्भोजं सत्यमेव विजानताम् ।
जगत्सत्यमसत्यं वा नेतरेति मतिर्मम ॥'

१२. प्रेम-प्राप्ति ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। श्रद्धा, भक्ति प्रेम-प्राप्ति के सर्वोत्तम उपाय हैं। अश्रद्धालु एवं अभक्त

कभी प्रेमी नहीं हो सकते। श्रद्धाभक्ति का उदय पवित्र अन्तःकरण में ही होता है। श्रद्धा द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञान द्वारा भक्ति की। 'निष्ठा' शब्द भक्ति का पर्यायवाची है। निष्ठा के उदय होते ही प्रेम प्रकट होने लगता है।

१३. भक्त को भगवान् के सिवा और किसी भी सम्बन्ध में कभी बातचीत नहीं करनी चाहिये। मनुष्य-जीवन में जो असन्तोष बना रहता है, वह उन्नति का लक्षण है। भगवान् की जब तक प्राप्ति नहीं होती तब तक असन्तोष बना रहना स्वाभाविक है।

१४. जहाँ कुतर्क है वहाँ प्रेम नहीं रह सकता।

१५. प्रेमी वही है जिससे बिना प्यारे के एक क्षण भी न रहा जाय।

१६. षडैश्वर्ययुक्त भगवान् श्रीकृष्ण में जो प्रेम करते हैं उन्हे प्रेमी कहते हैं तथा जो इस लोक, परलोक एवं अणिमादि सिद्धियों को त्यागकर भगवान् में आसक्त हैं वे ही प्रेमी हैं।

१७. प्रेमी के अन्दर काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या आदि दोष रहते ही नहीं। वह तो प्रेम में मग्न रहता है। भक्ति का फल प्रेम है। प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है, वह मन-वाणी का विषय नहीं है। प्रेम में शास्त्र का प्रवेश नहीं है। नारायण स्वामी जी भी कहते हैं—

प्रेमी बिन या प्रेम की और न जाने सार।
नारायन बिन जौहरी, जैसे लाल बजार॥

१८. प्रेमी भगवान् के ऐश्वर्य को भुला देता है अर्थात् भगवान् अपने ऐश्वर्य को प्रेमी के सामने भूल जाते हैं, जिस प्रकार ग्वालबालों के साथ वे अपना ऐश्वर्य भूल गये थे। ग्वाल-

ग्वाल उनके खूब गुद्दू (मुक्के) लगाते थे और भगवान् ने उनसे यहाँ तक कह दिया कि मैं तुम्हारा ऋणी हूँ। भला, भगवान् किसके ऋणी हैं? तथापि एकनाथजी के यहाँ उन्होंने बारह साल तक जल भरा। यह सब प्रेम के ही कारण हुआ।

१६. प्रेमी अपने प्यारे के सुखमें सुखी होता है। अपने लिये वह कुछ नहीं चाहता।

२०. सच्चे प्रेमी का बड़ा अद्भुत प्रभाव होता है। जिस समय श्री गौरांग महाप्रभु जगन्नाथ जी से मथुरा आ रहे थे, रास्ते में उनके श्रीकृष्ण-प्रेम भरे कीर्त्तन को सुनकर कुत्ते, शेर, हरिण और पत्ती आदि भी शान्त और प्रेम से मस्त हो जाते थे।

२१. कामी और प्रेमी की एक ही दशा होती है। परन्तु काम नरक की निशानी है और प्रेमी भगवत्स्वरूप हो जाता है। प्रेम अलौकिक होता है और काम लौकिक। प्रेमपन्थ अत्यन्त कठिन है। इसमें जान-माल सर्वस्व लुटाना पड़ता है, सभी कुछ स्वाहा करना पड़ता है।

२२. भगवद्विग्रहदर्शन, भगवच्चिन्तन, भगवद्गुणानुवाद, भगवद्भक्तों के साथ सत्संग, भगवत्सेवा, भगवद्भक्तों की सेवा—ये प्रेम के साधन हैं।

२३. हृदय में श्रीभगवान् का ध्यान हो, शरीर में रोमाञ्च हो, जिह्वा में नाम का जप हो और नेत्रों में अश्रुधारा बहती हो-इससे बढ़कर भक्त का और क्या सौभाग्य हो सकता है?

२४. आज-कल जो टेलीफोन है उससे मनुष्य केवल बात कर सकता है; परन्तु भक्तों का टेलीफोन इससे विचित्र ही होता है। देखो, द्रौपदी ने भगवान को पुकारा और झट से भगवान्

आ गये। गज ने पुकारा और वे फौरन नंगे पैर धाये। इसलिये इस टेलीफोन की अपेक्षा वह बहुत विचित्र है।

२५. तल्लीनता विना भगवद्दर्शन नहीं हो सकती।

२६. गोसाईं जी कहते हैं 'सियाराममय सब जग जानी', परन्तु मैं तो कहता हूँ कि सब सियाराम ही सियाराम है।

२७. भगवत्प्रेम होने से भक्त में विद्या, बुद्धि और बल सभी कुछ आ जाते हैं। भगवत्प्रेमी को सामान्य पुरुष नहीं समझना चाहिये।

२८. जो अपने प्यारे के सिवा दूसरे की बातें करता है वह अनुरागी कहाँ? जो जिह्वा प्यारे के सिवा किसी दूसरे की बातें करती है उसे काट डाले, जो कान प्यारे के सिवा किसी दूसरे की चर्चा सुनते हैं उन्हें फोड़ डाले, जो पैर प्यारे के सिवा किसी दूसरे के पास जाते हैं उन्हें काट डाले और जो नेत्र प्यारे केसिवा किसी दूसरे को देखते हैं उन्हें निकाल डाले।

२९. भगवान् को उलाहना तो भक्त ही दे सकता है और किसी का ऐसा अधिकार नहीं है। वालक अपने पिता की मूछें भी पकड़ लेता है। और कोई ऐसी धृष्टता थोड़े ही कर सकता है। एक भक्त भगवान से कहता है—

'एक वात एकान्त मे, सुन लो जगदाधार।
तारें मेरे कर्म तो, प्रभु का क्या उपकार?'

भक्त के सिवा भगवान् से और कौन ऐसा कह सकता है! भगवान् भी शबरी से कहते हैं—'मानहुँ एक भगति कर नाता।'

३०. जिसे ब्रह्मा, वसिष्ठ और वाल्मीकि ध्यान में भी नहीं पा सके उसी पर ग्वालबालों ने सवारी गाँठी—यह प्रेम की महिमा है।

३१. प्रेमी चाहे मर जाय, कट जाय, वह माँगता कुछ नहीं। माँगनेवाले तो वस्तु के प्रेमी होते हैं। वे भगवान् के प्रेमी नहीं होते। यदि कोई वासना लेकर प्रेम-मार्ग में जाओगे तो भगवान् से प्रेम नहीं हो सकेगा। वासना होने पर तो किसी तुच्छ विषय को लेकर ही सन्तुष्ट हो जाओगे।

३२. मैं भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं—इसी अभिमान में मस्त रहना चाहिये।

३३. शास्त्र और आचार्यों का सिद्धान्त है कि राग, राग से ही कटता है, जैसे वायु ही बादल को पैदा करती है और वायु ही उन्हें हटाती भी है! इसी प्रकार भगवत्प्राप्ति की इच्छा ही सांसारिक भोगों की इच्छा को काटती है और फिर (भगवत्प्राप्ति होने पर) स्वयं भी शान्त हो जाती है।

३४. भगवान् की स्वयं प्रेम करने की इच्छा नहीं होती, किन्तु जब भक्त प्रेम करने लगता है तो उन्हें भी करना पड़ता है। भक्त अपने प्रेम से भगवान् को काबू में कर लेता है।

३५. जिस समय लड़की पिता के घर में रहती है, मुँह खोलकर हर जगह घूमती रहती है। उसे किसी प्रकार की लज्जा नहीं होती। किन्तु जब अन्तःपुर में पति के यहाँ चली जाती है तो वहाँ के सब गुण उसमें अपने-आप आ जाते हैं। इसी प्रकार जब अन्तर्ज्योति मिल जाती है तो स्वयं ही उसमें अनुराग हो जाता है।

३६. भक्ति का फल ज्ञान नहीं, बल्कि भक्ति ही है और फलरूपा भक्ति को ही 'प्रेम' कहते हैं।

३७. इष्ट या आत्मा में आसक्ति न होकर संसार में आसक्ति होना ही निरानन्द का कारण है। आनन्द तो आसक्ति से हीं होता है। भाव स्थायी है और आनन्द उसका तरङ्ग है। भाव

होने पर ही आनन्द होता है। आसक्ति का फल भाव है और भाव का फल आनन्द है।

३८. भक्त भगवान् को अपने सामने बुलाना नहीं चाहता। वह तो यही चाहता है कि निरन्तर भगवदाकार वृत्ति रहे। निरन्तर भगवदाकार वृत्ति रहने के कारण वह शुभाशुभ से भी ऊपर उठ जाता है, क्योंकि शुभाशुभ तो संसार में ही हैं, भगवान् तो शुभाशुभ से परे हैं।

३९. भक्त के पास जब तक बुद्धि रहती है, तब तक वह कुछ नहीं है। सच्चा भक्त तो वह तभी होता है जब वह मन, बुद्धि और अहंकार सब कुछ भगवान् को अर्पण कर देता है। किन्तु जो वास्तव में तो भगवदर्पण नहीं हुए, केवल मुँह से कहते हैं कि हमने तो अपना सब कुछ भगवान् को अर्पण कर दिया है, अब हमारा कोई कर्त्तव्य नहीं है, वे तो पतित हो जाते हैं। भाव तो हृदय से होना चाहिये, केवल कहने-सुनने से कुछ नहीं होता।

४०. भक्ति के लिये योग साँप है और ज्ञान अजगर है। साँप भक्ति को डस लेता है और अजगर निगल जाता है।

४१. आसक्ति में आनन्द है और आसक्ति ही सौन्दर्य है। देखो, श्रीकृष्ण तो एक ही थे, किन्तु उनका जो सौन्दर्य गोपियों की दृष्टि में था वह औरों के लिये कहाँ था; कारण कि उनके प्रति जैसा प्रेम गोपियों को हुआ वैसा दूसरों को नहीं हुआ। इससे मालूम हुआ कि प्रेम ही सौन्दर्य है। जिसका किसी में प्रेम हो जाता है उसे वह कुरूप या अवगुणी दिखायी नहीं देता। वैराग्यवान् को धन और ब्रह्मचारी को स्त्री अच्छी नहीं लगती, किन्तु लोभी के लिये धन और कामी के लिये स्त्री तो प्राणों से भी बढ़कर हैं। अतः सौन्दर्य और आनन्द तो आसक्ति ही में है। यदि ऐसा

न होता तो जो चीज एक को प्रिय और सुन्दर जान पड़ती है वह सभी को वैसी ही मालूम होनी चाहिये।

४२. सौन्दर्य, विश्राम और प्रकाश—ये आन्तरिक भी होते हैं और बाह्य भी। किन्तु जिन्हें आन्तरिक सौन्दर्य मिल जाता है उनके लिये बाह्य पदार्थों में सुन्दरता नहीं रहती। इसी प्रकार आन्तरिक विश्राम मिलने पर बाह्य विश्राम और आन्तरिक प्रकाश मिलने पर बाह्य प्रकाश फीके पड़ जाते हैं।

४३. भगवत्सम्बन्ध होने पर धर्म-अधर्म अथवा पाप-पुण्य नीचे रह जाते हैं। जिसकी भजन में आसक्ति है उससे पाप हो ही नहीं सकता। यदि दैववश कोई अशास्त्रीय आचरण हो जाय तो भी आसक्ति न होने के कारण उससे पाप नहीं लगता। सच्चा प्रेम एक ही जगह होता है—यह भी सब का अनुभव है।

४४. प्रेमी की पहचान क्या है, इसी विषय में श्री नारायण स्वामी कहते हैं—

'रूप छके झूमत रहे, तन को तनक न ध्यान।
नारायन दृग जल भरे, यहै प्रेमि पहचान॥
विरद-कमण्डल कर लिये, वैरागी दोउ नैन।
मागैं दरस-मधूकरी, छके रहैं दिन-रैन॥'

४५. भेदाभेदवाद का कथन है कि मूल ईश्वरतत्व में तो अचिन्त्य अभेद है, किन्तु लीला में भेद है, क्योंकि बिना भेद के लीला हो नहीं सकती। मूलतः अभेद होने पर भी मैं ही भगवान् का हूँ, भगवान् मेरे नहीं हैं, जैसे तरङ्ग ही समुद्र का होता है, समुद्र तरङ्ग का नहीं होता। इस प्रकार यद्यपि मैं ही भगवान् का हूँ, तथापि जिस दिन भगवान् मेरे हैं—यह भाव पूर्ण हो जायगा, उसी दिन प्रेम की पराकाष्ठा कही जायगी।

४६. नियम से प्रेम पैदा होता है और जब भजन में आसक्ति हो जाती है तो लय विक्षेप आदि विघ्न स्वतः ही निवृत्त हो जाते हैं।

४७. कीर्तनादि के समय प्रेमी में समय-समय पर ये अष्ट सात्त्विक भाव प्रकट होते हैं—(१) कम्प, (२) अश्रु, (३) पुलक, (४) स्तम्भ, (सुन्न हो जाना), (५) स्वेद (पसीना), (६) स्वरभङ्ग, (जीभ लड़खड़ाने लगना), (७) वैवर्ण्य (शरीर का रङ्ग बदल जाना) तथा (८) प्रलय (मूर्छित हो जाना)।

४८. विचार और प्रेम से अभिमान दूर होता है। भक्त जैसे-जैसे निरभिमान होगा वैसे-वैसे ही उसका प्रेम बढ़ता जायगा, तथा जैसे-जैसे प्रेम बढ़ेगा वैसे-वैसे ही देह जाति और जगत् के अध्यास की निवृत्ति होगी । रोग के कारण विस्मृति होना तो बुरा माना जाता है, किन्तु ध्यान या प्रेम से विस्मृति होना तो बहुत अच्छा है।

४९. भगवान् और माया दो वस्तु हैं। साधनावस्था में तो भक्त भगवान् से प्रेम करता है तथा भगवान् से भिन्न सब माया है—ऐसा जानकर उसे भूलना चाहता है; किन्तु सिद्धावस्था में केवल भगवान् ही भगवान् रह जाते हैं, भगवान् से भिन्न कुछ भी नहीं रहता। इसी का नाम प्रेम है और यही ज्ञान है—

परा भक्ति और ज्ञान में, तनिकहु नाहिन भेद।
नारायन मुख्य प्रेम है, कहें संत अरु वेद॥

५०. प्रेम में कोई पन्थ नहीं है। आकर्षण होने पर चिन्तन करते रहना—यही प्रेमी का पन्थ है । इसमें कोई विधि-निषेध नहीं है। बस, प्रियतम का संयोग ही आनन्द है—

कबिरा खड़ा बजार में, दोउ दीन की खैर।
ना काहू सो दोस्ती, ना काहू सों बैर॥

५१. भगवान् राम ने शबरी के जूठे बेर खाये—यह विधि-निषेधमय कर्मकाण्ड से ऊपर की बात है। जूठा खाने की महिमा तो प्रेमी जानता है। यह प्रेम-मार्ग की बात है पण्डितों के समालोचना करने की बात नहीं है। इसे तो प्रेमी ही अनुभव कर सकते हैं। देखो, श्रीकृष्ण ने भी तो ग्वाल-बालों का जूठा खाया था।

५२. धर्म और ज्ञान के उपदेश से प्रेम शिथिल पड़ जाता है, इसीलिये महारास के समय भगवान् गोपियों को धर्म का उपदेश देने लगे थे। इसी प्रकार जब सूर्यग्रहण के समय गोपियाँ कुरुक्षेत्र गयीं और वहाँ श्रीकृष्ण से उनकी भेट हुई, तब भी श्रीकृष्ण ने उन्हें ज्ञान का उपदेश दिया। इस पर गोपियाँ बोलीं, 'गोपाल ! तुम तो अब भी गँवार के गँवार ही रहे। हम तो समझती थीं कि द्वारका के राजा होकर तुम्हें कुछ अक्ल आ गयी होगी। भला, अनधिकारी को उपदेश करना गँवारपन नहीं तो क्या है ? तुम्हें याद होगा, महारास के समय भी तो तुमने हमें धर्म का उपदेश दिया था। उस समय क्या तुम्हें इतनी भी परख नहीं हुई कि हम ज्ञान या धर्म की अधिकारिणी नहीं हैं। फिर हमें यह धर्म या ज्ञान क्यों सुनाते हो ? यह तो प्रेम से हटानेवाली बातें हैं।'

५३ प्रेमी के लिये केवल दो काम हैं—(१) निरन्तर भगवदाकार वृत्ति करना और (२) विषयों में वैराग्य रखना। विषयों का आना तो प्रारब्धाधीन है, किन्तु उन्हें भोगना अविचार या आसक्ति से ही होता है।

५४. प्रेमी को अपने चित्त की गति-विधि पर दृष्टि रखनी चाहिये। जब तक वृत्ति भगवदाकार नहीं होगी तब तक चित्त

का निरीक्षण कठिन है। भगवदाकार वृत्ति होने पर तो दो-चार मिनट में ही विषयचिन्तन समाप्त हो जायगा; क्योंकि चित्त तो एक ही है, वह भगवान् में लग जायगा तो किसी दूसरी जगह कैसे जा सकेगा। इसी से गोपियों ने कहा था 'ऊधो, मन न भये दस-बीस' इस प्रकार का प्रयत्न साधक को तो करना ही चाहिये, सिद्ध की शोभा भी इसी मे है। साधक तो संयम करके दो-चार इन्द्रियों के विषयों से ही राग हटा सकता है, सम्पूर्ण इन्द्रियों के राग से तो वही छूट सकता है जिसका चित्त हर समय भगवदाकार रहता है।

५५. प्रेमी अपने प्रेमास्पद के सिवा किसी और को देखना नहीं चाहता। उसका चित्त किसी दूसरे की ओर जाता भी नहीं है। जब तक ऐसी बात न हो तब तक प्रेम नहीं समझना चाहिये। श्री नारायण स्वामी कहते हैं—

'जाके हिय मे बस गई, मोहन की मुसिक्यान।
नारायण ताके हिए, और न लागत ज्ञान॥'
विधि-निषेध स्मृति-वेद की, मेड देत सो मेंट।
नारायन जाके हिये, लागत प्रेम-चपेट॥'

इन नयनों का यही विशेष। यह भी देखा वह भी देख।
देखत-देखत ऐसा देख। मिट गई दुविधा रह गया एक॥

५६. भगवान् के स्वरूप में तो प्रेम हो भी जाता है, किन्तु नाम में प्रेम होना कठिन है। जिसने बहुत समय तक भगवत्सेवा की होती है, उसी का नाम में प्रेम होता है। भगवान् का नाम उनके स्वरूप और सेवा दोनों से सूक्ष्म है।

५७. ब्रज के प्रेमी महात्मा श्री नारायण स्वामी जी के कुछ प्रेम सम्बन्धी दोहे मुझे बहुत पसन्द हैं। वे बड़े भारी प्रेमी महात्मा हुए हैं—

प्रेम मगन गद्गद् गिरा, कढ़ै न मुख तें बात।
नारायन महबूब बिनु, और न कछू सुहात ॥१॥

मनमें लागी चटपटी, कब निरखूँ घनश्याम।
नारायन भूल्यो सभी, खान-पान विसराम ॥२॥

नारायन हरि लगन मे, पाँच बात न सुहात।
विषय भोग, निद्रा, हँसी, जगतप्रीति, बहु बात ॥३॥

ब्रह्मादिक के भोग सब, विषसम लागत ताहि।
नारायन ब्रजचन्द की, लगन लगी है जाहि ॥४॥

प्रेम पन्थ अति ही कठिन, सब कोउ निबहत नाहिं।
चढि के मोम तुरङ्ग पै चलिबो पावक माहिं ॥५॥

जब लगि जापै जीय, तब लगि पिय भेटत नहीं।
तब ही पावै पीय, भेंट धरै जो जीय की ॥६॥

नारायन होवै भलै, जो कछु होवनहार।
हरि सो प्रीति लगाय कै, अब कहा सोच-विचार ॥७॥

लगन-लगन सब कोइ कहै, लगन कहावै सोय।
नारायन जा लगन मे, तन-मन दीजै खोय ॥८॥

नारायन अति कठिन है, हरी मिलन की बाट।
यहि मारग जो पग धरै, प्रथम सीस दे काट ॥९॥

हाथ उठाये कहत हूँ, कहा बजाऊँ ढोल।
स्वासा खाली जात है, तीन लोक का मोल ॥१०॥

कपट गाठ मन मे नहीं, सबसो सरल सुभाव।
नारायन ता भगत की, लगी किनारे नाव ॥११॥

नारायन या मग कोउ, आवत है सो वीर।
पग-पग में बरछी लगै, स्वास-स्वास मे तीर ॥१२॥

तेरे भावै कछु करो, भलौ-बुरो ससार।
नारायन तू बैठि कै, अपनो भवन बुहार ॥१३॥

धन-यौवन यो जात है, जा विध उडत कपूर।
नारायन गोपाल भज, क्यो चाटत जग-धूर ॥१४॥

ज्ञान-कथा सीखी घनी, प्रश्न करन अति गूढ।
नारायन बिन धारणा, वृथा बकत है मूढ ॥१५॥

जाके मन मे बसि रही, मोहन की मुसिक्यान।
नारायन ताके हिये, और न लागत ज्ञान ॥१६॥

परा भक्ति अरु ज्ञान मे, नाहिन तनिकौ भेद।
नारायन मुख्य प्रेम है, कहैं सन्त अरु वेद ॥१७॥

४८. रामायण तो तुम लोग बहुत दिनों से पढ़ते हो, किन्तु उसमें तुम्हारा प्रेम नहीं है। यदि प्रेम होता तो उसमें जहाँ विरह का प्रसङ्ग आता है उसे तुम कैसे पूरा पढ़ सकते। वहाँ तो आँखों से आँसुओं की धार बहने लगेगी फिर किस प्रकार प्रसङ्ग पूरा होगा? वास्तव में प्रेमी का तो नाम लेते ही मन रुक जाता है। योगी के लिये जैसे सुषुम्ना नाड़ी से अमृत झरता है वैसी ही प्रेमी की आँखों से भी निरन्तर अमृतधारा बहती रहती है।

५६. नियम ही प्रेम का साधन है, किन्तु प्रेम की सिद्धावस्था में नियम का बाँध बाधक हो जाता है। गाढ़ अनुराग ही प्रेम की सिद्धावस्था है।

६०. संसार में जो कुछ दीखता है वह सम्पूर्ण दृश्य विराट भगवान् का शरीर है। भगवान् इससे अलग हैं। इसी प्रकार मैं भी शरीर से अलग हूँ। किन्तु हम शरीर में आसक्त हैं और भगवान् अपने शरीर में आसक्त नहीं हैं। जब मैं भगवत्प्रेम में अपने शरीर को भूल जाता हूँ अर्थात् शरीर से अलग हो जाता हूँ तो केवल शुद्ध चेतनस्वरूप रह जाता हूँ। भगवान् भी शुद्ध चेतनस्वरूप ही हैं। इस प्रकार हम दोनों की जाति एक ही है। अतः उस समय मैं उनसे अभिन्न हो जाता हूँ। यही वास्तविक भगवत्प्रेम है।

६१. पहले विषयासक्ति, माहात्म्यज्ञान अथवा ऐश्वर्य के कारण प्रीति होती है। विषयासक्ति में भोगवृद्धि, माहात्म्यज्ञान में धर्मबुद्धि और ऐश्वर्य में गौरव रहता है। शुद्ध प्रेम इनसे आगे है। उसमें कोई निमित्त नहीं होता। उसी को माधुर्य कहते हैं।

६२. फारसीवालों ने प्रेमियों के नौ लक्षण बताये हैं—(१) ठंडी सांस, (२) पीला मुँह, (३) सजल नेत्र, (४) अल्प आहार, (५) अल्प निद्रा, (६) मित भाषण, (७) व्याकुलता, (८) अनवधानता (बेखबरी) और (९) निरन्तर प्रतीक्षा। श्री नारायण स्वामी भी कहते हैं—

नारायन हरि लगन मे; पाच बात न सुहात।
विषय-भोग, निद्रा, हँसी, जगत्प्रीति, बहु बात॥'

६३. भक्तिमार्ग में प्रेम अन्तिम गति है। उससे पहले आठ भूमिकाएँ और होती हैं; जैसा कि कहा है—

'आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्तथा॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेमप्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥'*

६४. जहाँ परस्पर प्रेम होता है वहाँ छः बातें होती हैं-(१) देना, (२) लेना; (३) गुप्त बातें कह देना, (४) गुप्त बातें पूछना, (५) भोजन करना और (६) भोजन कराना। कहा भी है—

'ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुंक्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्॥"

६५. वास्तविक प्रेम में तो एक ही रहता है, दो नहीं रह सकते। जब तक द्वैत है तब तक असली प्रेम नहीं है। मैं-तू ही द्वैतभाव है। जब केवल प्रेमास्पद ही रह जाय, प्रेम करनेवाले का अभाव हो जाय तभी असली प्रेम समझना चाहिये।

६६. जो स्वाभाविक प्रेम होता है वह सर्वदा एक रस बना रहता है; किन्तु कृत्रिम प्रेम घटता-बढ़ता है। वह सर्वदा नहीं रहता। स्वाभाविक प्रेम कारण से होता है और कृत्रिम प्रेम कार्य

*पहले श्रद्धा होती है, फिर सन्तसमागम होता है, उसके पश्चात् भजन-सम्बन्धी कृत्य होते हैं। तदनन्तर अनर्थ पापरूप प्रतिबन्ध की निवृत्ति और भजन में निष्ठा होती है। भजन में निष्ठा हो जाने पर रुचि और फिर आसक्ति होती है। आसक्ति हो जाने पर भाव होता है और उसके पश्चात् प्रेम का आर्भाव होता है। साधको मे प्रेम का प्रादुर्भाव होने मे यह क्रम रहता है।

से। कारण पृथ्वी है और कार्य खिलौना समझना चाहिये। सबके मूल कारण भगवान् है। अतः स्वाभाविक प्रेम केवल भगवान् में ही हो सकता है।

६७. शुद्ध प्रेम में काम की गन्ध, स्वार्थ की गन्ध अथवा विचार की गन्ध भी नहीं होती।

६८. जब भगवान् को स्मरण न करने पर भी भक्त भगवान् को न भूले तभी सच्ची भक्ति है, जिस प्रकार कि जीव याद न करने पर भी अपने शरीर को नहीं भूलता।

६९. मानसी भाव पैदा करना भक्त का मुख्य कर्त्तव्य है। भक्त का सिद्धान्त तो प्रेम है, वह धन खर्च करने से नहीं मिलता। जो लोग शरीर द्वारा गुरु, संत या भगवान् की सेवा करते हैं उन्हे ही मानसी भाव की प्राप्ति होती है। इसकी दृढ़ता केवल सेवा से ही होती है। देखो, नामदेव की माँ दस साल की आयु में ही विधवा हो गयी थी। ये लोग छीपी थे। इनमें दूसरा विवाह हो सकता था। परन्तु उसके पिता ने उसे भगवान् की सेवा में लगा दिया। उनमें उसकी ऐसी दृढ़ भावना हो गयी कि उसे जिस चीज की इच्छा होती थी वह भगवान् से मांग लेती थी। एक बार उसे काम-विकार हुआ। इसके लिये भी उसने भगवान् से प्रार्थना की। बस, उसे गर्भ रह गया। उसके पिता को सन्देह हुआ तो आकाशवाणी हुई कि यह गर्भ मेरा है। उसी से नामदेव का जन्म हुआ। यह दृढ़ भावना की बात है।

७०. प्रेमियों की क्या पहचान है, इस विषय में किसी ने कहा है कि उनके कपड़े जीर्ण-शीर्ण होते हैं और शरीर बहुत कृश होता है—'आशिकों के ये पते। तन लटे कपड़े फटे॥'

७१. भगवत्सम्बन्ध होने पर तो धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य नीचे ही रह जाते हैं। भला, जिसकी भजन में आसक्ति है उससे पाप कैसे हो सकता है? यदि दैवात् कुछ हो जाय तो उसमें आसक्ति न रहने के कारण उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रेम तो एक ही जगह हुआ करता है—ऐसा सबका अनुभव है।

७२. श्री नारायण स्वामीजी ने प्रेमी के स्वरूप का कैसा अद्भुत वर्णन किया है—

'रूप छके झूमत रहे, तन को तनिक न ध्यान।
नारायन दृग जल भरे, यही प्रेमि पहचान॥
विरद कमण्डलु कर लिये, वैरागी दोउ नैन।
माँगत दरश मधूकरी, छके रहे दिन-रैन॥

७३. प्रथम तो प्रेम करना ही कठिन है, फिर उससे भी कठिन उसे छिपाना है।

७४. लड़की का प्रेम अपने पति में ही होता है, किन्तु पति के नाते वह और सब घरवालों की भी सेवा करती रहती है। इसी प्रकार जब अपने इष्ट में निष्ठा हो जाती है तो उसके अतिरिक्त और वस्तु ही कहाँ है। फिर तो सब नाम और सब स्वरूप अपने इष्ट के ही हो जाते हैं। अतः किसी अन्य नाम या अन्य स्वरूप में निष्ठा रखनेवालों से कैसे द्वेष हो सकता है?

७५. प्रेम में कोई रास्ता नहीं है। आकर्षण होने पर याद करना ही इसका रास्ता है। इसमें किसी प्रकार का निषेध या विधि-विधान भी नहीं है। बस, आसक्ति होने पर संयोग होना ही आनन्द है।

७६. प्रेमी की स्थिति सुख-दुःख में समान है, क्योंकि उसकी स्थिति तो निरन्तर प्रेम में ही रहती है।

७७. प्रेमी दूसरे की ओर देखना नहीं चाहता और न उसका चित्त ही कभी दूसरे में जाता है। अतः जब तक ऐसी बात न हो तब तक प्रेम नहीं कहा जा सकता।

७८. भगवान् 'हरि' हैं। उसका यह अर्थ नहीं कि भगवान् भक्त के पापों को हर लेते हैं, क्योंकि जब तक पाप दूर नहीं होते तब तक तो भक्ति का आरम्भ भी नहीं होता। भगवान् हरि हैं, अतः वे भक्त का चित्त हर लेते हैं। भक्त का चित्त भगवान् के ही पास रहता है। चिन्तन और आसक्ति एक ओर से ही नहीं होते। अतः भक्त भगवान् का स्मरण करता है और भगवान् भक्त का स्मरण करते हैं। भगवान् भक्त के ही हृदय में रहते हैं, भक्त के ही सामने प्रकट होते हैं और भक्त सर्वत्र उनकी झाँकी करने लगता है।

७९. भगवान् भक्त के सामने नाचने लगते हैं और भक्त सर्वदा उन्हें अपने समीप ही देखता है। वह उन्हें कहीं अन्यत्र नहीं देखता।

८०. जब भगवान् से प्रेम हो जाता है तो संसार की समस्त कामनाएँ जाती रहती हैं।

८१. अपने प्रेमास्पद का नाम लेने पर प्रेमी का मन रुक जाता है। जैसे योगी की सुषुम्ना नाड़ी से अमृत टपकता है वैसे ही प्रेमी की आँखों से अमृत की धारा बहती रहती है। प्रेम का साधन तो नियम ही है, परन्तु प्रेम की सिद्धि होने पर नियम उसमें बाधक हो जाता है। गाढ़ अनुराग ही प्रेम की सिद्धावस्था है।

८२. भक्त ज्ञान की इच्छा कभी नहीं करता। वह तो भगवान् को आत्मनिवेदन करके प्रेमानन्द में मग्न रहता है।

उसमें अहंता-ममता नहीं रहती। वह तो अपना सर्वस्व प्रभु को अर्पण कर चुकता है। यह अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष से भिन्न पाँचवाँ पुरुषार्थ है। भक्त का जन्म-मरण भी नहीं होता; वह तो नित्य ही है। जब भगवान् ज्ञानस्वरूप हैं तो उनका भक्त अज्ञानी भी कैसे रह सकता है। अतः प्रेम भी ज्ञान की तरह अनिर्वचनीय ही है। भक्त का स्थूल शरीर नहीं रहता, वह भी चिन्मय हो जाता है।

'देखते-देखते हो जाती है हालत तारी।
आप खो जाता हूँ जब आपको पा जाता हूँ॥'

८३. प्रेम की पहचान बाहरी क्रिया से नहीं होती। यह तो आन्तरिक भाव का पता लगने पर ही परखा जा सकता है। देखो, एक जगह जंगल में हनुमानजी की प्रतिमा विराजमान थी। एक हनुमानजी के प्रेमी महात्मा वहाँ आये और कहने लगे कि हमारे इष्टदेव तो चौड़े में रहते हैं, हम कुटी में कैसे रहें। बस, उसी जगह भूखे-प्यासे तीन दिन तक पड़े रहे। लोगों को उनके संकल्प का पता लगा तो उन्होंने हनुमानजी के ऊपर एक छप्पर बनवा दिया। बस, महात्मा चले गये। कुछ दिनों के बाद एक दूसरे महात्मा आये। उनके इष्ट भी हनुमानजी ही थे। उन्होंने सोचा कि हनुमानजी के ऊपर फूस की कुटी है। कहीं दुर्दैववश इसमें आग लग गयी तो हमारे इष्टदेव को बहुत कष्ट होगा। अतः उन्होंने झोपड़ी हटाकर उसमें आग लगा दी, और चले गये। इन दोनों महात्माओं में किसको हनुमानजी का विशेष प्रेमी कहें? क्रियाएँ तो दोनों की सर्वथा विपरीत हैं, परन्तु भाव तो किसी का कम नहीं जान पड़ता।

८४. प्रेम दो प्रकार का होता है—स्वाभाविक और कृत्रिम। स्वाभाविक प्रेम कारण में होता है और वह सदा एकरस बना

रहता है तथा कृत्रिम प्रेम कार्य में होता है और वह कार्य के बनने-बिगड़ने के साथ घटता-बढ़ता एवं नष्ट भी हो जाता है।

८५. प्रेम से वृत्ति तदाकार हो जाती है। फिर तो हर समय प्रेमास्पद का ही चिन्तन होता है। जैसे कुलटा स्त्री का मन काम-धन्धा करते हुए भी जार ही में लगा रहता है।

८६. जिसका संसार में राग है वह विषयी है, जिसका भगवान् में राग है वह भक्त है और जिसका किसी में भी राग नहीं है, वह विवेकी है।

८७. आनन्द और कुछ नहीं है; बस, आसक्ति होकर जो तदाकार वृत्ति हो जाती है, उसी से आनन्द का विकास हो जाता है।

८८. जब एक जगह आसक्ति हो जाती है तो वहीं परम सुख का अनुभव होने लगता है। आसक्ति ही कल्याण है। जिसमें आसक्ति रहती है वही संसार के दुःखों को सहन कर सकता है। आनन्द न आत्मा में है और न संसार में, केवल आसक्ति में ही आनन्द है। जब एक जगह आसक्ति होती है तो दूसरी जगह से स्वयं ही दूर हो जाती है। जिसे इष्ट में आसक्ति होती है उसकी संसार में स्वयं ही आसक्ति नहीं रहती। आत्मा या इष्ट में आसक्ति होने से केवल सुख होता है, वहाँ दुःख नहीं है। किन्तु विषय में आसक्ति होने से दुःख-मिश्रित सुख होता है, क्योंकि वहाँ दूसरे की सहायता लेनी पड़ती है। अतः परतन्त्रता है।

८९. आनन्द घर छोड़ने में नहीं, अपितु भजन में आसक्ति होने से है। इसलिये साधक को कभी इष्ट का परिवर्तन नहीं

करना चाहिये, बल्कि तदाकार वृत्ति करते हुए उसी में आसक्ति बढ़ानी चाहिये।

× × × ×

(प्रेमतत्व) *

संसार के ताण्डव नृत्य में प्रेम सर्वत्र काम करता दिखाई दे रहा है। हाथी से चींटी पर्यन्त समस्त जगत् प्रेम-पाश में जकड़ा हुआ उन्मत्त की तरह नाच रहा है। नाना प्रकार के सांसारिक विषयों की प्रीति ही जगत् को नचा रही है। यह विषय-प्रेम ही चोर से चोरी कराता है और जार से जारी। धर्म जो वास्तव में शान्तिप्राप्ति का मार्ग है, उसे न जानने से ही अधर्मी लोगों के कारण पृथ्वी नरकतुल्य बना दी जाती है। माता-पिता अपनी सन्तान के प्रेमपाश में बँधे हुए नाना प्रकार के कष्ट सहन कर उनके भरण-पोषण के लिये न्याय और अन्याय से धनोपार्जन कर यमराज के पाश में बँध जाते हैं। मछली जिह्वा के वशीभूत होकर कांटे में फँस जाती है। हाथी कामवश गड्ढे में गिर जाता है। हरिण श्रवणेन्द्रिय के विषय का प्रेम होने से ही अपने शरीर का बलिदान कर देता है। पतङ्ग चक्षु-इन्द्रिय की जञ्जीर में बँधकर विवश हो दीपक की ज्वाला में अपनी आहुति दे देता है। भ्रमर गन्ध की लोलुपता से कमल में बन्द होकर प्राण गँवा देता है। ये सब जीव एक-एक विषय की लोलुपता से ही नाश को प्राप्त होते हैं। किन्तु मनुष्य, जो सृष्टि के प्राणियों में

* यह लेख श्री महाराजजी के उपदेशों के आधार पर पं० हरिदत्तजी जोशी अनूपशहरवालों ने लिखा था। इसमें जो विचार प्रकट किये गये हैं वे श्री महाराजजी के ही हैं।

श्रेष्ठ माना गया है, और जिसमें ये सब इन्द्रियाँ प्रबल होती हैं मोहरूपी रस्सी से नथा हुआ इन सभी विषयों को ग्रहण करने के लिये बन्दर की तरह नाचता फिरता है। यह बात सभी जानते हैं।

इस प्रकार सभी प्राणी तरह-तरह के प्रेम के नशे में उन्मत्त हैं। परन्तु प्रेम-प्रेम में अन्तर है। एक प्रेम जीव को अधोगति की ओर ले जाता है तथा एक दूसरा प्रेम है जो उसके उद्धार का हेतु है। एक के कारण जीव सदैव दुःख भोगता है तथा दूसरा उसे मुक्त कराकर आनन्द की गोद में बिठा देता है। यहाँ हम उसी प्रेम की व्याख्या करना चाहते हैं जो परमानन्द का प्रकाशक है और जीव को उन्नति के मार्ग से ले जाकर उसे परमपद की प्राप्ति करा देता है।

संसार के सभी पदार्थ क्षणभंगुर हैं। इनमें प्रेम भी निमेष-मात्र का ही है। वस्तु का नाश होते ही प्रेम का भी नाश हो जाता है। परन्तु वही प्रेम यदि किसी अविनाशी वस्तु में लग जाय तो नित्य सुख को प्राप्ति करा देता है। वह नित्य सुख केवल अखण्ड सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही हैं, जिनकी माया से इस संसार की उत्पत्ति हुई है और जो स्वयं इस माया के घूँघट में एक सुन्दरी स्त्री की भाँति छिपा हुआ है। प्रेमी तो उस अचिन्त्य सौन्दर्य का ही चकोर है। वह जब तक इस घूँघट को हटाकर चन्द्रमा को लजाने वाली उस अनुपम ज्योति का साक्षात्कार नहीं कर लेता, उसे धैर्य कहाँ हो सकता है ? यही भगवत्प्रेम है। यह प्रेम क्या वस्तु है कुछ स्पष्ट नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह अनुभवगम्य है। गूँगे के गुड़ की तरह उसके रस के स्वाद का वर्णन नहीं हो सकता। केवल इतना ही इङ्गित किया जा सकता है कि यह हृदय का भाव है, जो प्रेमी को प्यारे से मिला देता है तथा बीच

का पर्दा हटाकर परमात्मा का साक्षात्कार करा देता है। उस अभीष्ट मिलन से अद्भुत आनन्द की सीमा नहीं रहती। सब सांसारिक पदार्थ उस अवर्णनीय आनन्द के आगे तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। स्वार्थ और अहङ्कार उसके शत्रु हैं।

सच्चा प्रेम निःस्वार्थ होता है। जिसमें स्वार्थ है वह प्रीति जिपैली है, चिरस्थायी नहीं, क्योंकि जब स्वार्थ की पूर्ति हुई कि प्रीति भी चली गयी। यही पार्थिव प्रेम है, परन्तु भगवत्प्रेम कुछ न्यारी वस्तु है। उसमें स्वार्थ का छाया भी नहीं होती। केवल प्यारे के दर्शन की लालसा रहती है। प्यारे का वियोग होने पर जीवन भार मालूम होता है, चित्त अशान्त और विह्वल रहता है तथा सब वस्तुएँ, जो पहले सुखदायी जान पड़ती थीं; वे दुःख-दायी प्रतीत होती हैं। धन, परिवार, इष्ट-मित्र आदि सब विघ्नरूप दिखाई देते हैं। यहाँ तक कि अपना शरीर भी, जो सभी सांसारिक पदार्थों से अधिक प्रिय है, अपने प्यारे के वियोग में काँटा-सा चुभता है। प्रेमी को तो प्रियतम से मिलना है। बिना मिलन के जीना भी दुर्लभ है। जब ऐसी विह्वलता बढ़ जाती है तो प्यारे को हठात् खींच लाती है। फिर दूर रह ही नहीं सकते। प्रेम के लिये कुटिल वासनाओं से शून्य होना चाहिये। प्रेम सौत की तरह दूसरे का अस्तित्व नहीं सह सकता। यदि वह प्रबल हुआ तो सारी वासनाओं को भगा देता है नहीं तो परास्त होकर स्वयं ही हृदय-मन्दिर को छोड़कर चला जाता है।

बहुत लोग पूछा करते हैं कि प्रेम कैसे मिलता है, सो यह तो स्वभाव से ही सबको प्राप्त है। हमारा कहना है कि हृदय में जगह दो तो प्रेम भी आ जायगा। जहाँ इसके शत्रुओं का राज्य हो वहाँ क्या प्रेम सिर फोड़ेगा? यदि प्रेम की तरङ्ग से हृदय को सींचना हो और अपने हृदय की वाटिका को आनन्दादि कुसुमित

लताओं से विभूषित करने की तीव्र इच्छा हो तो हृदयक्षेत्र को कामादि कूड़ा-कर्कट से साफ करने का यत्न करो। फिर देखना प्रेमरूप निर्मल धारा स्वयं आकर तुम्हारी बाटिका को हरी-भरी बनाकर प्रफुल्लित करेगी। बस, फिर इस प्रेमधारा में नित्य स्नान करते हुए आनन्द का अनुभव करते रहना।

प्रेम का अधिकार बढ़ जाने पर जब रोम-रोम से प्रेमधारा बहने लगती है तो शरीर, मन और बुद्धि में अहंता-ममता ठहर ही नहीं सकतीं। वास्तव में यह अहंकार ही सारी अशान्ति की जड़ है। इससे मनुष्य सांसारिक विषय-वासनाओं में फँसकर जीवन-मरणरूपी शृङ्खला में बँधा रहता है तथा नाना प्रकार के सुख-दुःख में डूबता-तैरता अपना अमूल्य जीवन नष्ट कर देता है। आश्चर्य तो यह है कि इसे इसी गोरखधन्धे में फँसा रहना अच्छा लगता है। यदि इस प्रकार की स्थिति में अशान्ति हो तो इसे इससे निकलने की इच्छा हो सकती है। परन्तु जब ऐसा समय आता है कि इसे उस भँवर में से निकलने की तीव्र इच्छा प्रकट होती है तो किसी सहायक की खोज होने लगती है। उस समय गुरुरूप कर्णधार की शरण लेने से इसका उद्धार हो सकता है। इस विषय में भक्तशिरोमणि श्री गोस्वामीजी कह गये हैं—

'तुलसिदास हरि गुरु करुणा बिनु, बिमल बिवेक न होई।
बिनु बिवेक संसार घोर निधि, पार न पावै कोई॥'

गुरुदेव के सत्सङ्ग और उनके वाक्य पर पूर्ण विश्वास होने से भगवान् से प्रेम और विषयों से वैराग्य होता है। फिर हृदय में निर्मलता बढ़ती जाती है। धीरे-धीरे हृदयरूपी जलाशय के स्थिर होने से आनन्द की झलक पड़ने लगती है, फिर प्यारे से मिलन होने लगता है। उन्हें कहीं अन्यत्र खोजने की आवश्यकता नहीं है, वे तो अपने भीतर ही छिपे बैठे हैं गुरुदेव उनको दिखा देते हैं,

इसीलिये तो गुरुदेव गोविन्द से भी बड़े हैं, क्योंकि गोविन्द अपने को छिपाते हैं और गुरु उनको प्रकट कराते हैं। गुरु के सहारे जब प्रेम-पथिक भगवान् की ओर कटिबद्ध होता है, सब चिन्ताएँ छोड़कर बस श्यामसुन्दर की खोज में तत्पर हो जाता है, तो फिर वे छिपे नहीं रह सकते। लगन चाहिये, विह्वलता चाहिये। जैसे डूबते हुए को श्वासभर वायु की इच्छा होती है, ऐसे ही जब सब पदार्थों से हटकर उनके वियोग में चित्त विह्वल हो जाता है, तब कहीं उनकी झलक दिखायी पड़ती है।

प्रेममार्ग ज्ञानमार्ग की अपेक्षा सरस एवं सुमधुर है। इसमें बुद्धि की तीव्रता और बाल की खाल निकालने की आवश्यकता नहीं। केवल हृदय शुद्ध और कोमल होना चाहिये। विशाल भी ऐसा हो कि उसमें विश्वप्रेम समा सके। भक्त के लिये तो समस्त जगत् भगवान् का स्वरूप ही है, जैसा कि कहा है—

'सीय राममय सब जग जानी।'

लीला और धाम

१. भगवान् श्रीकृष्ण ने माखन चुराकर खाया, उन्होंने गोपियों के साथ रासलीला की—उनकी इन लीलाओं का रहस्य प्रत्येक मनुष्य नहीं समझ सकता। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

'यह चरित्र जानहिं मुनि ज्ञानी। जिन रघुवीर चरणरति मानी ॥'

२. भगवान् श्रीकृष्ण लीलापुरुषोत्तम हैं। उनकी बड़ी ही अलौकिक और दिव्य लीलाएँ हुआ करती हैं। उन्हें कोई विरले भाग्यवान् प्रेमीजन ही देख पाते हैं। वे भगवान् हमारे पास भी बैठे हुए हैं, परन्तु हमारे पापों के कारण हमें दीखते नहीं। भगवान कहते हैं 'मैं तो भक्तों का ऋणी हूँ। सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य आदि मुक्तियाँ तो उन्हें मैं ब्याज में दे देता हूँ। उनका मूल तो मेरे पास जमा ही रहता है। किन्तु वे प्रेमी भक्त इन चारों मुक्तियों को मेरे द्वारा दिये जाने पर भी स्वीकार नहीं करते'—

'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना. ॥'

३. श्री रघुनाथजी के चरित्र में शंका मत करो, इस सम्बन्ध में कुछ भी न कहो। वे जो कुछ करते हैं, ठीक ही करते हैं। बेठीक कर ही नहीं सकते। श्री रघुनाथजी को जब हम ईश्वर समझ चुके हैं तो उनके कार्यों में तर्क करने को क्या आवश्यकता है। महान् पुरुष जो करते हैं उसे आदर्शरूप नहीं मानना चाहिये। उनके उपदेश को आदर्श मानना चाहिये।

४. 'काशीमरणान्मुक्तिः' इस शास्त्र-वाक्य में कोई सन्देह नहीं—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥

ये सब भगवान् के धाम हैं। इन धामों में रहकर
से अवश्य मुक्ति होगी। यदि धाम-महत्व न हो
मानेगा ? काशी, वृन्दावन, गङ्गा, यमुना आदि स
धाम हैं।

५. रासलीला नित्यलीला है। वह एक क्षण के
बन्द नहीं होती। किन्तु उसे सब देख नहीं सकते हैं
दिव्य दृष्टि होती है वे ही देख सकते हैं।

६. भगवान् श्रीकृष्ण की माखनचोरी लीला अथ
हरण लीला तो ऐसी ही है जैसी आज-कल के एक छोटे
छः वर्ष के बच्चे की हो। भगवान् कुछ चपल थे। आज भी
खाने-पीने की चीजों को अपने और अपने अन्य मित्रों के
में से चपलतापूर्वक निकाल कर खा-पी जाते हैं। उनका यह
क्या चोरी की सज़ा पाने योग्य समझा जाता है ? यह बालक
चपलता ही है तथा चपल बालक अपने माता-पिता एवं अ
सब लोगों को भी अच्छा ही लगता है। चीरहरण लीला आ
भी ऐसी ही हैं। इनमें दोष देखनेवालों को कम से कम उ
समय की भगवान् की आयु का ध्यान तो रखना ही चाहिये
क्या पाँच वर्ष की अवस्था के बालक के ऐसे कार्य दण्डनीय
समझे जाते हैं ?

७. इसी प्रकार यदि उन्हें केवल मनुष्य या योगिराज मानें
तो भी उनकी इन लीलाओं में किसी प्रकार का दोष देखना
उचित नहीं है। योगियों को कौन सिद्धि प्राप्त नहीं होती ? फिर
भी क्या वे किसी बुरी नीयत से माखन-मिसरी चुराकर खायेंगे ?
अथवा किसी दूषित विचार से कुमारी कन्याओं के वस्त्र उठाकर
ले जायेंगे और माँगने पर उन्हें तत्काल दे देंगे ?
साक्षात् परब्रह्म समझो तब तो

हो ही क्या सकता है ? ऐसी अवस्था में उनसे भिन्न है ही कौन, जिसकी वे चीज चुरायेंगे ? तब तो सब चीजें उन्हीं की होंगी और वे अपनी चीजों की यथोचित व्यवस्था करेंगे। जिस दृष्टि से भी देखें, भगवान् कृष्ण के चरित्र में कोई दोष दिखायी नहीं देता। परन्तु उनका महत्व और वास्तविकता ही किसी की समझ में आना कठिन है। जब साधारण खिलाड़ी भी रङ्गभूमि पर आकर अपनी वास्तविकता को ऐसा छिपाता है कि वह किसी पर प्रकट ही नहीं होती तो फिर जब साक्षात् विश्वेश्वर लीला करने लगें तो उन्हें कौन पहचान सकता है ? अभी की बात है, जब पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जीवित थे तो बंगाल के एक प्रसिद्ध नाट्यकार ने उन्हें एक नाटक देखने के लिये आमन्त्रित किया। परन्तु विद्यासागर जी समयाभाव के कारण उनका अभिनय देखने के लिये नहीं जा सके। एक दिन उन्हें समय मिला और वे नाटक देखने के लिये गये तो उस दिन 'नील के व्यापार का नाश' इस नाटक का अभिनय दिखाया जा रहा था। विद्यासागरजी एक ऊँचे दर्जे में बैठे खेल देख रहे थे। उन्होंने देखा कि एक गोरा नील की खेती करनेवाले एक भारतीय किसान की स्त्री पर अत्याचार कर रहा है। बस, यह देखकर वे ऐसे उत्तेजित हुए कि उन्होंने अपनी चप्पल पैर से निकालकर उस गोरे पर खींच मारी। सब लोग देखते के देखते रह गये। परन्तु नाट्यकार ने झट मञ्च पर खड़े होकर अपने अभिनय की सराहना की कि आज मेरा अभिनय दिखाना सफल हुआ जो विद्यासागर-जैसे महान् पुरुष को भी यह लीला सच्ची घटना जान पड़ी। यह अवस्था तो हमारे चतुर अभिनयकर्ताओं की है। फिर भला जब स्वयं जगदीश्वर एक बच्चे का अभिनय करने के लिये संसार में आवें और साधारण सांसारिक पुरुष उनको

धान्तविकता को पहचान लें तो उनका अभिनय कच्चा ही कहलायेगा। इसलिये हर किसी की समझ में उनकी लीला नहीं आ सकती।

८. जो लोग श्रीकृष्णचन्द्र की लीलाओं का आध्यात्मिक अर्थ लगाते हैं और कहते हैं कि 'उन्होंने वस्त्रहरण नहीं किया, किन्तु भक्तों के मन को चुराया था, माखन नहीं चुराया किन्तु यह चुराया' ऐसा कहकर उन मधुरलीलाओं को केवल रूपकमात्र सिद्ध करते हैं, उनका यह मत यथार्थ नहीं कहा जा सकता क्योंकि वेदों और दर्शनों के पारगामी, महान् पण्डित भगवान् व्यासजी कोई कच्ची बुद्धि के बच्चे नहीं थे, जो मन चुराने की बात को सीधे-सीधे न लिखकर लोगों को भ्रम में डालते। क्या उन्होंने भक्तों का मन चुराने की बात नहीं लिखी ? फिर इसी जगह ये उसे इस प्रकार क्यों दिखाते ? यह झूठा अध्यात्मवाद भक्तों को अच्छा नहीं लगता, वरन् उनके कोमल चित्त को ठेस पहुँचाता है।

९. रामलीला आदि देखने का अधिकारी वही हो सकता है, जिसने अपने चित्त को लीन करके उस पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली हो,अन्यथा उसमें लौकिक बुद्धि हुए बिना नहीं रह सकती।

१० जो दिव्य वृन्दावन है वह तो महापुरुषों को ही दीख पड़ता है। सामान्य पुरुष उसे कुछ नहीं जान सकते।

११ राधा और कृष्ण दोनों ही चिन्मय हैं। वस्तुतः ये दो नहीं, एक ही तत्त्व हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा और उसकी किरण दो नहीं, एक ही वस्तु हैं, उसी प्रकार राधा-कृष्ण भी एक ही चिन्मय तत्त्व हैं। केवल लीलारस के प्राकट्य के लिये ये दो हो जाते हैं।

१२ उपास्य देवविग्रह में तीन प्रकार की दृष्टियाँ होती हैं— लौकिक, शास्त्रीय और दैवी। (१) यह पत्थर है—इसे लौकिक दृष्टि

कहते हैं। (२) यह भगवान् का स्वरूप है—इसका नाम शास्त्रीय दृष्टि है। (३) यह साक्षात् चिन्मय है—इसको दैवी दृष्टि कहते हैं। इसी प्रकार स्त्री में भी यह अस्थि-मांस का थैला है—इसे लौकिक दृष्टि समझना चाहिये।

१३. व्रजवास तीन प्रकार से होता है—शरीर से, वाणी से और मन से। पहले तो शरीर व्रज में रहना चाहिये। फिर वाणी द्वारा व्रजरस का आस्वादन किया जाय। महावाणी अथवा अष्ट सखा या अन्य व्रजरसिकों के पदों का गान और आस्वादन वाणी से व्रजवास करना है; तथा मन भी व्रज में ही लगा रहे—यह मन से व्रज में रहना है। यदि कोई तीनों प्रकार का व्रजवास करे तो अति उत्तम है।

१४. भक्त को भगवान् का प्रसाद सर्वदा पाना चाहिये। उसमें ऐसा विचार कभी नहीं करना चाहिये कि वह रोटी है या पूड़ी अथवा अच्छा है या बुरा। यदि ऐसा विचार रहेगा तो भक्त को इस जन्म में तो भक्ति या प्रेम प्राप्त हो नहीं सकेगा। प्रसाद में विशुद्ध प्रसादबुद्धि ही रहनी चाहिये। जैसा कहा है—

'जगन्नाथ का भात। जगत पसारे हाथ॥'

१५. श्री वृन्दावन तो नित्य-और चिन्मय धाम है। जो जीव वृन्दावन में पहुँच जाता है वह नित्यानन्द में मस्त रहता है तथा श्री सरकार के नित्यलीलास्वरूप रास का सुख भोगता है। परन्तु इस वृन्दावन तक तो सिद्ध पुरुषों की ही पहुँच होती है। साधक का वहाँ प्रवेश नहीं है। साधक के लिये तो यही अच्छा है कि कुछ दिनों तक वृन्दावन में रहे और दर्शन करके लौट आवे। साधक और सब तीर्थों में तो रह सकता है, किन्तु वृन्दा-वन में रहना कठिन है। इसका कारण यह है कि वृन्दावन के चारों

और सत्त्व, रज और तमोगुण की तीन खाइयाँ बहुत चौड़ी हैं। वृन्दावन जाने वाले अधिकांश यात्री इनमें से ही किसी खाई में पड़े रहते हैं। असली वृन्दावन तक तो उनकी पहुँच ही नहीं होती। जो इन तीनों गुणों को पार कर लेता है वह त्रिगुणातीत पुरुष ही उस दिव्य वृन्दावन में पहुँच सकता है। वृन्दावन में आज भी ऐसे सिद्ध पुरुष हैं जो निरन्तर नित्यधाम के आनन्द में ही डूबे रहते हैं और छः छः महीने तक श्री बाँकेबिहारीजी के दर्शनों को भी नहीं जा पाते।

१६. खाँड़ के खिलौने के प्रत्येक अङ्ग में परिपूर्ण रूप से खाँड़ मौजूद है। इसी प्रकार इष्ट मूर्ति के प्रत्येक अङ्ग में चिदानन्द परिपूर्ण रूप से विद्यमान है।

ज्ञान-खण्ड

(३)

गुरु और शिष्य

प्र०—लक्ष्यप्राप्ति के लिये गुरु की आवश्यकता है या नहीं।

उ०—सद्‌गुरु की आवश्यकता जरूर है। यदि लौकिक गुरु में पूर्ण श्रद्धा न हो तो वसिष्ठादि को गुरु मानना चाहिये। उनमें विश्वास होने से वे स्वप्न में उपदेश दे देंगे। परन्तु यह है कठिन इसलिये लौकिक गुरु करने की आवश्यकता है ही।

प्र०—सद्‌गुरु किसे मानना चाहिये ?

उ०—इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि इसका चुनाव अपनी-अपनी रुचि के अनुसार होता है और यदि कोई कह भी दे तो उस पर विश्वास कौन करेगा।

प्र०—तो महाराजजी, फिर सद्‌गुरु की प्राप्ति के लिये उपाय क्या करना चाहिये।

उ०—तपस्या, अर्थात् ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये।

प्र०—सद्‌गुरु के लक्षण बतलाने की कृपा कीजिये।

उ०—जिसका नाम सुनने से, जिसके दर्शन से, जिसके वचन सुनने से भगवत्स्मृति हो और विलक्षण आनन्द हो उसको

गुरु समझना चाहिये। दूसरा लक्षण है, जो कामिनी-कांचन का त्यागी हो और दैवी सम्पत्ति से युक्त हो। इनमें पहला लक्षण मुख्य है। गुरु को समझने की तो शिष्य में सामर्थ्य नहीं है, इसलिये जहाँ तक बन पड़े उपर्युक्त गुणोंवाले महात्मा को ही गुरु मानना चाहिये। यदि एक से काम न बने तो दूसरा गुरु भी कर सकते हैं।

× × ×

प्र०—शिष्य के प्रधान लक्षण क्या हैं ?

उ०—शिष्य में पहला लक्षण यह होना चाहिये कि वह अमानी और श्रद्धालु हो। जब तक अमानी नहीं होगा तब तक तो वह शिष्य हो ही नहीं सकता। इसके सिवा उसे मत्सररहित, गुरु में दृढ़ अनुराग रखनेवाला, जल्दबाजी से रहित और सत्य-वादी होना चाहिये। कम से कम उसका श्रद्धालु और अमानी होना तो परम आवश्यक है।

प्र०—शिष्य कैसा होना चाहिये ?

उ०—जो पाप से डरता हो, झूठ न बोलता हो, हठी न हो, सात्विक प्रकृति का हो, जिसे गुरु में पूर्ण अनुराग हो और गुरुवाक्य में पूर्ण श्रद्धा हो। शिष्य में उद्दण्डता नहीं होनी चाहिये क्योंकि उद्दण्ड व्यक्ति को सद्गुरु स्वीकार नहीं करते।

प्र०—गृहस्थ शिष्य को क्या करना चाहिये?

उ०—गृहस्थाश्रम में रहते हुए पहले तो क्रोध का त्याग करना चाहिये। गृहस्थ हो या विरक्त, जहाँ क्रोध आया कि किया हुआ साधन नष्ट हुआ। सहनशक्ति अवश्य होनी चाहिये। इसकी

कमी होने से ही भजन में आनन्द नहीं आता। जब तक पाप से भय नहीं होता तब तक तो भजन भी लोक-दिखाऊ ही रहता है। ऐसे व्यक्ति से असली भजन नहीं हो सकता। एक व्यक्ति वेदान्त का उपदेश तो बहुत देता था, परन्तु जिस किसी से भी रुपये लेता उसे कभी वापस नहीं देता था। ऐसे केवल कथन करने वालों को कोई लाभ नहीं हो सकता।

१, गुरु तीन बनाने आवश्यक हैं—(१) विद्या-गुरु, (२) दीक्षा-गुरु, और (३) शिक्षा-गुरु अर्थात् सद्गुरु।

२. भगवान में तो श्रद्धा हो जाती है, परन्तु गुरु में श्रद्धा होनी बहुत कठिन है। लाखों मनुष्यों में कोई एक ही होगा, जो गुरु में कुछ भी दोष न देखेगा। किन्तु जब तक गुरु में श्रद्धा नहीं होगी तब तक कुछ नहीं होगा।

३. गुरु में जब तक भगवद्बुद्धि नहीं की जाती, तब तक संसारसागर से पार नहीं हुआ जा सकता। गुरु में मनुष्यबुद्धि होना ही पाप है। गुरु और भगवान् में बिलकुल भेद नहीं है यही मानना कल्याणकारी है और इसी भाव से भगवान् मिलते हैं—

'भक्ति, भक्त, भगवन्त, गुरु, चतुर नाम वपु एक।
इनके पद वन्दन किये, नासहिं विघ्न अनेक॥'

४. शिष्य वही जो गुरु को सर्वस्व अर्पण कर दे और गुरु वही है जो शिष्य से कुछ भी न ले—

'शिष्य तो ऐसा चाहिये, जो गुरु को सब कुछ देय।
गुरु भी ऐसा चाहिये, जो कौड़ी हू ना लेय॥'

यह बात छत्रपति महाराज शिवाजी और समर्थ गुरु रामदासजी में घटती है। शिवाजी महाराज ने रामदासजी को सब कुछ दे दिया, किन्तु रामदासजी ने कुछ भी नहीं लिया।

५. शास्त्र देखते-देखते तुम्हारा जन्म नष्ट हो जायगा, समझते-समझते तुम्हारा जीवन समाप्त हो जायगा, परन्तु हाथ कुछ न लगेगा। इसलिये गुरु के वचनों में विश्वास करके शास्त्रानुसार साधना करो।

६. विचार की उत्पत्ति गुरुसेवा से होती है। जैसे भृङ्गी का ध्यान करते-करते कीड़ा तद्रूप हो जाता है, इसी प्रकार गुरु की सेवा में तत्पर रहने से शिष्य में गुरु के गुण आ जाते हैं।

७. कुतर्कियों को भगवान् त्रिकाल में भी नहीं मिलेंगे। भगवान् से मिलने का एकमात्र उपाय श्रद्धा ही है। जब तक शिष्य यह न समझ ले कि गुरु ही मेरा सर्वस्व है तब तक शिष्य का कल्याण नहीं हो सकता।

८. यदि मनुष्य को प्रेमी, निःस्वार्थी, उदार-प्रकृति, निरभिमान, श्रोत्रिय और भगवन्निष्ठ गुरु प्राप्त हो तो उनके ही चरणकमलों में आत्मसमर्पण कर देना उसका मुख्य कर्तव्य है।

९. गुरुभक्ति और गुरुदत्त साधन में आसक्ति न होने से शिष्य की उन्नति होनी असम्भव है।

१०. गुरु और ईश्वर की कृपा प्राप्त किया हुआ भक्त भी प्रारब्धवश श्रद्धाहीन, दुर्बुद्धि या अभिमानी होने से उनकी कृपा से वञ्चित हो जाता है।

११. रामचन्द्र के निकट लक्ष्मण की तरह गुरु के समीप निरभिमान होना चाहिये। स्वाधीनता का परित्याग कर गुरु के अधीन होना चाहिये। गुरु के प्रति अविचल श्रद्धा रखकर निष्कपट प्रेमपूर्वक तन, मन, धन से सेवा करनी चाहिये। ऐसे प्रेमी भक्त को गुरुकृपा शीघ्र प्राप्त होती है।

१२. शास्त्र दवाखाना है और गुरु वैद्य हैं। वे जैसा रोग देखते हैं वैसी दवा (शास्त्रोक्त साधन) दे देते हैं। यहाँ यह तर्क नहीं करना चाहिये कि इस दवा को हम क्यों खायें। आज-कल लोग डाक्टर से तो तर्क नहीं करते, किन्तु गुरु से करते हैं। परन्तु कम से कम डाक्टर से तो गुरु को बड़ा ही समझना चाहिये। गुरु से तर्क करनेवाला तो मन्दबुद्धि है।

१३. उत्तम शिष्य चिन्तन करने से ही गुरु की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं, मध्यम शिष्य दर्शन करने से और निकृष्ट शिष्य प्रश्न करने से शक्ति प्राप्त करते हैं। हमारे यहाँ गुरु से प्रश्न करने की आवश्यकता नहीं मानी जाती। गुरु की सेवा करे और उनका चिन्तन करे। जब गुरु में अनुराग है—गुरु हमारे हैं, तो उनके गुण हमारे हैं ही।

१४. अपने मन और बुद्धि गुरु को बेच दो। वे जैसा कहें वैसा ही करो।

१५. आजकल लोग गुरुसेवा तो करते नहीं, फिर भी चाहते हैं कि हमें विद्या आ जाय। ऐसा भला कैसे हो सकता है? गुरुसेवा के बिना तो कुछ भी नहीं सीखा जा सकता। पहले समय में लोग इतने पढ़ते नहीं थे, जितनी गुरुसेवा करते थे। इसी से उन्हें सब प्रकार की विद्या प्राप्त हो जाती थी। आज-कल के बड़े से बड़े पढ़े-लिखे भी उन गुरुसेवकों के सामने कुछ नहीं हैं। उन्हें गुरुसेवा से जो चीज मिलती थी वह इन्हें प्राप्त नहीं हो सकती। गुरु के आशीर्वाद से ही उन्हें सब कुछ प्राप्त हो जाता था।

१६. जिस दिन भक्त गुरु की शरण में जाता है उस दिन उसे नया जन्म प्राप्त होता है।

१७. गुरु का शरीर आकाश के समान है। जिस प्रकार आकाश सर्वत्र है, वैसे ही गुरुदेव भी सर्वत्र विद्यमान हैं। वास्तव में तो गुरु का शरीर आकाश से भी परे है, आकाश भी गुरुदेव के शरीर में स्थित है।

१८. आजकल शिष्य की गुरु में ईश्वर-भावना दृढ़ नहीं होती, इसीसे उसे गुरु के सिवा किसी अन्य इष्ट की आवश्यकता होती है। यदि शिष्य की गुरु में सुदृढ़ ईश्वर-भावना हो तो उसे ईश्वरोपासना की भी आवश्यकता नहीं होगी, गुरु की सेवा से ही उसे ईश्वर की प्राप्ति हो जायगी।

१९. गुरु के प्रसन्न होने पर शिष्य गुरु के समान हो जाता है। गुरु धन से, भोजन से या सेवा से प्रसन्न नहीं होते, वे तो केवल आज्ञापालन में तत्पर होने से ही प्रसन्न होते हैं और इसी से शिष्य योग्य बन सकता है।

२०. यदि स्नान के समय गुरुदेव के चरणकमलों का स्मरण करके सिर पर जल डाला जाय तो सम्पूर्ण तीर्थों में स्नान करने का फल प्राप्त हो जाता है—

'सर्वतीर्थावगाहस्य सम्प्राप्नोति फलं नरः।
गुरोः पादाम्बुजौ स्मृत्वा जल शिरसि धारयेत् ॥'

२१. बङ्गाल में तो गुरु को ईश्वर से भी बढ़कर मानते हैं, क्योंकि ईश्वर ने तो जीव को संसार में फँसाया और गुरु संसार से निकालते हैं। अतः गुरु की बराबरी ईश्वर भी नहीं कर सकता। यह बहुत ऊँचा भाव है।

२२. भगवत्प्राप्ति तो आत्मसमर्पण करने पर ही होती है। किसी आदर्श पुरुष के अनुगामी बनो, उसके शरण हो जाओ तभी भगवत्प्राप्ति होगी।

२३. परमतत्त्व का पता गुरुकृपा से लगता है और गुरुकृपा होती है गुरुदेव की भक्ति से। गुरुदेव को छोड़कर साधन के विषय में किसी से कुछ पूछने की आवश्यकता नहीं है। गुरुकृपा से ही वैराग्य हो जाता है और सच्चे मार्ग का पता भी लग जाता है। गुरुदेव स्वयं तरने की और शिष्य को तारने की शक्ति रखते हैं। वे उसे मनुष्य से देवता बना देते हैं।

२४. गुरुदेव अनेक प्रकार के साधन मार्ग का निरूपण किया करते हैं। अतः एक प्रसङ्ग की बात दूसरे प्रसङ्ग में जोड़ने से शङ्का हो जाया करती है। इसी से गुरु की सन्निधि की अधिक से अधिक आवश्यकता है।

२५. गुरु विचारवान् होना चाहिये। वह बुरे आचरण को त्यागनेवाला, भगवान् का प्रेमी और शास्त्रज्ञ होना चाहिये। शिष्य को चाहिये कि गुरु को साक्षात् भगवान् समझे और निष्कपट भाव से उनके पास जाय। यदि उनमें विश्वास न हो तो उनके पास न जाय।

२६. गुरु के पास जाकर इन सोलह धर्मों को सीखे—

(१) ब्रह्मचर्य का साधन क्या है ?
(२) अहिंसा क्या है ?
(३) सुख-दुःख में समान कैसे रहें ?
(४) परमात्मा का सर्वत्र दर्शन कैसे हो ?
(५) कैवल्य वस्तु क्या है ?
(६) जङ्गल में एकान्त में कैसे रहा जाता है ?
(७) अपरिग्रह कैसे हो ?
(८) सन्तोषी कैसे होना चाहिये ?
(९) भगवान् और शास्त्र में प्रीति कैसे हो ?

(१०) निद्रा का त्याग कैसे हो ?

(११) मनोदण्ड, वाग्दण्ड, कर्मदण्ड तथा शम-दम क्या चीज हैं ?

(१२) भगवान् का ध्यान कैसे हो ?

(१३) भगवान् का श्रवण-कीर्तन कैसे किया जाय ?

(१४) स्त्री, पुत्र, गृह एवं सम्पत्ति भगवान् को कैसे अर्पण किये जाते हैं ?

(१५) कृष्णभक्त में प्रेम कैसे किया जाता है ?

(१६) भगवान्, भक्त और वृद्ध पुरुषों की सेवा कैसे की जाती है ?

उपर्युक्त सोलह प्रश्नों के उत्तर इस प्रकार हैं—

(१) प्रतिज्ञा ही ब्रह्मचर्य का मुख्य साधन है। इसके सिवा विषयी पुरुषों के सङ्ग का त्याग, कामोद्दीपक ग्रन्थों के पाठ और श्रवण से दूर रहना तथा स्त्रियों के दर्शन, स्मरण, स्पर्श एवं भाषणादि से बचना भी इसमें सहायक हैं।

(२) मन, वाणी और कर्म से किसी को दुःख न देना ही अहिंसा है।

(३) भगवत्-शरणागत होकर जो काम किया जाता है उसके परिणाम में प्राप्त होनेवाले सुख-दुःख में सम-बुद्धि रहती है।

(४) भगवान् में आसक्ति होने से सर्वत्र भगवान् के दर्शन होते हैं।

(५) तत्त्वज्ञान ही कैवल्यमोक्ष है।

(६) भजन में आसक्ति होने पर ही एकान्त में रहा जा सकता है।

(७) वासनाओं में कमी होने से अपरिग्रह होता है।

(८) भगवान् के ऊपर निर्भर रहने से मनुष्य सन्तोषी हो सकता है।

(९) भगवान् और भगवद्भक्तों की कृपा होने से भगवान् और शास्त्र में प्रीति हो सकती है।

(१०) भजन में अधिक प्रेम होने से निद्रा का त्याग हो सकता है।

(११) मन, वाणी और कर्मेन्द्रियों की प्रवृत्ति पर अपना पूर्ण अधिकार रहना ही मनोदण्ड, वाग्दण्ड और कर्मदण्ड है तथा मन और इन्द्रियों के संयम को ही क्रमशः शम और दम कहते हैं।

(१२) निरन्तर चिन्तन करते रहने से भगवान् का ध्यान होता है।

(१३) भगवद्भक्तों के सङ्ग से और उनमें प्रेम होने से भगवान् का श्रवण कीर्तन होता रहता है।

(१४) ये स्त्री-पुत्रादि सब भगवान् के ही हैं—ऐसा भाव दृढ़ होने से ये भगवान् को अर्पित हो जाते हैं।

(१५) श्रीकृष्ण की कृपा होने से ही कृष्णभक्त में प्रेम होता है।

(१६) भगवान् की कृपा होने पर ही सेवा हो सकती है।

२७. गुरु का बिछौना, पीने का जल, खड़ाऊँ, बैठने की वेदी, स्नान का जल और गुरु की छाया को लाँघना तथा गुरु के समान ही दूसरों को मन्त्र या उपदेश देना एवं अपने को बड़ा मानना सर्वदा वर्जित है।

२८. भक्त के लिये गुरु-आज्ञा ही भक्ति का मार्ग दिखानेवाली और चित्त को शान्त करनेवाली है।

२९. गुरु की चार बातें नहीं देखनी चाहिये—ऐश्वर्य, व्यवहार, स्वार्थ और ज्ञान। ये चार बातें समालोचक लोग ही देखा करते हैं। सारा संसार इन्हीं में तो फँसा हुआ है।

३०. शिष्य तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम (१) जो गुरु का अभिप्राय समझकर आज्ञा की प्रतीक्षा किये बिना ही उनकी सेवा करते हैं वे उत्तम शिष्य हैं। (२) जो आज्ञा पाने पर कार्य करते हैं वे मध्यम शिष्य हैं। (३) जो गुरु का अभिप्राय समझकर अथवा उनकी आज्ञा पाकर भी उनकी इच्छानुसार आचरण नहीं करते वे अधम शिष्य हैं।

३१. गुरु की महिमा भगवान् की महिमा से भी बढ़कर है, गुरुकृपा से ही भगवान् की प्राप्ति होती है। शास्त्रों में भगवन्नाम की बड़ी महिमा बतलायी है। यहाँ तक कि स्वयं भगवान् भी भगवन्नाम की महिमा नहीं जानते। इसी प्रकार गुरुमहिमा का पता स्वयं गुरुदेव को भी नहीं होता। केवल शिष्य ही गुरुकृपा से गुरुमहिमा का कुछ अनुभव कर सकता है। गुरुकृपा से कुछ उपदेश ग्रहण करके शिष्य संसार-सागर को पार कर लेता है; अतः संसार में मानव-शरीर पाकर जीव का सबसे बड़ा कर्त्तव्य गुरु-कृपा प्राप्त करना है।

३२. गुरुदेव की सेवा करते हुए कभी-कभी उनकी आज्ञा न मानना भी शास्त्रविहित होता है। जब गुरुदेव सेवा करने को मना करें तो सेवा छोड़ देना ठीक नहीं। उनसे बार-बार प्रार्थना करके सेवा की अनुमति प्राप्त कर लेनी चाहिये। कई बार गुरुदेव इस प्रकार मना करके शिष्य के भाव की परीक्षा किया करते हैं। जिस शिष्य से सेवा किये बिना रहा नहीं जाता और जो सेवा न मिलने पर व्याकुल हो उठता है, उसे गुरुदेव

सेवा करने को कभी मना नहीं करते। अतः यदि किसी समय गुरुदेव सेवा करने के लिये मना करने लगें तो अपनी श्रद्धा की कमी मानकर पश्चात्ताप करो और रोओ। गुरुदेव तो कृपा करके ही तुम्हें सेवा करने को मना किया करते हैं, क्योंकि ऐसा करके वे सेवा में तुम्हारी श्रद्धा बढ़ाते हैं। गुरु के प्रति सर्वदा ऐसा दृढ़ भाव रखो कि वे सब कुछ हमारे हित के लिये ही करते हैं। उनका मना करना भी हमारे लाभ के लिये ही है तथा उनकी सेवा, पूजा, स्नान अथवा भोजनादि के समय उनकी आज्ञा न मानना भी आज्ञापालन के समान ही है।

३३. गुरु की आज्ञा शास्त्राज्ञा से भी बढ़कर है। गुरुदेव की आज्ञा से यदि कोई शास्त्रविरुद्ध कर्म भी करना पड़े तो भी पाप नहीं होता।

३४. गुरु में विश्वास, गुरुमन्त्र में श्रद्धा और निरन्तर इष्ट-चिन्तन—इन तीन साधनों से प्रेम होता है। पहले नियमपूर्वक करता रहे, नियम से लगे रहने पर भी प्रेम होता है।

३५. गुरुदेव पहले सिद्धान्त बताते हैं और फिर साधन। इसका कारण यह है कि यदि सिद्धान्त स्थिर हो जायगा तो साधक बीच में आने वाले किसी विघ्न या प्रलोभन में नहीं फँसेगा।

३६. तत्त्ववेत्ता महात्मा या गुरुदेव को भी कोई उपासक ही पहचान सकता है, विषयी पुरुष तो उन्हें साधारण मनुष्य ही समझता है। जैसे उपासक ही अपने उपास्यदेव के वास्तविक चिन्मय स्वरूप का अनुभव कर सकता है।

३७. गुरुकृपा चार प्रकार से होती है—(१) गुरुदेव शिष्य के शरीर को स्पर्श करदें। (२) दृष्टि से देख दें। (३) सेवा के

लिये शिष्य को आज्ञा दे दें। (४) शिष्य की कोई वस्तु ग्रहण कर लें।

३८. गुरुदेव को साष्टाङ्ग दण्डवत् करने से माथे में जो धूलि लगती है, उसमें जितने कण होते हैं उतने ही जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं। उस धूलि को जो हाथ से झाड़ देता है वह पाप का भागी होता है।

३९. जो शिष्य गुरुदेव के रुष्ट होने पर भी प्रसन्नतापूर्वक उनकी सेवा में लगा रहता है उसे ही सच्चा भक्त या सेवक समझना चाहिये। गुरु या महात्मा के प्रसन्न होने पर तो सभी को प्रसन्नता होती है। किन्तु जो असली सेवक हैं वे तो डाँट-फटकार लगने पर भी सन्तसेवा के सौभाग्य से अपने को वंचित नहीं करना चाहते। उस समय भी वे बड़ी तत्परता और प्रसन्नता से उनकी सेवा-सुश्रूषा में लगे रहते हैं।

४०. शिष्य में मुख्यतया ये बातें अवश्य होनी चाहिये—(१) दुर्व्यसनों का त्याग, (२) सत्पुरुषों के संग में रुचि, (३) दया, (४) मैत्री, (५) नम्रता, (६) शास्त्रोचित व्यवहार, (७) पवित्रता, (८) तपस्या, (९) सहनशीलता, (१०) मितभाषण, (११) स्वाध्यायशीलता और (१२) सहनशीलता।

४१. मनुष्य सर्वदा सुख चाहता है; किन्तु स्त्री, पुत्र और धन आदि में प्रेम होने से सर्वदा दुःख में ही लवलीन रहता है। पूर्व पुण्य के प्रभाव से सद्गुरु प्राप्त होने पर वह भगवत्प्राप्ति के मार्ग का पथिक बनता है। गुरुवाक्य और सत् शास्त्र में विश्वास होना ही परम लाभ है।

विरक्त के लिये

प्र०—महाराजजी त्यागी कौन है ?

उ०—जो परमात्मा में चित्त लगाता है वही त्यागी है। जो काम छोड़कर खाली सोता रहता है उसका नाम त्यागी नहीं है; वह तो आलसी है ।

प्र०—कुछ सन्त कहा करते हैं कि हम तो अपने प्रारब्धानुसार ही भोग भोगते हैं । यदि ऐसी ही बात है तो दाता को उसके दान का कोई पुण्य होता है या नहीं ?

उ०—ठीक है, महात्मा का भोग तो अवश्य उसके प्रारब्धाधीन ही है; परन्तु दाता की श्रद्धा तो महात्मा का प्रारब्ध नहीं है। इसलिये अपनी श्रद्धा के प्रभाव से दाता को उसके दान का पुण्य अवश्य होगा।

× × ×

१. रोटी के सिवा कुछ न माँगे, चाहे मर जाय।

२. जितना हो सके तितिक्षा करे, सहन करे।

३. कोई कितना ही दुःख दे, आनन्दपूर्वक सहन करे।

४. संसार से वैराग्य और साधन से प्रेम करे।

५. किसी को औषधि आदि न बतावे।

६. कितना भी चमत्कार हो, अपने लक्ष्य से न हटे।

७. कामिनी और काञ्चन का सम्बन्ध न करे।

८. स्त्री और उसके संगियों का त्याग करे।

९. स्त्री को देखते ही ऐसा विचारे कि यह मल-मूत्र का थैला है और मन से उसको चीर कर देखे। ऐसा करने से काम-विकार नहीं होगा। (ऐसा ही स्त्री पुरुष के लिये समझे)।

१०. किसी प्रकार का नशा न करे।

११. व्यर्थ प्रलाप का सर्वथा त्याग करे।

१२. सारा संसार तुम्हे मोहने को तैयार है। तुमको संसार से युद्ध करना है। संसार एक ओर है और तुम दूसरी ओर।

१३. साधन से एक मिनट खाली रहना पाप है।

१४. तुम्हारा चित्त जितना भगवान् में लगेगा उतनी ही तुम्हारी शक्ति बढ़ेगी।

१५. संसार-चिन्तन से तुम जितने ही उपराम होगे, संसार तुमसे उतना ही अधिक प्रेम करेगा।

१६. जब भगवान् से पूर्ण प्रेम होगा तो संसार तुम्हारे अधीन हो जायगा।

१७. विरक्त साधु को न तो भिक्षा की चिन्ता करनी चाहिये और न संकल्प करके किसी खास दरवाजे पर ही जाना चाहिये। स्वाभाविक रूप मे जहाँ कहीं भी रोटी मिले ले लेनी चाहिये। तत्त्वदर्शी साधु चारो वर्णों के यहाँ से रोटी ले सकता है, किन्तु अछूतों के यहाँ से उसे रोटी नहीं लेनी चाहिये।

१८. अछूत तो वे ही हैं जिनका जीवन व्यभिचारमय बीतता है। भोगरत प्राणी ही अछूत हैं। उनके स्पर्शमात्र से अपवित्रता का संचार हो जाता है। उनसे बचकर रहना चाहिये।

१९ भिक्षान्न सोमपान के समान है, अमृत है। इसके बराबर शुद्ध कोई अन्न नहीं है। साधु को सदैव भिक्षा करनी चाहिये। आज-कल के साधु रेल में यात्रा करते हैं, यह मु

पसन्द नहीं। उन्हें पैदल भ्रमण करना चाहिये। पैदल भ्रमण में बड़े-बड़े अनुभव होते है। वैराग्य का पता तो पैदल घूमने से ही चलता है। उस समय सुख-दुख का पूरा-पूरा अनुभव हो जाता है।

२०. रुपया-पैसा लेने से साधु का तप क्षीण हो जाता है। उसके तप का नाश हो जाता है। यदि रुपये-पैसे की ही इच्छा है तो गृहस्थाश्रम में ही क्यों न रहा ? कोई जीविकोपयोगी कार्य क्यों नहीं कर लेता ?

२१. किसी कवि ने कहा है—

'माया, मन्दिर, इस्तरी, धरती औ व्यौहार।
ये सन्तन को तव मिलें, कोपै जव करतार॥'

जब भगवान् का कोप होता है तभी साधु को ये वस्तुएँ मिलती हैं। यदि उनकी कृपा हो तो साधक को ये वस्तुएँ कदापि नहीं मिलेंगी। यदि मिले तो समझो कोई अपराध हो गया। भिक्षा मांग कर खाने की जरूरत ही इसलिये है जिसमें पैसे की आवश्यकता न पड़े।

२२. एक बार महात्मा श्रीधराश्रमजी तथा और दस-बारह साधु घूम रहे थे। एक गाँव के पास जाकर ठहर गये। किन्तु उस दिन किसी को भिक्षा नहीं मिली। सबने कहा कि आज जो भिक्षा नहीं मिली इसमें कुछ कारण अवश्य है। तब खोजने पर मालूम हुआ कि एक साधु के पास ग्यारह-बारह रुपये हैं। सबने उससे कहा, 'भैया ! तुम यहाँ से जाओ।'

२३. साधु के तीन लक्षण मुझे बहुत अच्छे लगते हैं।

(१) जीवन भर कामिनी का किसी प्रकार संग न करे।
(२) कभी कांचन स्वीकार न करे तथा (३) रेल के लिये, खाने के लिये और वस्त्रों के लिये भी पैसा न ले।

२४. जिसे धन और स्त्री के आकार से भी भय लगता है, वही विरक्त है। जिस प्रकार सर्प को देखकर ही डर लगता है उसी प्रकार जिसे विषयी मनुष्य को देखकर डर लगने लगे वही विरक्त है। तथा जिसे अपनी पूजा और भोजनों के थाल नरक से मालूम हों वही विरक्त है।

२५. प्राचीन काल में महात्मा लोग सदैव गङ्गा के किनारे किनारे विचरा करते थे। स्थायी रूप से कहीं भी नहीं रहते थे। दत्तात्रेयजी जहाँ-कहीं भी जाते थे वहीं भीड़ हो जाती थी। अतः कभी-कभी वे अज्ञात स्थान में भी चले जाते थे, उस समय छः-छः मास तक पता नहीं लगता था।

२६. निरन्तर भ्रमण करते रहने से किसी देश का प्रभाव नहीं पड़ता। बड़े-बड़े अनुभव होते हैं। विरक्त की चेष्टा उसकी असलियत को बता देती है। विरक्ति छिपी नहीं रहती।

२७. एक वैभवसम्पन्न मुसलमान जमींदार था। काल की प्रेरणा से वह गरीब हो गया। गरीबी में वह फकीर हो गया। वह रात्रि के समय नियमपूर्वक भीख मांगने के लिये बस्ती में जाता था। एक दिन वह अँधेरे में गिर गया। दूसरे दिन से उसने एक नौकर रख लिया। नौकर का काम था—फकीर के सामने दीपक दिखाना। फकीर होने पर भी उसके अमीरी के संस्कार नहीं गये थे। इसी प्रकार यह आत्मा अनादिकाल से महान् ऐश्वर्य का भोक्ता रहा है। यही कारण है, जब तक यह इस महान् ऐश्वर्य (भगवत्त्व) की प्राप्ति नहीं कर लेता तब तक असन्तोषी बना रहेगा। असन्तोष की निवृत्ति जगत् की किसी भी वस्तु से होनी सम्भव नहीं है।

२८. जिसके मन में किसी प्रकार की वासना या कामना नहीं है, वह अनिकेती है। घर बनाकर रहने का अर्थ है भोग की सामग्रियों का संचय करके उन्हें भोगना। गीता में जो 'अनिकेत' शब्द आया है, वह ममता और कामनारहित होने के ही सम्बन्ध में है। भगवान् के कहने का मतलब यह है कि किसी प्रकार ममता और कामना को मनमें स्थान मत दो। अनिकेती होने में जो आनन्द है उसका वर्णन नहीं हो सकता। भगवान् की कृपा के बिना कोई अनिकेती नहीं हो सकता। नित्यप्रति की प्रार्थना में भगवान् से यही याचना करनी चाहिये कि 'प्रभो! अनिकेती बना।'

२९. स्त्रीवर्ग से घृणा करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु उनसे बचकर रहने में ही कल्याण है। परिपक्व साधना में भी स्त्री-स्मरण होना सम्भव है, उनके स्मरणमात्र से ही दोष हो जाना सम्भव है। विशेषकर यति-जीवन में तो किसी भी स्त्री से भूल कर भी सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये।

३०. मन की यथार्थ अवस्था का परिचय तो स्वप्न में ही होता है। यदि स्वप्न में किसी वस्तु तथा किसी सम्बन्धित मनुष्य के दर्शन होते हैं तो समझ लेना चाहिये कि वह वस्तु या व्यक्ति मन में भरा हुआ है।

३१ बहुत पुरानी बात है, जब कि मैं कर्णवास की एकान्त झाड़ी में अभ्यास करता था, एक दिन स्वप्न में देखता हूँ—भिक्षा का समय होगया। मैंने भिक्षा की झोली उठायी, बस्ती में गया, वहाँ एक चमचमाती हुई चाँदी की हवेली दिखलायी दी। मैंने ज्यों ही 'नारायण हरि' की आवाज देने का विचार किया त्यों ही

हज़ारों सुन्दरियाँ थालों में नाना प्रकार के भोजन लिये मेरे सामने आ गयीं और कहने लगीं, 'बाबा, यहीं भोजन करलो।' मैंने कहा, 'मैं तो एक टुकड़ा लूँगा।' स्त्रियों ने आग्रहपूर्वक वहीं भोजन करने को कहा और बोलीं कि हमारा नियम तो घर पर भोजन कराने का ही है। मैंने कहा, 'मेरा भी ऐसा नियम ही है कि मैं भिक्षा में एक टुकड़ा से अधिक नहीं लेता और उसे एकांत में ले जाकर मंगलमय श्री हरि को भोग लगाकर पाता हूँ।' इतने में मेरी आँखें खुल गयीं। मन की इस लीला पर बड़ी हँसी आयी।

३२. पिछली बार ऋषिकेश की यात्रा में मैंने यह अनुभव किया कि जिस प्रकार गृहस्थ लोग बेकार रहने पर राग-द्वेष के शिकार होते हैं उसी प्रकार जो साधु भजन नहीं करते उनके भीतर भी राग-द्वेष घर कर लेते हैं। निठल्ले बैठे रहने पर वे राग-द्वेष नहीं करेंगे तो और क्या करेंगे? यह खेद की बात है कि आज-कल के बहुत से साधु निन्दा-स्तुति में ही लगे रहते हैं, जिससे उनकी बड़ी हानि होती है। यदि वे अपना काम अर्थात् भजन करते रहें तो उन्हें निन्दा-स्तुति के लिये अवकाश ही कहाँ मिलेगा?

३३. हमारे शास्त्रों में लिखा है कि बगीचे के फूल पत्तों को भी व्यर्थ नहीं तोड़ना चाहिये। साधु को तो इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये। कहा भी है—

साधू ऐसा चाहिये, दुखे-दुखावै नाहिं।
फूल पात तोड़ै नही, रहे बगीचे माहिं॥

३४. जो लोग इस संसार में सुख मानते हैं उन्हें परमार्थ-पथ में पैर रखने का कोई अधिकार नहीं है। मुमुक्षु का लक्षण तो यही है कि राग उसके हृदय से हट जाता है।

३५. जो यह जानता है कि कल हमें यहाँ से जाना है वही सुखी रहता है। वह शारीरिक सुख-दुःख की कोई परवाह नहीं करता। इस शरीर को तो उसे छोड़ना ही है, अतः शरीर से उसे राग नहीं होता। तथा स्त्री-पुत्रादि को भी उसे यहीं छोड़ना है। इसलिये उनकी चिन्ता भी उसे क्यों हो?

३६. साधारणतया जब तक कुछ नहीं मिलता तभी तक त्याग रहता है। मिलने पर त्यागना तो बड़ा ही कठिन काम है। कई साधु ऐसे देखे गये हैं कि पहले तो वे बड़े ही विरक्त थे। किन्तु फिर जब मारवाड़ी लोग कुएँ या धर्मशाला के लिये उन्हें रुपया देने लगे तो उनका सारा त्याग जाता रहा। फिर तो वे ईंट और चूना की खेपों को गिनने में ही लग गये।

३७. साधु यदि पैसा अपने पास रखेगा तो वह पतित से भी पतित हो जायगा। अब तो मैं सब साधुओं से मिलता हूँ, परन्तु पहले मुझे एक सन्त ने कहा था कि पैसेवाले साधुओं का सङ्ग न करना।

३८. मुझे एक अत्यन्त तेजस्वी और वृद्ध महात्मा ने बतलाया कि साधु के लिये दया बहुत दुःखदायी है, उसे दया की माया से बचना चाहिये। यह उसे अनेक प्रकार से प्रपञ्च में फँसा देती है। लोग तो कहते हैं कि 'दया बिनु सन्त कसाई।' परन्तु यह बात ठीक होने पर भी कहीं अत्यन्त विपरीत हो जाती है। जैसे संखिया कहीं-कहीं ओषधि होने पर भी अन्यत्र मारनेवाला ही सिद्ध होता है।

३९. सबसे बड़ा कौन है? जो कुछ नहीं माँगता। बड़े-बड़े करोड़पति-लखपति क्या हैं? सब मँगते हैं। कोई बेटा माँगता है, कोई पोता माँगता है और कोई धन माँगता है। वास्तव में

धनी तो वही है जो कुछ नहीं माँगता; बस, केवल रामभजन में लीन रहता है।

४०. महात्मा से यदि कोई लड़ाई-झगड़ा करे तो महात्मा का बल क्या है ? यही कि कमण्डलु उठाकर चल दे। बदले में लड़ाई-झगड़ा न करे।

४१. विरक्त के लिये कथा का व्यापार करना बुरा है। कथा बाँचकर रुपया कमाना पाप है।

४२. वैराग्यवान् व्यक्ति में प्रायः अभिमान आ जाता है। जिस समय मुझे वैराग्य चढ़ा हुआ था, मैं हर एक साधु को हीन दृष्टि से देखता था और उसकी निन्दा भी करने लगता था। किन्तु यह आसुरी सम्पत्ति है, वास्तविक वैराग्य नहीं। वैराग्य से तो दैवीसम्पत्ति बढ़नी चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु से उदासीनता तथा सहनशीलता ही सच्चा वैराग्य है। यदि तुम्हें कोई मारता या गाली देता है तो तुम्हें सहन करना चाहिये और उसे अज्ञानी समझ कर उसके प्रति दया का भाव रखना चाहिये। यही सच्चा वैराग्य है।

४३. विरक्त साधु को तीन बातों पर अवश्य ध्यान रखना चाहिये—

(१) विद्याभिमानी पण्डितों के साथ न रहे।

(२) गोशाला, पाठशाला, मन्दिर अथवा स्थानधारी साधुओं के साथ न रहे। इन स्थानों में रहने से विरक्त के मन में भी काम करने की प्रवृत्ति जाग्रत् होगी।

(३) अँगुलीनिर्दिष्ट होकर न रहे। अर्थात् किसी एक स्थान या व्यक्ति का होकर न रहे। ऐसा होने पर उस व्यक्ति या स्थान से राग हो जाता है। तथा उसे कथा या

अनुष्ठान कराकर प्राप्ति कराने की इच्छा होती है। यह दया का बन्धन वैराग्य का मुख्य विघ्न है।

४४. साधु को फलाहारी, लवणत्यागी, दुग्धाहारी या मौनी होकर नहीं रहना चाहिये। इससे व्यर्थ अभिमान हो जाता है। और इस प्रकार का अभिमान वैराग्य को स्वाहा कर देता है।

४५. प्रत्येक साधु में सात बातें अवश्य होनी चाहिये—

(१) आसन की स्थिरता।

(२) ध्यान।

(३) समाधि।

(४) सहनशीलता।

(५) एकान्तवास।

(६) निरिच्छा।

(७) समता।

४६. विरक्त को विरक्तों का ही सङ्ग करना चाहिये। एक-सी स्थितिवालों के सङ्ग से ही लाभ हो सकता है। कैसा ही वैराग्यवान् हो; वह यदि कर्मकाण्डी या प्रवृत्तिपरायण का सङ्ग करेगा तो उसका वैराग्य स्वाहा हो जायगा।

४७. जो नया विरक्त हो उसे इन नियमों का अवश्य पालन करना चाहिये—

(१) किसी को कदापि उपदेश न करो। यदि करो तो पूर्ण अधिकारी देखकर ही करो।

(२) साधु होने के पीछे अपनी जन्मभूमि में मत जाओ।

(३) जन्मभूमि से दूर रहो, उसके समीप मत रहो।

(४) झोंपड़ी या कुटी बनाकर मत रहो, भले ही फिर घर लौट जाओ।

(५) किसी स्थानधारी साधु के स्थान में भी मत रहो।

४८. सम्पूर्ण प्रपञ्च में दोषबुद्धि होना, यहाँ तक कि भक्ति और भगवान् से भी वैराग्य हो जाना—यही जिज्ञासु का लक्षण है। जिसे घर, स्त्री, बच्चे और धन सभी से वैराग्य हो जाता है वही जिज्ञासु है।

४९. संन्यासी यदि मिट्टी खोदता, लकड़ी काटता अथवा भोजन बनाता दीख जाय तो सचैल (कपड़ों सहित) स्नान करना चाहिये। तभी देखनेवाला पाप से मुक्त हो सकता है।

५०. जो वैराग्यवान् और सहनशील हो, किसी का अपमान न करता हो, जितेन्द्रिय, सरलहृदय और सत्यवादी हो, किसी विषय में आसक्ति न रखता हो, किन्तु व्यवहार में आसक्त जान पड़ता हो, अपनी प्रशंसा न करता हो, किसी भी प्राणी या शास्त्र की निन्दा न करता हो, समय को व्यर्थ न खोता हो तथा भगवान् के ध्यान में तृप्त हो, वह विरक्त हो सकता है।

वैराग्य के विषय में

प्र०—वैराग्य किसे कहते हैं ?

उ०—विषय पास रहने पर भी उसमें राग न हो। इन्द्रियों के समीप विषय रहने पर भी उनके भोगने की रुचि न रहे तो इसे वैराग्य कहते हैं। ऐसा वैराग्य घर में रहने पर भी हो सकता है।

प्र०—त्याग किसे कहते हैं ?

उ०—वस्तु को स्वरूप से त्याग देना त्याग है।

प्र०—क्या त्याग के बिना भी वैराग्य हो सकता है ?

उ०—हो सकता है।

प्र०—कैसे ?

उ०—प्रेम होने से।

प्र०—भगवत्प्रेम के लिये वैराग्य की आवश्यकता है या नहीं ?

उ०—भगवत्प्रेम होने से वैराग्य होगा और वैराग्य होने से प्रेम होगा। इनका परस्पर अन्योन्य सम्बन्ध है—अविनाभाव सम्बन्ध है। अर्थात् वैराग्य के बिना प्रेम नहीं होता और प्रेम के बिना वैराग्य नहीं होता।

प्र०—क्या साधु एक जगह का अन्न खा सकता है ?

उ०—नहीं, कभी नहीं। साधु को तो भिक्षा माँगकर ही अपना निर्वाह करना चाहिये। किसी एक स्थान पर बँध जाने से साधुता नष्ट हो जाती है। धनियों के अन्न में अनेक प्रकार के दोष रहते हैं, उससे बुद्धि नष्ट हो जाती है। मैंने हरिद्वार में देखा कि एक सेठजी के मकान पर सेठानी तो पलङ्ग पर लेटी हुई थी और महात्मा नीचे बैठे सत्सङ्ग करा रहे थे। ये क्या साधु हुए। साधु कभी किसी धनी के पास नहीं जायगा। वह तो ग्वालियों में रहेगा।

× × ×

१. किसी से 'दो' यों कहना मरण के समान है। मर जा
भला है, किन्तु वाणी द्वारा अथवा अन्य किसी चेष्टा-द्वारा अप
आवश्यकता की सूचना देना अपना पतन करना है। परोपकार
लिये मांगना भी अनुचित है। साधु को भूख लगने पर रो
मांग लेनी चाहिये। माधूकरी वृत्ति से रोटी मांगना तो गृहस्
को कृतार्थ करना है। किन्तु 'दो' इस शब्द के कहते ही शरीर
स्थायीरूप से रहने वाले पांच देवता चले जाते हैं। पांच देव
हैं—ह्री, श्री, धी, ज्ञान और गौरव। केवल मांगने के संकल्पम
से चेष्टा में मलिनता आ जाती है। मांगना बड़ा भारी पाप है

२. कामिनी और कांचन से बचना बहुत ही कठिन है।
में भी कामिनी से तो बचना बहुत ही कठिन है। एक बार बङ्गा
बाबा मुझे सुनाते थे कि ऋषिकेश में एक बहुत उच्चकोटि
महात्मा रहते थे। जब वे अपने पांचभौतिक शरीर को त्या
लगे तो उनके शिष्यों ने कहा, "भगवन्! आज कृपा करके अप
अन्तिम उपदेश दीजिये।" आपने अपने शिष्यों से कहा कि दे
यदि लाहौर से लेकर ऋषिकेश तक सुवर्ण का पहाड़ हो तो मे
मन उसे पाने के लिये चञ्चल न होगा। किन्तु यदि मुझे कि
में बिठा दिया जाय तो आशा नहीं कि मेरा मन चञ्चल न हो
उनके कहने का अभिप्राय यही था कि कामिनी से बचना ब
कठिन है।

३. विषयी पुरुषों का सङ्ग विषय से भी बुरा है। भो
पुरुषों के सङ्ग से विषयों की बातें करते-करते तुम्हारा मन ख
हो जायगा। स्त्रियों से अनुराग करने वालों का सङ्ग तो बहुत
हानिकारक है।

४. जहाँ वाद-विवाद है वहाँ न भगवान् ही हैं और
परमार्थ ही—

'सुने न काहू की कही, कहे न अपनी बात ।
नारायण वा रूप मे, मगन रहे दिन-रात ॥'

५. मुख से जो कुछ बोले वह भगवच्चर्चा से भिन्न और कुछ न हो । फिर तुम्हे निन्दा-स्तुति का अवसर कैसे मिल सकता है ? सांसारिक बातें जहाँ तक हो न बोले ।

६. (१) दुनिया का चिन्तन न करो, (२) दुनिया की बात न करो, (३) दुनिया की क्रिया न करो । जो पुरुष इन तीनों नियमों का पालन करता है वही परमार्थसाधन कर सकता है ।

७. जब तक वैराग्य न हो तब तक ध्यानयोग में तत्परता नहीं हो सकती ।

८. दरिद्री वही है जो विषयों में फँसा हुआ है और धनी वही है जिसे किसी भी चीज की इच्छा नहीं है । दुनिया की इच्छा छोड़ दो और सब सहन करो--यही महापुरुषों का लक्षण है ।

९ पशु वही है जो स्वभाव को वशीभूत नहीं कर सकता । हमें यदि अफीम खाने की आदत है और हम उसे त्याग न सकें तो हम पशु ही हैं ।

१०. जीव पागलों की तरह घूम रहा है । इसका असली अनुराग किसी में नहीं है । यह तो बावले कुत्ते की तरह चारों ओर डोल रहा है । जो चीज नाना होती हैं उनमें पूर्ण अनुराग हो ही नहीं सकता । विषय अनेक हैं, इसलिये उनमें असली अनुराग नहीं हो सकता । अनुराग निरन्तर चिन्तन से होता है । वाणी से उसी का गुणगान करें, हृदय से उसी का चिन्तन करें और नेत्रों से उसके सिवा और किसी को न देखें ।

'सीय राममय सब जग जानी । करौं प्रनाम जोर जुग पानी ॥'

११. इस प्रकार जगत् नहीं बस सियाराम-सियाराम ही देखे। सियाराम ही इष्ट रहे। उसके सिवा जो कुछ मन में आवे उसे हटाता रहे।

१२. संसारी बातों से सुख या शान्ति मिल जायगी—ऐसा सोचना मूर्खता है।

१३. सच्चे वैराग्यवान् को जो आनन्द प्राप्त होता है वह और किसी को प्राप्त नहीं हो सकता। ब्रह्मादिक भी उस आनन्द के लिये तरसते रहते हैं।

१४. इन्द्रियों से वैराग्य होने पर भाव होता है और भाव से वैराग्य होने पर ज्ञान। जब तक संसार से, इन्द्रियों से और भाव से वैराग्य नहीं होता तब तक कोई जिज्ञासु नहीं हो सकता।

१५. चित्त का विकार तभी जा सकता है जब कि शरीर-मात्र को मल-मूत्र का थैला समझा जाय।

१६. जन्म-जन्मान्तरों से हमारा विषयों में अनुराग है, इसी से भगवान् में अनुराग नहीं होता। भगवान् में पूर्ण अनुराग हुआ कि संसार से छुटकारा हो जाता है। जिस प्रकार निद्रा का अन्त और जागरण--दोनों एक साथ ही होते हैं।

१७. श्रीअच्युत मुनिजी कहा करते थे कि त्याग करना तो सहज है, किन्तु वैराग्य होना बहुत कठिन है। त्याग का अर्थ है किसी वस्तु को छोड़कर दूर चले जाना, किन्तु पास हो अथवा दूर, हृदय में उसके प्रति राग न रहना—इसका नाम वैराग्य है। यह बहुत कठिन है।

१८. जगत् का कोई पदार्थ नित्य नहीं है। धन, विद्या, बुद्धि, गुण, गौरव आदि सभी मृत्यु के साथ धूलि में मिल जाते हैं।

१६. यदि परमात्मा में राग न हो और घर छोड़ दे, तो इसे वैराग्य नहीं कहते। जो आत्मारामी या भगवत्प्रेमी नहीं है वह दूसरों से व्यर्थ राग-द्वेष करेगा ही।

२०. यदि हमें भगवच्चिन्तन करते हुए संसार की चीजें भी अच्छी लगती हैं तो समझना चाहिये कि अभी हम भगवत्प्रेम से कोसों दूर हैं। जब हमें संसार की बढ़िया से बढ़िया चीज देख कर भी घृणा हो तभी समझना चाहिये कि अब भगवान् का अनुराग हुआ। भगवद्भक्त को सभी चीजें तुच्छ जान पड़ती हैं।

२१. लँगोटी तक त्याग देना देहत्याग है और पञ्चकोश से ऊपर उठ जाना गेहत्याग है।

२२. एक बार बादशाह ने सुकरात से पूछा, 'आपके लिये कुछ जवाहिरात भेज दूँ ?' सुकरात ने कहा, 'हम जवाहिरात क्या करेंगे ? वे तो पत्थर के टुकड़े हैं।' फिर बादशाह ने पूछा, 'कुछ रेशमी वस्त्र भेज दूँ ?' सुकरात ने कहा, हमें उनकी आवश्यकता नहीं, वे तो कीड़ों के थूक हैं।'

२३. ममत्व से ही दुःख होता है, ईश्वरसृष्टि के पदार्थों से दुःख नहीं हो सकता। ईश्वरसृष्टि के पदार्थों में ममत्व करना ही जीव सृष्टि है। जैसे—अनेकों मकान हैं, जिनके नष्ट होने से कोई दुःख नहीं होता; किन्तु जो मकान खरीद लिया जाता है उसकी यदि कोई एक ईंट भी निकालता है तो, ममत्व हो जाने के कारण बड़ा दुःख होता है। इसलिये किसी पदार्थ में ममत्व न करके सबको ईश्वर का समझते हुए सेवक की भाँति सबकी रक्षा और सँभाल करो। इससे उनके संयोग-वियोग में दुःख नहीं होगा; क्योंकि सब पदार्थों का बनाने वाला तो ईश्वर ही है। यदि कोई कहे कि यह मकान तो मैंने बनाया है, तो उसे सोचना चाहिये कि मिट्टी और पत्थर आदि कहाँ से आये। ये तो मनुष्य

कृत नहीं हैं। रेल, मोटर, आदि भले ही मनुष्य के बनाये हुए हों, किन्तु लोहा न होता तो ये कैसे बनते। अतः इन सब पदार्थों का वास्तविक रचयिता और स्वामी तो ईश्वर ही है। इसलिये हमें इनमें ममता नहीं करनी चाहिये।

२४. आसक्तिपूर्वक खाना ही भोजनसम्बन्धी राग है, यह किसी भी पदार्थ मे हो। अतः जिस वस्तु मे राग हो उसे नहीं खाना चाहिये। यही इस राग पर विजय प्राप्त करने का उत्तम साधन है।

२५. प्रतिष्ठा ने ही जीव को भगवान् से दूर कर रखा है। यदि दैवयोग से प्रतिष्ठा होने लगे तो उससे घृणा ही करनी चाहिये। सर्वदा दूसरों को ही मान देने की चेष्टा करे।

२६. जब तक प्रवृत्ति का बोझा सिर पर लदा हुआ है, इष्ट की प्राप्ति नहीं हो सकती। इष्ट तो निवृत्ति होने पर ही प्राप्त होता है।

२७ जन्म और मृत्यु का दुःख एक सहस्र बिच्छुओं के काटने के समान माना गया है। मनुष्य तो एक बिच्छू के काटने से ही बेचैन हो जाता है; फिर अनेकों बिच्छुओं के काटने की पीड़ा के विषय में क्या कहा जाय। यह तो अनुभव का ही विषय है। जन्म का दुःख तो मृत्यु के दुःख से भी बढ़कर है। यदि मनुष्य-शरीर पाकर यह जन्म-मरण का दुःख दूर न हुआ तो यह जन्म व्यर्थ ही रहा। इस जन्म का लाभ तो यही है कि जीव जन्म-मरण के दुःख से छूट जाय।

२८. मनुष्य संसार के जङ्गल से तो छूट सकता है, परन्तु शास्त्रजङ्गल से उसका छूटना कठिन है। यही बात परमहंस रामकृष्ण भी कहा करते थे—'मत पड़ो रे मन, शास्त्रजङ्गले।'

२९. दृश्य में प्रीति न रहना—यही असली वैराग्य है।

ध्यान की बात

प्र०—वर्तमान काल में किस योग का आश्रय लेना चाहिये ?

उ०—पहले मैंने आसाम और भूटान में हठयोगियों की बहुत खोज की थी। मुझे जिस किसी प्रसिद्ध हठयोगी का पता लगता उसीके पास जाता और उसकी सेवा कर उसके अनुभव को पता लगाने का प्रयत्न करता। मैंने ऐसे कई हठयोगी देखे हैं जिन्हें तीन-तीन, चार-चार घण्टे की समाधि होती थी। परन्तु उनकी वास्तविक स्थिति का पता लगाने पर यही विदित हुआ कि उनमें से किसी को भी निर्विकल्प समाधि सिद्ध नहीं हुई। हाँ, सविकल्प समाधि में उनकी स्थिति अवश्य थी। इसके सिवा मैंने प्रायः सभी हठयोगियों को रोगी भी पाया। हठयोग का मुख्य लक्ष्य वीर्य की पुष्टि है; परन्तु मैंने अधिकाश हठयोगियों को वीर्य-सम्बन्धी रोगों से भी ग्रस्त पाया है। किसी को मूत्रकृच्छ्र, किसी को स्वप्नदोष और किसी को किसी अन्य रोग के चंगुल में फँसे देखा है। इससे मेरी यह दृढ़ धारणा हो गयी है कि वर्तमान काल हठयोग के अनुकूल नहीं है। इस समय हठयोग द्वारा पूर्णता प्राप्त करना प्रायः असम्भव है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हठयोग का मार्ग ही भ्रमपूर्ण है और उससे किसी भी समय पूर्णता प्राप्त नहीं होती थी। इस समय इसके जो विपरीत परिणाम होते हैं उनके मुख्य कारण ये हैं—

(१) हठयोगी का वीर्य शुद्ध होना चाहिये और इसका इस समय प्रायः सर्वथा अभाव है।

(२) हठयोग के अभ्यास को सहन करने योग्य बल प्रायः नहीं देखा जाता।

(३) सिद्ध हठयोगी गुरु का मिलना भी अत्यन्त दुर्घट है।

इसके सिवा ध्यान और वैराग्य की कमी होने के कारण आधुनिक हठयोगी प्रायः अर्थलोलुप और चञ्चल प्रकृति के देखे जाते हैं। उनके जाल में फँसकर मैंने बहुत-से साधकों के जीवन नष्ट होते देखे हैं। इसलिये मेरा विचार है कि अपने कल्याण की इच्छावालों को इस ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहिये।

इस प्रकार बहुत-से हठयोगियों से निराश होने पर मुझे एक ऐसे महात्मा मिले जिन्हें ध्यानयोग-द्वारा निर्विकल्प समाधि सिद्ध थी। उनके संसर्ग से मुझे यह अनुभव हुआ कि सिद्धासन और शाम्भवी मुद्रा *के द्वारा पूर्ण स्थिति प्राप्त की जा सकती है।

---

*शाम्भवी मुद्रा का लक्षण इस प्रकार है:—

अन्तर्लक्ष्यर्बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।
सा भवेच्छाम्भवीमुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥

जिसमें चित्त का लक्ष्य अन्तर्मुख (ध्येयाकार) रहता है और दृष्टि बाहर की ओर रहती है, अर्थात् नेत्र खुले रहते हैं, किन्तु कोई बाह्य पदार्थ दिखायी नहीं देता, तथा पलकों का खुलना और बन्द होना भी नहीं होता, वह सम्पूर्ण शास्त्रों में छिपी हुई 'शाम्भवी-मुद्रा' है।

इसका अभ्यास करने के लिये उन योगिराज ने श्री महाराज जी को इस श्लोक द्वारा उपदेश दिया—

तिर्यग्दृष्टिमधोदृष्टिं विहाय च महामतिः ।
स्थिरस्थायी च निष्कम्पो योगमेव समभ्यसेत् ॥

मतिमान् साधक को इधर-उधर और ऊपर-नीचे देखना छोड़ कर निश्चल भाव से स्थिरतापूर्वक स्थित होकर योग का ही अभ्यास करना चाहिये।

यह मार्ग सर्वथा सरल और निरापद है। इसके सिवा भगवद्भजन, नामसंकीर्तन और जप के द्वारा भी भावसमाधि प्राप्त होती देखी गयी है। यह मार्ग सर्वसाधारण के लिये बहुत उपयोगी है। परन्तु ऐसे भावुक साधकों में भी विचार की कमी होने के कारण प्रायः क्रोध और लोभ आदि आन्तरिक दोष देखे गये हैं। इसलिये इस मार्ग का अनुसरण करनेवालों को भी विचार की बहुत आवश्यकता है; तभी वे भगवद्भक्ति से पूरा लाभ उठा सकेंगे।

प्र०—हठसमाधि और ध्यानसमाधि में क्या अन्तर है?

उ०—हठसमाधि प्राण की कसरतमात्र है। उसमें निर्विकल्पावस्था नहीं रहती और न उससे शान्ति, दान्ति आदि गुण ही प्राप्त होते हैं। समाधि से उत्थित होने पर वह योगी एक साधारण पुरुष के समान रहता है। किन्तु ध्यानसमाधिमें चित्त संकल्पशून्य हो जाता है और उससे उत्थान होने पर भी वह दिव्यगुणसम्पन्न देखा जाता है। दीर्घकालीन हठसमाधि की अपेक्षा भी क्षणभर की ध्यानसमाधि का महत्त्व सैकड़ों गुना बढ़कर है।

प्र०—योगी और ज्ञानी की निर्विकल्पावस्था में क्या अन्तर है?

उ०—योगी सृष्टिदृष्टिवादी है। अतः समाधि मे भी उसकी सृष्टि बनी रहती है। वह केवल उससे अपनी दृष्टि (चित्तवृत्ति) हटा लेता है। किन्तु ज्ञानी दृष्टिसृष्टिवादी होता है; उसकी दृष्टि ही सृष्टि है तथा उसकी दृष्टि की निवृत्ति सम्पूर्ण प्रपञ्च की निवृत्ति है। योगी की दृष्टि में आत्मभेद, प्रकृति की सत्ता और ईश्वर की अन्यता है तथा ज्ञानी स्वयं ही सर्वरूप है। समाधि अवस्था में प्रपञ्च की अप्रतीति तो दोनों ही को होती है, किन्तु यह अप्रतीति ही कल्याण का हेतु नहीं है। यदि इसी से कल्याण होता तो

सुषुप्ति में तो सभी को प्रपञ्चाभाव का अनुभव होता है, उस समय सभी को मुक्त हो जाना चाहिये था। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः आत्यन्तिक निःश्रेयस का कारण तो ब्रह्मात्मैक्य बोध ही है।

प्र०—भावसमाधि और ध्यानसमाधि मे क्या अन्तर है ?

उ०—भावसमाधि साधनसाध्य नहीं है, वह परतन्त्र है। जिनका हृदय कोमल है उन्हे उद्दीपनविभाव की सन्निधि होने पर स्वतः ही उसकी प्राप्ति हो जाती है। किन्तु इससे लौकिक वासनाएँ निर्मूल नहीं होतीं और न पूर्ण निर्विकल्पता ही होती है। ध्यान-समाधि अभ्याससाध्य है। यह उन्हीं को प्राप्त हो सकती है जो दीर्घकाल तक निरन्तर अभ्यास करते-करते रजोगुण तमोगुण से सर्वथा मुक्त हो गये हैं।

प्र०—ध्यानसमाधि का आरम्भ में किस प्रकार अभ्यास करना चाहिये ?

उ०—भूत और भविष्यत् के चिन्तन को छोड़कर एकान्त स्थान मे एक आसन से कम से कम दो घण्टा बैठ कर नित्यप्रति नियमित रूप से भगवान् के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिये। भगवत्स्वरूप की जो क्षण-क्षण में स्मृति होती है उसे तो स्मरण कहते हैं और जब वह स्मृति अधिक देर ठहरने लगती है तो उसे ही ध्यान कहा जाता है। जैसे-जैसे भगवान् में आसक्ति होती जायगी वैसे-वैसे ही वृत्ति ठहरती जायगी। जब तक वृत्ति की स्थिरता होने पर स्वतः ही न छूट जाय तब तक ध्यानाभ्यास के समय जप भी करता रहे। ध्यान की स्थिरता होने पर केवल स्वरूप का ही चिन्तन करे। जहाँ जप और चिन्तन दोनों रहेगे वहाँ जप मुख्य और चिन्तन गौण रहेगा। अतः जिससे चिन्तन न हो सके

उसे जप या स्तोत्रपाठ करना चाहिये। स्तोत्रपाठ से जप अधिक लाभप्रद है।

प्र०—भगवान् के साकार दर्शन के लिये क्या साधन करना चाहिये।

उ०—मेरे विश्वास के अनुसार गाढ़ ध्यान हुए बिना भगवद्दर्शन नहीं हो सकता।

प्र०—क्या हठयोग ही मन के निग्रह का साधन है?

उ०—लययोग, मन्त्रयोग, हठयोग आदि सभी से मन का निग्रह हो सकता है। किसी एक को पकड़ लेना चाहिये। जैसे इलाहाबाद के कई रास्ते हैं, किन्तु एक को पकड़ना चाहिये।

प्र०—मन कैसे रुके?

उ०—नियम का पालन करने से। यदि हम नियम का पालन करते हैं तो मन हमारा क्या बिगाड़ सकता है? नियम को परमात्मा देखता है। हमारे देश की दुर्दशा क्यों हो रही है? इसी से कि नियमनिष्ठा नहीं है। हम लोग व्यर्थ ही बक-बक करते रहते हैं। अब तो सन्ध्यावन्दन तक का नियम नहीं रहा है। भजन करने के लिये तो नियम अत्यन्त आवश्यक है।

प्र०—महाराजजी, समाधि किसे कहते हैं?

उ०—मन्दिर में भगवान् की मूर्त्ति को देखो और फिर पलक न लगे तो यही समाधि है। बिल्ली जब चूहे को पकड़ने के लिये बैठती है तो उसका मन चूहे के सिवा और कहीं नहीं जाता—इसी का नाम समाधि है। एक साईंजी बैठे नमाज पढ़ रहे थे। उधर से एक स्त्री निकली। उसका पैर उनके कपड़ों से लग गया। इस पर साईंजी ने बिगड़ कर पूछा, 'तूने मेरे कपड़े पर पैर क्यों रखा?' स्त्री बोली, 'तू खुदा की इबादत (उपासना) कर रहा था

या मुझे देख रहा था ?' बस, बाह्य ज्ञान न रहे—इसी का नाम समाधि है।

प्र०—महाराजजी, ध्यान नहीं लगता, कैसे लगाया जाय ?

उ०—रोओ, पीटो। भगवान् तो हैं ही। जब वे देखेंगे कि यह रो रहा है और ध्यान के लिये मरने को तैयार है तो अवश्य ध्यान लग जायगा। किन्तु रोओ सच्चे हृदय से, झूठे रोने से कुछ नहीं होगा।

प्र०—स्मृति, ध्यान और समाधि में क्या अन्तर है ?

उ०—हर समय इष्टदेव की याद करना स्मृति है, चित्तवृत्ति को एकाग्र करके इष्टरूप में ठहराना ध्यान है और ध्यान की बढ़ी हुई अवस्था ही, जिसमें ध्याता और ध्येय के भेद की स्फूर्ति नहीं होती, समाधि है।

१. शरीर, प्राण और चित्त की समता अर्थात् स्थिरता होने पर ही समाधि होती है। ये नियम अष्टाङ्ग योग की समाधि के लिये हैं; भावसमाधि के लिये इनकी आवश्यकता नहीं है और न वह करने से ही होती है। वह तो भाव की दृढ़ता होने पर स्वयं ही हुआ करती है। जिस समय वह होती है उस समय आसन और प्राण भी स्वयं स्थिर हो जाते हैं।

२. आसन और वृत्ति इन दोनों ही को स्थिर रखकर अभ्यास करना चाहिये।

३. मैं सम्पूर्ण प्रपञ्च से भिन्न हूँ—ऐसी भावना करने से चित्त की साम्यावस्था हो जाती है। यही चित्त की निर्विशेष स्थिति है। इसका काल अधिक बढ़ने पर चित्त विलीन हो जाता है।

४. आसन पर चार घण्टे बैठकर यदि मनोराज्य होगा तो गर्मी चढ़ जायगी। किन्तु यदि चित्त लीन हो जाय तो छः घण्टे

बैठने पर भी गर्मी नहीं बढ़ेगी। इसका कारण यह है कि मनो-राज्य में तो चित्त को काम करना पड़ता है किन्तु लीन हो जाने पर उसे कोई काम नहीं करना पड़ता और वह आनन्द में मग्न रहता है।

५. 'स्थिर सुखमासनम्' इस सूत्र के अनुसार स्थिर आसन रखकर ध्यान करना चाहिये। चेतनत्व की भावनापूर्वक इष्ट का ध्यान दस मिनट प्रतिदिन करने से अभ्यास का फल प्रतीत होगा। तीस मिनट के अभ्यास से विशेष अवस्था प्रतीत होगी और एक घण्टा पैंतीस मिनट के अटूट ध्यान से देहानुसन्धान की निवृत्ति यानी समाधि हो जायगी। यह परम योग है।

६. एक घण्टा ध्यान के अभ्यास से सर्वत्र ध्येय ही दिखायी देगा।

७. ध्यान से ज्ञान होता है; ध्यान बिना ज्ञान रह ही नहीं सकता।

८. कम से कम दस मिनट तो प्रतिदिन ध्यान करना ही चाहिये। इससे एकाग्रता बढ़कर शनैः शनैः तद्रूपता हो जायगी एकाग्रता या संयम ही मुख्य है।

६. चिन्तन-स्मरण से सब कुछ हो जायगा। चिन्तन का अभ्यास जितना बढ़ेगा, उतनी ही संसार से विरक्ति और भगवत्प्रेम की प्राप्ति होगी।

१०. मनोराज्य पूर्णतया केवल भगवत्सम्बन्धी ही होना चाहिये। अर्थात् मन को प्रभु के रूप एवं लीला के ध्यान में ही पूर्ण रूप से लगाना चाहिये।

११. विवेक और वैराग्य से मनुष्य की विषयाभिलाषा जाती रहती है, किन्तु उसकी वासना निर्मूल नहीं होती। विषय की सन्निधि में वह सर्वथा निर्विकार नहीं रह सकता। ऐसा तो

तभी होता है जब उसी विषय में संयम (धारणा, ध्यान और समाधि) करते हुए त्रिपुटी का लय हो जाय । इससे विषय की विषयता मारी जाती है और सर्वत्र सामान्य सत्ता ही प्रतीत होती है । किसी भी विषय का ध्यान करते हुए एक बार त्रिपुटी का लय हो जाने पर,फिर चाहे जब चाहे जिस विषय में ऐसी स्थिति प्राप्त की जा सकती है ।

१२. पहले ध्यान एवं मानसपूजा का अभ्यास बढ़ाकर मन स्थिर करने की चेष्टा करनी चाहिये । मन अधिक ठहरने से भगवान् मे अनुराग होता है । आरम्भ में मन ठहरना कठिन होता है । मन न लगे तो मानस जप करना चाहिये । कुछ काल अभ्यास करने के पश्चात् थोड़ा-थोड़ा आनन्द आने लगेगा । फिर कुछ समय तक अभ्यास दृढ़ हो जाने से अधिक ध्यान करने का उत्साह उत्पन्न होगा । उसके पश्चात् ध्यान की मात्रा अधिक हो जाने से चित्त भगवत्प्रेम में डूब जायगा । यही अवस्था साधन का पूर्णपद है । इसी को भगवत्साक्षात्कार समझना चाहिये ।

१३. साक्षात्कार तीन प्रकार का होता है—(१) इष्टदेव का प्रत्यक्ष दर्शन, (२) स्वप्नदर्शन और (३) तल्लीनता । इनमें स्वप्न-दर्शन अधम, प्रत्यक्ष दर्शन मध्यम और तल्लीनता उत्तम है । तल्लीनता के पश्चात् साधक जगत् को स्वप्नवत् देखता है । जब तक ऐसा शुभ दिन प्राप्त न हो तब तक कष्ट सहन करके श्रद्धा और धैर्य के साथ भजन-साधन करना चाहिये । कितने ही साधक संसारी कर्म त्यागकर दिन-रात जप करते रहते हैं, परन्तु किसी प्रकार का कष्ट उपस्थित होने पर वे उसे सहन करने में असमर्थ होते हैं । इसका कारण केवल ध्यान का अभाव है । इसलिये जप के साथ ध्यान, मानस पूजा और ईश्वर प्रार्थना भी करनी चाहिये ।

१४. प्रातः मध्याह्न, सन्ध्या और शेष रात्रि में ध्यान करने से विशेष एकाग्रता होती है। मन्त्र-ध्यान स्थूल है, चिन्तनमय ध्यान सूक्ष्म है और चिन्तनरहित पराभक्ति है।

१५ ध्यान आरम्भ करते समय पहले ध्येयमूर्त्ति के चरण से मस्तक पर्यन्त मन को घुमाना चाहिये। पहले-पहले छः मिनट से अधिक ध्यान नहीं करना चाहिये।

१६. ध्यान अधिक होने से मन की शान्ति होती है। जिस दिन ध्यान अधिक हो और जप कम हो उस दिन कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिये। किन्तु यदि जप अधिक हो और ध्यान कम तो उसके लिये चिन्तित होना चाहिये।

१७. जप और ध्यान में चित्त न लगने पर जिस पुस्तक में तुम्हारा अधिक प्रेम हो उसका पाठ करो। अधिक पुस्तकें देखना भी भजन का विघ्न ही है।

१८. वायुरहित स्थान में निष्कम्प, स्थिर और शान्तभाव से आधा-आधा घण्टा बैठने का अभ्यास करो।

१९. ध्याननिष्ठा में सांसारिक वस्तुओं की इच्छा और काम-क्रोधादि उद्वेग बहुत बड़े विघ्न हैं, इसलिये इनसे सर्वदा बचना चाहिये।

२०. संकल्पत्याग का अभ्यास करने से निश्चय ही भगवान् मिल जाते हैं—इसका मैं ठेका लेता हूँ।

२१. एकान्त देश, तृष्णाहीनता, अप्रयत्न और प्राणायाम—ये चार बातें ध्यानी के लिये अनिवार्य हैं।

२२. लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद—ये चार ध्याना-भ्यास के प्रधान विघ्न हैं। इनके कारणों का विभाग इस प्रकार किया जा सकता है—

लय का कारण—अतिभोजन, अन्न का न पचना, प्रपञ्च में क्रीड़ा, व्यर्थ प्रलाप, निद्रा की न्यूनता अथवा अत्यधिकता तथा मादक द्रव्यों का सेवन।

विक्षेप का कारण—अनात्म पदार्थों में सत्यत्वबुद्धि तथा आसक्ति।

कषाय का कारण—मनको भोगों से हटाने में जो क्लेश होता है उसके कारण मन पर दया करना।

रसास्वाद का कारण—अल्प सुख मे कृतकृत्यता मान लेना।

२३. सुषुप्ति में जीवात्मा प्रकृति के अधीन रहता है और समाधि मे जीवात्मा के अधीन प्रकृति रहती है। जब अफसर फौज के अधीन रहता है तो फौज उसे मार डालती है और जब अफसर के अधीन फौज रहती है तो अफसर चाहे जो कर सकता है।

२४. जिसे आधा घण्टा निर्विकल्प समाधि हो जाती है वही सूक्ष्म सृष्टि को देख सकता है, क्योंकि सजातीय होने पर ही अपनी जाति की सृष्टि से संसर्ग हो सकता है। अतः जो अपने सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से अलग कर सकता है वही सूक्ष्म सृष्टि को देख सकता है।

२५. आँखें खुली रखकर ध्यान करना हो तो पलकों पर पूरा ध्यान रखे कि वे हिलें नहीं। कारण कि आँखों से ही संसार आरम्भ होता है। जिस समय ध्यान के लिये सीधा होकर बैठे तो शरीर को बिलकुल ढीला छोड़ दे तथा श्वास खींचने और छोड़ने का प्रयत्न भी न करे। शरीर को हिलाने की चेष्टा न करे, बल्कि न हिलने का ही लक्ष्य रखे। ऐसा करने से अनायास ही केवली कुम्भक हो जाता है, और केवली कुम्भक सिद्ध होने पर संसार में ऐसी कौन वस्तु है जो सिद्ध न हो सके—'केवलीकुम्भके सिद्धे किं न सिद्ध्यति भूतले।'

२६. इच्छा, क्रिया और ज्ञान—इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध है। क्रिया रोक देने से आसन और प्राणायाम हो जाते हैं। प्राणायाम अर्थात् प्राण का आयाम यानी प्राणों का संयम या प्राणों का शान्त हो जाना। इसी प्रकार इच्छा की निवृत्तिहोने पर धारणा और ध्यान हो जाते हैं तथा इच्छापूर्वक क्रिया न करने पर क्रिया की शान्ति अर्थात् समाधि हो जाती है। ज्ञान तो मानो एक अफसर है, जो सब का साक्षीमात्र है। करने-धरने वाली इच्छा है और क्रिया उसका व्यापार है।

२७. ध्यान का अभ्यास परिपक्व हो जाने पर निद्रा कम हो जाती है, क्योंकि ध्यान ही से निद्राजनित सुख भी मिल जाता है। इसी से ध्यानाभ्यासी पुरुष एक-डेढ़ घण्टा सोकर भी रह सकता है। जब ध्यान स्वाभाविक हो जाता है तो फिर आराम की इच्छा नहीं रहती। जब चित्त से विक्षेप निकल जाय तभी ध्यान पूरा हुआ समझो।

२८. चिन्तन से चिन्तन दूर होता है, जब भगवच्चिन्तन पूर्ण हो जाता है तो जगच्चिन्तन स्वयं ही छूट जाता है। चिन्तन ही को ध्यान भी कहते हैं।

२६. ध्यान के समय शरीर को मन के साथ मिलाना नहीं चाहिये। यदि मन स्थिर न हो तो भी शरीर को नहीं हिलने देना चाहिये। इस प्रकार शरीर को स्थिर रखकर चित्त को एकाग्र रखने का प्रयत्न करे।

३०. पहले तो समाधि और जागृति दो ही अवस्थाएँ थीं। पीछे स्वप्न और सुषुप्ति और बढ़ गयीं। यदि कोई आठ घंटा समाधि में रह सके तो फिर सोलह घण्टा जागृति में रह सकता है, उसे सुषुप्ति की आवश्यकता नहीं होगी। छः घण्टे से कम समाधि होने पर तो सुषुप्ति में रहना ही पड़ेगा।

३१. ध्यान में हठ की आवश्यकता है। एक लक्ष्य में वृत्ति को स्थिर करके तदाकार रखना ही हठ है, इसी से तो इसके सिद्ध होने में जन्म-जन्मान्तर लग जाते हैं। रास्ता चलने से वह मार्ग ही आगे का रास्ता भी दिखा देता है। सत्संग से भी इसमें कुछ सहायता मिलती है, किन्तु यह गौण पक्ष है। मुख्य पक्ष तो यही है कि गुरु जो कुछ बतावे उसी पर दृढ़तापूर्वक लगा रहे।

३२. चाहे ज्ञान हो या भक्ति जब तक विक्षेप निवृत्त नहीं होगा तब तक सुख नहीं मिल सकता। विक्षेप की निवृत्ति न होने से ज्ञानी और भक्तों में भी आसुरी सम्पत्ति रह जाती है। देखो, शिशुपाल आदि को भगवान् मिल गये थे, तो भी उनका आसुरी भाव निवृत्त नहीं हुआ। प्रशंसनीय तो वही ज्ञान और भक्ति हैं, जिनमें दैवी सम्पत्ति रहे। यह विक्षेप की निवृत्ति ध्यान द्वारा निर्विकल्प समाधि प्राप्त होने पर ही होती है।

३३. रोगादि के कारण विस्मृति होना बुरा है, किन्तु ध्यान या प्रेम से विस्मृति होना बहुत अच्छा है।

३४. गाढ़ सुषुप्ति तमोगुण की पराकाष्ठा है और समाधि सत्त्वगुण की पराकाष्ठा है। सुषुप्ति में अज्ञान के कार्य का लय हो जाता है और कारणस्वरूप अज्ञान रह जाता है, तथा समाधि में सत्त्वगुण के कार्य का लय होकर कारणरूप विशुद्ध सत्त्व रह जाता है। सत्त्वगुण की इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना पड़ता है, इसलिये यह जन्य है और सुषुप्ति प्रपञ्च से थकावट होने पर स्वभाव से ही होती है, इसलिये जन्य नहीं है। और जो जन्य होती है उसे अवस्था ही कहते हैं।

३५. जब लड़की छोटी होती है तो अपने पिता के अधीन रहती है; किन्तु युवती होने पर वह अपने पतिदेव को अपने अधीन कर लेती है। इसी प्रकार समाधि प्राप्त होने पर माया

अपने अधीन हो जाती है। सारी सिद्धियाँ समाधिस्थ पुरुष के पीछे-पीछे चलने लगती हैं। सुषुप्ति में जीव भगवान् के अधीन रहता है, किन्तु समाधि में भगवान् जीव के अधीन हो जाते हैं। समाधि तो अस्सी हजार वर्ष तक की सुनी गयी है। किन्तु सुषुप्ति अधिक नहीं बढ़ सकती। सुषुप्ति में अज्ञान रहता है और समाधि में ज्ञान की स्थिति मानी गयी है।

३६. ध्यान में अनुसंधान नहीं छूटना चाहिये। यदि अपने को भूल जाय और लक्ष्य भी छूट जाय तो यह ध्यान का विघ्न होगा। लक्ष्य से कभी दूर न हो अर्थात् और सब छूटकर केवल लक्ष्य बना रहे।

३७. ध्यान के समय मुख्यतया अपने इष्ट के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिये। यदि स्वरूप में चित्त स्थिर न हो, मनोराज्य होने लगे तो ध्येय की लीलाओं का ही मनोराज्य करो। रामायण में भगवान् राम की और भागवत में श्रीकृष्णचन्द्र की जिन लीलाओं का वर्णन है उनका चिन्तन करो। यह भी ध्यान ही है। देखो, ध्यान और कीर्तन तो सभी करते हैं। इनसे कोई भी खाली नहीं है। किसान अपने खेत का ध्यान करता है, मुकद्मेबाज अपने मुकद्मे का, गवाह अदालत में पहुँचने का और व्यापारी लोग बम्बई-कलकत्ता आदि का ध्यान करते रहते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि ये लोग संसार का ध्यान करते हैं और भक्त संसार को छोड़कर अपने इष्ट का चिन्तन करता है। सांसारिक चिन्तन को छोड़कर भगवच्चिन्तन में लगना—यही जीव का कर्त्तव्य है। इष्टाकार वृत्ति को रखते हुए ही सारे कर्म करे। यदि रोना हो तो इष्टदेव की किसी लीला का चिन्तन करते हुए ही रोवे और हँसने की इच्छा हो तो इष्टदेव की लीला को सामने रखकर ही हँसे। खेलना हो तब भी किसी इष्टलीला का आश्रय

लेकर ही खेले। जिसकी ऐसी स्थिति हो जाती है वह आसन से बैठे अथवा न बैठे और शरीर से चाहे बीमार ही हो, उसका काम बन जाता है।

३८. अधिक खानेवाला, अधिक सोनेवाला, अधिक बोलने वाला और अधिक खाली बैठनेवाला पुरुष ध्यान नहीं कर सकता। जो सब काम नियम से करता है वही ध्यान का अधिकारी है।

३९. शरीर में जो भारीपन होता है वह वायु और कफ के कारण होता है। पित्त अर्थात् गर्मी के बढ़ जाने पर शरीर हल्का हो जाता है। गर्मी ही को बिजली भी कहते हैं। आसन और प्राण के स्थिर होने पर शरीर में बिजली पैदा होती है। यदि शरीर से कोई भी क्रिया की जाती है तो उसके साथ बिजली निकल जाती है। बिजली को रोकने से शरीर नीरोग हो जाता है। आसन स्थिर करने के लिये ऐसा संकल्प करना चाहिये कि जिस प्रकार पृथ्वी को धारण करने पर शेषजी बिलकुल नहीं हिलते उसी प्रकार मैं भी स्थिर रहूँगा। मैं शरीर और प्राण का द्रष्टा हूँ। शरीर और प्राण भगवान् की विभूति हैं और मैं इनका साक्षी हूँ। मन के सामने शरीर और प्राण को देखते रहो। प्राण की गति जानने के लिये नाभि पर दृष्टि रखो। यदि शरीर हिलेगा तो प्राण की गति बढ़ जायगी और यदि शरीर बिना हिले ही प्राण की गति बढ़ जाय तो समझो कि निद्रा-तन्द्रा आ रही है। अर्थात् मन लय की ओर बढ़ रहा है।

४०. अभ्यास तो प्राण और मन की लड़ाई है। यदि प्राण में मन का लय होता है तो तमोगुण बढ़ जाता है, और यदि मन में प्राण का लय होता है तो सत्त्वगुण की वृद्धि होती है। तमोगुण बढ़ने पर प्राण की गति तेज हो जाती है और सत्त्वगुण की

वृद्धि होने पर वह बिल्कुल स्थिर हो जाता है। जब मन प्राण के द्वारा कार्य करने लगता है तो रजोगुण बढ़ जाता है। इस अवस्था में प्राण की गति तो सामान्य रहती है, किन्तु मन में संकल्प-विकल्प होने लगते हैं। ऐसा होने पर मन को संकल्पों से हटाकर लक्ष्य पर स्थिर करना चाहिये और प्राण की गति को तटस्थ होकर देखना चाहिये। ऐसा करने से मन शांत हो जायगा।

४१. हर समय जप करते हुए आसन लगाकर ही बैठना चाहिये और जब तक आसन दुःखने न लगे तब तक उसे बदलना नहीं चाहिये। यहाँ तक कि अन्य सब काम करते हुए भी जब-जब बैठना पड़े स्थिर आसन से ही बैठो। इससे आसन ठीक हो जायगा।

४२. शरीर प्राणों का ही कार्य है। प्राण में विकार होने से ही शरीर में भी विकार होते हैं और तरह-तरह के रोग पैदा हो जाते हैं। प्राण से ही भूख लगती है, प्राण ही भोजन को खाता और पचाता है तथा प्राण ही शरीर को पुष्ट करता है। प्राण से ही कामादि विकार उत्पन्न होते हैं, प्राण से ही सन्तान और कुटुम्ब की वृद्धि होती है और प्राण के स्थिर होने से ही सब विकार शान्त हो जाते हैं। फिर भूख-प्यास की भी वाधा नहीं होती, मल-मूत्र भी कम हो जाते हैं, कफ शुद्ध हो जाता है और स्वयं ही ब्रह्मचर्य का भी पालन होने लगता है। देखो, बच्चे में प्राण की वृद्धि नहीं होती, इसी से वह निर्विकार भाव से माँ की गोद में पड़ा रहता है। इसी प्रकार जिस किसी का प्राण स्थिर हो जाता है वह बच्चे की तरह निर्विकार हो जाता है। उसकी मृत्यु भी नहीं हो सकती, वह तो अमर हो जाता है। अतः प्राणों को स्थिर करना मनुष्य का प्रधान कर्त्तव्य है। और यही मनुष्य जन्म का फल है।

४३. शरीर और प्राण भगवान् की वस्तुएँ हैं, उन्हें भगवान् को अर्पण कर देना अर्थात् मैं शरीर और प्राण से अलग इनका साक्षीमात्र हूँ—ऐसा अनुभव करना ही आत्मनिवेदन भक्ति है।

४४. एड़ी से जंघा तक पृथ्वी का भाग है, जंघा से नाभि तक जल का, नाभि से कण्ठ तक अग्नि का, कण्ठ से भृकुटि तक वायु का और भृकुटि से ऊपर आकाश का भाग है। तथा आत्मा इन सबसे अलग इनका साक्षी है।

४५. दृश्य का अनात्मवर्ग से विवेक करते समय पहले तो ऐसी भावना करो कि मैं रूप से अलग हूँ। अर्थात् काला, पीला, हरा, लाल जो कुछ भी दीखता है उस सबसे मैं अलग हूँ। फिर ऐसा विचारो कि सुख-दुःख, राग-द्वेष, हर्ष-शोक जो कुछ भी मन की कल्पनाएँ हैं उन सबसे भी मैं अलग हूँ।

४६. भगवान् के साकार स्वरूप का ध्यान करना हो तो पहले सुखासन से स्थिरतापूर्वक बैठे, दोनों हाथों को घुटनों पर रखे, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करे। मन को विषयों से हटावे तथा आगे-पीछे की बातों का चिन्तन न करे। फिर भगवान् के मनोहर अङ्गों में मन को घुमावे। एक अङ्ग से दूसरे अङ्ग पर क्रमशः चित्त को ले जाय तथा जिस अङ्ग में विशेष प्रेम हो वहाँ उसे कुछ देर ठहरावे। अन्त में अधिक देर तक एकाग्रचित्त से देखता रहे। उस समय अन्य विषयों का चिन्तन न करे। इसी प्रकार प्रतिदिन अभ्यास करने से थोड़े ही दिनों में प्रसन्नता एवं आनन्द का आविर्भाव होने लगता है। फिर उत्तरोत्तर अभ्यास बढ़ने से शरीर में स्तब्धता, रोमाञ्च, स्वेद और कम्प होने लगते हैं। तथा गुरुदेव की विशेष कृपा होने पर चित्त भगवान् में लीन हो जाता है। इस अवस्था में भक्त और भगवान् एक हो जाते

हैं। यही ध्यान की पूर्ण अवस्था है। इस अभ्यास में जल्दबाजी न करे, क्योंकि यह स्थिति पापों के सर्वथा क्षय, गुरुकृपा तथा भगवान् की दया हुए बिना प्राप्त नहीं होती। अपना पुरुषार्थ, भगवत्कृपा, गुरुकृपा और पूर्व पुण्य का संचय—ये सब इकट्ठे होने पर हीं पूर्ण अवस्था प्राप्त होती है। साधक को चाहिये कभी निराश न हो। साधन का मुख्य कारण है भगवत्कृपा और भगवान् की कृपा होती है भगवान् के नामस्मरण, सदाचार और निरभिमानता से।

४७. मन, शरीर और वाणी के व्यापार पर दृष्टि रखने की आवश्यकता है। अर्थात् मन के व्यापार पर दृष्टि रखकर यह देखे कि यह पवित्र संकल्प करता है या अपवित्र। तथा शरीर की स्थिरता और वाणी के संयम से भी मन के स्थिर होने में सहायता मिलती है। इन तीनों में से किसी एक के भी चंचल होने से तीनों चंचल हो जाते हैं। इनका परस्पर ऐसा ही सम्बन्ध है। अतः इन तीनों ही को स्थिर रखने का प्रयत्न करे, किसी के भी द्वारा व्यर्थ चेष्टा न करे। जैसे शरीर को बिना कारण इधर-उधर हिलाना अथवा तिनका आदि तोड़ना, वाणी से व्यर्थ बोलना तथा मनसे असत् चिन्तन करना। इन व्यर्थ व्यापारों को त्याग देने पर मन स्थिर हो जाता है।

४८. सम्पूर्ण प्रपञ्च को उदासीन दृष्टि से द्रष्टारूप में स्थित होकर देखने से वासना का क्षय हो जाता है और निर्विकल्प समाधि हो जाती है।

४९. विचार से संशय दूर हो जाता है और एकाग्रता से चित्त की चंचलता निवृत्त होती है। समाधि के पश्चात् शरीर तिनका के समान हलका हो जाता है उस समय चित्त स्थूल से हट-कर सूक्ष्म शरीर में स्थित हो जाता है।

ज्ञानी और ज्ञाननिष्ठा

प्र०—ज्ञान का अधिकारी कौन है ?

उ०—जिसे देखी-सुनी किसी भी वस्तु से मोह न रहे, सम्पूर्ण संसार और भगवान् से भी वैराग्य हो जाय, जिसके मल और विक्षेप निवृत्त हो गये हों तथा जो अत्यन्त वैराग्यवान् हो, वही ज्ञान का अधिकारी है।

'निष्किञ्चन इन्द्रियदमन, रमारमन इकतार।
तुलसी ऐसे सन्तजन, विरले या ससार॥
'राग-द्वेष जो खोइये खोजिये पद निरवान।
नानक यह मारग कठिन,कोई कोई गुरमुख जान॥

प्र०—ज्ञानी पुरुष की संसार के विषय में क्या धारणा रहती है ?

उ०—ज्ञानी की धारणा का कोई यथावत् वर्णन नहीं हो सकता तथापि व्यवहार-दृष्टि से उसका इस प्रकार विभाग कर सकते हैं—

(१) संसार मिथ्या है—यह मन्द ज्ञानी की धारणा है।
(२) संसार स्वप्नवत् है—यह मध्यम ज्ञानी की धारणा है।
(३) संसार का अत्यन्ताभाव है, अर्थात् संसार कभी हुआ ही नहीं—यह उत्तम ज्ञानी की धारणा है।

प्र०—जिज्ञासु में मुख्यतया क्या गुण होना चाहिये ?

उ०—जिज्ञासु में प्रधानतया वैराग्य होना चाहिये। यहाँ तक कि संसार के ही नहीं, भगवान् के नाम और रूप से भी वैराग्य हो,देखी सुनी जितनी भी वस्तुएँ हैं उन सभी के प्रति उसे

वैराग्य होना चाहिये। ज्ञान में जाति-पाँति का बन्धन नहीं है, परन्तु वैराग्य के बिना ज्ञान नहीं हो सकता। वैराग्यवान् ही ज्ञान का मुख्य अधिकारी है।

प्र०—जीवन्मुक्त और अवतार में क्या अन्तर है?

उ०—जीवन्मुक्त में केवल ज्ञाननिष्ठा ही रहती है, किन्तु अवतार में कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों निष्ठाएँ पूर्णरूप से पायी जाती हैं। हाँ, सत्ता दोनों की दृष्टि में एक ही रहती है।

प्र०—आपने कहा था कि एक ज्ञान तो वह है जो सुन-सुना कर होता है और दूसरा अनुभवगम्य है। इनमें पहला ज्ञान बोध नहीं कहा जा सकता। अतः कृपया यह बतलाइये कि अनुभवगम्य ज्ञान की प्राप्ति के लिये क्या करना चाहिये?

उ०—इसके लिये शास्त्रों में अनेकों साधन बताये गये हैं। उसमें जैसा मेरा विचार है वह कहे देता हूँ। प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखायी देने के लिये यह आवश्यक है कि अपनी आँखें साफ हों और दर्पण भी स्वच्छ हो। आत्मानुभव में विवेक की स्फुटता ही आँखों का साफ होना है और चित्त का राग-द्वेष रहित होना दर्पण की सफाई है।

प्र०—विवेक की स्फुटता और चित्त की शुद्धि—ये दोनों तो चित्त के धर्म हैं। इनमें आँख और दर्पण के समान भेद किस प्रकार किया जा सकता है?

उ०—विवेक दो प्रकार का होता है—(१) नित्यानित्यवस्तु-विवेक और (२) तत्त्वविवेक। नित्यानित्यवस्तुविवेक तो अज्ञान-के रहते हुए ही हो जाता है। उसमें वस्तुतः अनित्य वस्तु में ही नित्य और अनित्य दो विभाग कर लिये जाते हैं। चित्त की दो अवस्थाएँ हैं—(१) कार्यावस्था और (२) कारणावस्था। इनमें से कार्यावस्था को अनित्य और कारणावस्था को नित्य मान लिया

जाता है। वस्तुतः ये दोनों ही अनित्य हैं। किन्तु तत्त्वविवेक में साक्षी सम्पूर्ण प्रपञ्च से अलग रहता है और सारा प्रपञ्च एक ओर होता है इसलिये इसमें चित्त अलग रहता है, और अपना शुद्ध स्वरूप अलग। अतः यह अपनी आँखों की सफाई के समान है और इसमें चित्त दर्पणतुल्य है।

परन्तु यह तत्त्वविवेक भी पूर्ण बोध नहीं कहा जा सकता। इसमें भी अपने से भिन्न दृश्य वस्तु की सत्ता बनी रहती है। यह अद्वैतबोध के बिना निवृत्त नहीं हो सकती।

प्र०—इसके लिये साधक को क्या करना चाहिये?

उ० जब साक्षी और साक्ष्य का विवेक हो जाय तो यह विचारना चाहिये कि यह जितना प्रतीयमान दृश्य है वह अलग-अलग है या एक। जिस समय यह एक निश्चय हो जायगा उसी समय इसके अत्यन्ताभाव का बोध हो जायगा और अद्वैततत्त्व में स्थिति हो जायगी।

प्र०—समस्त दृश्य की एकता का अनुभव हो जाने से ही उसके अभाव का बोध कैसे माना जा सकता है? जिस प्रकार भेददृष्टि रहने पर वह अपने को परिच्छिन्न उपाधि का साक्षी और उससे अलग समझता था उसी प्रकार वह अपने को सम्पूर्ण प्रपञ्च का साक्षी और उससे असङ्ग अनुभव करते हुए भी दृश्य को सत्य ही क्यों न समझेगा?

उ०—जब सारा प्रपञ्च एक सत्ता में आ जायगा तब उसका कोई कारण न मिलने से वह सत्य सिद्ध नहीं हो सकेगा। सांख्य ने जो प्रकृति और पुरुष दो स्वतन्त्र तत्त्वों को सत्य माना है वह युक्ति और अनुभव के सर्वथा विरुद्ध है। जब दो स्वतन्त्र तत्त्व सत्य हैं तो कोई इनका आधार भी अवश्य होना चाहिये,

क्योंकि बिना आधार के कोई भी आधेय पदार्थ रह नहीं सकता और जब वे दो हैं तो आधेय ही हैं। इसलिये ऐसी अवस्था में दृश्य की सत्यता कभी सम्भव नहीं है।

इस प्रकार जब दृश्य का अत्यन्ताभाव बोध हो जाता है तो उसे समस्त दृश्य अपने में ही अनुभव होने लगता है। इस अवस्था में उसका किसी भी वस्तु अथवा क्रिया से राग या द्वेष नहीं रहता। विवेकी को तो सत् में राग और असत् में द्वेष रहता है, परन्तु बोधवान् की सभी में समदृष्टि रहती है; जैसा कि श्री गोसाईंजी ने कहा है—

सबके प्रिय सबके हितकारी। सुख दुख सरिस प्रसंसा गारी।

शास्त्रों में से ऐसे बोधवान् व्यक्ति तीन प्रकार से क्रिया करते देखे जाते हैं-(१) कर्मकाण्डी, जैसे वसिष्ठादि, (२) उपासक जैसे नारदादि और (३) विरक्त, जैसे शुकदेव वामदेवादि। इस प्रकार यद्यपि उनके व्यापार अलग-अलग हैं, तो भी बोध में कोई अन्तर नहीं है। उनकी वे क्रियाएँ बालवत् लीलामात्र होती थीं।

प्र०—आपने जिस प्रकार ये अलग-अलग व्यापार बतलाये, उसी प्रकार एक ही बोधवान् समय-समय पर सभी व्यापारों को भी तो कर सकता है न?

उ०—हाँ, क्यों नहीं कर सकता। नाटक में देखते नहीं हो, एक ही व्यक्ति कितने व्यापार करता है? इसी प्रकार वह भी समय-समय पर विभिन्न व्यापार करके भी उनसे अलिप्त रहता है। परन्तु इस प्रकार सब कुछ करते हुए भी वस्तुतः वह कुछ नहीं करता, क्योंकि उसकी दृष्टि प्रपञ्च के अत्यन्ताभाव में स्थित रहती है।

प्र०—जिस प्रकार आपने ज्ञानी के व्यापार के तीन भेद बतलाये हैं उसी प्रकार वह नीतिनिष्ठ भी हो सकता है; और यदि

नीतिनिष्ठ होगा तो नीति के प्रति राग और अनीति के प्रति द्वेष का प्रदर्शन भी आवश्यक होगा।

उ०—हाँ, नीतिनिष्ठ भी अवश्य हो सकता है। परन्तु उस अवस्था में अथवा पहली तीन अवस्थाओं में भी उसका जो राग-द्वेष का प्रदर्शन होगा वह केवल लीलामात्र होगा, वास्तविक नहीं। यदि राग-द्वेष में वास्तविकता आ जाती है तब तो बोधवान् क्या, उसे विवेकी भी नहीं कह सकते, क्योंकि रागद्वेष की दृढ़ता दृश्य की सत्यता माने बिना नहीं हो सकती और दृश्य की सत्यता तो तत्त्वविवेक होने पर ही निवृत्त हो जाती है।

प्र०—ऐसी स्थिति प्राप्त करने के लिये तो विचार ही मुख्य जान पड़ता है, उसके लिये ध्यानादि की क्या आवश्यकता है ?

उ०—जब तक प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव बोध नहीं होता तब तक तो विचार मुख्य है; परन्तु जब यह निश्चय हो जाय तो उस पर अधिक जोर देने की आवश्यकता नहीं है। वह गौण हो जाना चाहिये। फिर तो ध्यान ही मुख्य होना चाहिये। विचार से भी वृत्ति प्रपञ्च के अत्यन्ताभाव को ग्रहण तो करती है, परन्तु उसं पर स्थिर नहीं रहती; किन्तु ध्यान से उसमें स्थिरता आती है। यदि ध्यानादि में न लगकर विवेक में ही लगा रहेगा तो उसे उसी का व्यसन हो जायगा और वह जीवन्मुक्ति के विशेष आनन्द से वञ्चित रह जाएगा। इसी को शास्त्रवासना भी कहते हैं।

प्र०—यह तो सिद्ध पुरुषों की स्थिति का वर्णन हुआ। अब यह बतलाइये कि साधक को यदि व्यापार में विक्षेप होता हो तो उसे व्यापार का त्याग करना चाहिये या विक्षेप की निवृत्ति का यत्न करना चाहिये ?

उ०—साधक को व्यापार का संकोच करना ही आवश्यक है। विक्षेप के कारण को रखते हुए केवल विक्षेप की निवृत्ति करने

का प्रयत्न करना ठीक नहीं। व्यापार का संकोच होने से और विचार पर जोर रहने से स्वतः ही विक्षेप भी निवृत्त हो जायगा।

प्र०—यदि रोग आदि हो जाय तो उसकी चिकित्सा करानी चाहिये या उसे सहन करते रहना चाहिये?

उ०—रोग हमें दबाना चाहता है; उससे हमारा विचार मन्द भी पड़ जाता है। इसलिये उसकी निवृत्ति अवश्य करनी चाहिये। परन्तु विचारवान् पुरुष उसी के पीछे नहीं पड़ जाता। वह तो यही देखता है कि भयंकर दुःख के समय भी उसका विचार तो नहीं छूटता। वह कभी हाय-हाय करके प्राण नहीं देता, क्योंकि वह जानता है कि रोग उसका दास है; वह कैसा ही भय दिखलावे उसके ऊपर प्रभाव नहीं डाल सकता। भला, जो व्यक्ति यह बात अच्छी तरह जानता है कि मैं एक ऐसी ठोस वस्तु हूँ कि कोई भी शस्त्र मेरा छेदन नहीं कर सकता वह किसी को हाथ में तलवार लेकर अपने ऊपर आता देखकर भी कैसे कम्पायमान हो सकता है?

प्र०—जिसे बोध हो गया है क्या उसे भी सत्संग आदि करने की इच्छा होती है?

उ०—लोक में यह बात देखने में आती है कि पहलवान भले ही मरणासन्न हो जाय, वह जिस समय कहीं दङ्गल का समाचार पाता है फौरन पहुँच जाता है। उसे वहाँ जाकर कुछ सीखना भी नहीं होता, तो भी उससे वहाँ जाये बिना नहीं रहा जाता, वह उसका स्वभाव है। इसी प्रकार जहाँ कहीं विचार की बात होती होगी वहाँ जाने के लिये उसकी प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। उसे उसकी आवश्यकता नहीं होती, तो भी वह वहाँ जाये बिना नहीं रह सकता।

प्र०—यह कब समझना चाहिये कि बोध की प्राप्ति हो गयी ?

उ०—जिसमें जीव, ब्रह्म आदि किसी प्रकार का अहंभाव नहीं है, जो व्यवहार में सब कार्य ठीक-ठीक करता है, किन्तु परमार्थतः सबका अत्यन्ताभाव देखता है तथा जिसकी दृश्य में मिथ्यात्वबुद्धि भी निवृत्त हो गयी है उसे बोधवान् समझना चाहिये। जिसके 'कुछ हुआ है' अथवा 'कुछ नहीं हुआ है' ये दोनों ही भाव निवृत्त हो गये हैं वह बोधवान् है। 'कुछ हुआ है' इससे व्यवहार सत्ता में राग रहता है और 'कुछ नहीं हुआ है' इससे उसमें द्वेष रहता है। बोधवान् में ये दोनों ही नहीं होते। 'कुछ नहीं हुआ' यह बात वह केवल जिज्ञासु के लिये कहता है; क्योंकि हुआ है' अथवा 'नहीं हुआ' ये दोनों ही भाव अहंबुद्धि को लेकर रहते हैं। 'प्रपञ्च हुआ है' यह भाव अनात्मबुद्धि से होता है और 'नहीं हुआ' यह आत्मबुद्धि से होता है। ये दोनों ही वृत्ति के कार्य हैं। परन्तु आत्मस्वरूप इन वृत्तियों से परे है। इसलिये बोधवान् में ये दोनों ही भाव नहीं रहते।

प्र०—इस प्रकार की पूर्ण स्थिति हो जाने पर भी व्यवहार में वृत्ति आदि से तादात्म्य क्यों हो जाता है ?

उ०—बोधवान् का वृत्ति आदि से तादात्म्य कभी नहीं होता। उसकी जो कुछ चेष्टा होती है वह नाटकवत् होती है जिस प्रकार नाटक का निपुण पात्र सब प्रकार का अभिनय करते हुए भी अपने को राजा, मन्त्री अथवा और कुछ कभी नहीं समझता, उसी प्रकार बोधवान् भी बुद्धि आदि का अत्यन्ताभाव देखता हुआ सर्वदा अपने को उनसे असङ्ग अनुभव करता है। परन्तु ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त तीव्र अभ्यास की आवश्यकता है।

प्र०—यह अभ्यास किस प्रकार का होना चाहिये यह बतलाइये ?

उ०—अभ्यास दो प्रकार का है—(१) विवेककालीन और (२) बोधप्राप्ति के पश्चात् किया जाने वाला। विवेककालीन अभ्यास का नाम ही निदिध्यासन है। निदिध्यासन का तात्पर्य है-सजातीय प्रत्यय का प्रवाह और अनात्माकार वृत्ति का तिरस्कार करना। इससे त्वं पद का शोधन होता है। निदिध्यासन में अपने को पञ्चकोश का साक्षी निश्चय किया जाता है; फिर जब अपने को पञ्चभूत के साक्षी से अभिन्न अनुभव करने पर अखण्डाकार वृत्ति होती है तब बोध की प्राप्ति कही जाती है। निदिध्यासन में पञ्चभूत और पञ्चकोश के द्रष्टाओं में भेद रहता है। इनका अभेद अनुभव हो जाने पर जो स्थिति होती है उसे निदिध्यासन नहीं कह सकते। वह तो ब्राह्मी स्थिति है।

उस समय उसे सारा प्रपञ्च मनोराज्य प्रतीत होता है। वह मनोराज्य शास्त्रीय और अशास्त्रीय दो प्रकार का है। जो अपठित होते हैं उन्हें अशास्त्रीय मनोराज्य होता है और जो पठित होते हैं उन्हें शास्त्रीय मनोराज्य हुआ करता है। इस मनोराज्य की निवृत्ति के लिये तथा ज्ञानरक्षा, तप, विसंवादाभाव, दुःखनाश और सुख-प्राप्ति इन पाँच प्रयोजनों की सिद्धि के लिये उसे हर समय नाम-रूपमय जगत् का बाध करते रहना चाहिये। ऐसा करते-करते जब वृत्ति स्थिर हो जाती है-तब उसी को ब्राह्मी स्थिति कहते हैं।

प्र०—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति-इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है?

उ०—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति-इन दोनों का चिन्तन करना ही अमङ्गल है।

प्र०—उपासना और ज्ञान की एकता किस प्रकार सम्भव है तथा ज्ञानी उपासना कर सकता है या नहीं?

उ०—यदि ऐसा माना जाय कि ज्ञानी की दृष्टि में उपासना शून्य है तो वस्तुतः वह ज्ञानी ही नहीं, क्योंकि उसके लिये द्वैत

यना हुआ है। और यदि वह उपासना करता है तो यह नहीं माना जा सकता कि उसकी दृष्टि में जगत् का अत्यन्ताभाव हो गया है। अध्यारोप और अपवाद जिज्ञासु ही के लिये हैं। जगत् त्रिकाल में नहीं है—यह अपवादमात्र है, इसे सिद्धान्त नहीं कह सकते। अतः यह विचारना चाहिये कि सिद्धान्त क्या है?

हमें तीन प्रकार के ज्ञानी दिखायी देते हैं-(१) वामदेवादि, जो निर्विकल्प समाधि में संलग्न हैं, (२) नारदादि, जो भगवद्-भक्तिपरायण हैं और (३) वसिष्ठादि, जो कर्मकाण्ड में लगे हुए हैं। इस समय ज्ञानियों के विषय में दो मत प्रचलित हैं। कुछ लोगों का तो कथन है कि तत्त्ववेत्ता लोकसंग्रह के लिये अपने वर्णाश्रमानुसार सब प्रकार के कर्म करता रहता है तथा कुछ लोगों का मत है कि ज्ञानी के लिये कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है। यदि कहो कि वह स्वरूपदृष्टि से कुछ नहीं करता, किन्तु व्यवहारतः सब कुछ करता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि यह बात तो सभी के विषय में कही जा सकती है। अपना शुद्ध स्वरूप तो सभी का अक्रिय है, उसमें ज्ञान अथवा अज्ञान से कोई विशेषता थोड़े ही होती है। वस्तुतः ज्ञानी की दृष्टि में तो कोई अज्ञानी है ही नहीं, उसके लिये तो सब उसी के स्वरूप हैं।

प्र०—क्या इसका यही तात्पर्य है कि—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥❀

—इस भगवदुक्ति के अनुसार वह प्रारब्ध-प्राप्त सभी परिस्थितियों में उदासीन रहता है।

❀ हे अर्जुन! सत्त्वगुण की वृत्ति प्रकाश, रजोगुण की वृत्ति क्रिया और तमोगुण की वृत्ति मोह प्राप्त होने पर ज्ञानी उनमें द्वेष नहीं करता और इनके न रहने पर वैसी स्थिति की इच्छा नहीं करता।

उ०—तुमने जिस उदासीनता की बात कही है वह समष्टि-दृष्टि से है या व्यष्टिदृष्टि से ? तत्त्ववेत्ता की दृष्टि में तो समष्टि व्यष्टि भेद ही नहीं है। ऐसी स्थिति में अन्तःकरण ही कहाँ है ? द्रष्टा तो सिद्ध वस्तु है और वह ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानी की स्थिति सर्वदा एकात्मवाद पर ही रहती है, उसके लिये अनेक कर्ता हैं ही नहीं। अतः सारे संसार का व्यवहार उसी का है।

प्र०—किन्तु यह भी तो औपचारिक दृष्टि ही है ?

उ०—इसे औपचारिक क्यों कहते हो ? यह क्यों नहीं कहते कि यहाँ व्यतिरेक करके अन्वय किया गया है। आज-कल वेदान्तियों से एक बहुतबड़ी भूल होती है। वे व्यतिरेक तो करते हैं, किन्तु अन्वय नहीं करते। यदि अन्वय-दृष्टि से सारा प्रपञ्च उसी का स्वरूप है, यदि निखिल प्रपञ्च में वही स्थित है तो सब कुछ वही तो कर रहा है। वही उपासना करता है और वही कर्म कर रहा है। लौकिक-अलौकिक, व्यावहारिक-पारमार्थिक सारी प्रवृत्तियाँ उसी की तो हैं। सिद्धान्त यही है। सृष्टि के अत्यन्ताभाव का तो जिज्ञासु के लिये ही उपदेश किया जाता है। सिद्धान्ततः तो 'अजोऽपि कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नाप्यजः' अर्थात भगवान् अजन्मा हैं—यह कथन भी कल्पित व्यवहारदृष्टि से ही है, वस्तुतः तो वे अज भी नहीं हैं। भगवान् तो अज और जायमान दोनों ही हैं। यहाँ 'अज' का निषेध इसलिये किया गया है कि जन्म भी भगवान् से भिन्न नहीं है। वे स्वयं ही जन्मरूप भी हैं।

'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥' *

---

* न प्रलय है, न उत्पत्ति है, न बुद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त है—यही परमार्थ है।

इस श्लोक से सब प्रकार के विकल्पों का निषेध करके उस परम तत्त्व को लक्षित कराया गया है।

एक बात मैं पूछता हूँ—तुम जो कहते हो कि 'परमार्थतः कुछ भी नहीं है,' सो ज्ञान वृत्तिजन्य है या परमार्थ? देखो, वृत्ति के बिना कोई भी ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार घटाकार वृत्ति हुए बिना घट ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार कोई भी ज्ञान हो वह वृत्तिसापेक्ष ही है। परन्तु परमार्थतः वृत्ति का भी अभाव है। जो ज्ञान वृत्ति को लेकर होगा वह 'मत' होगा वह सिद्ध वस्तु नहीं हो सकता। इसलिये वस्तुतः तो अद्वैतवाद भी एक मत ही है।

प्र०—हम तो द्वैत की अपेक्षा से ही अद्वैत स्थापित करते हैं, वस्तुतः तो अद्वैत भी नहीं है।

उ०—यह क्यों कहते हो कि अद्वैत भी नहीं है। यह क्यों नहीं कहते कि द्वैत और अद्वैत दोनों वही हैं। हमे सिद्धान्ततः यह कथन अभिमत नहीं है कि व्यवहारतः प्रपञ्च है, परमार्थः नहीं। यह केवल प्रक्रियामात्र है। वस्तुतः तो भाव और अभाव दोनों ही परमार्थरूप हैं। प्रपञ्चाभाव को तो जिज्ञासु ही परमार्थ मानता है। यदि हम स्वप्न में ऐसा विचार करने लगें कि स्वप्न क्या है और स्वप्नद्रष्टा क्या है तो उस अवस्था में भी उनका विवेक हो ही सकता है तथा उसी समय यह भी सिद्ध हो सकता है कि जीव, प्रकृति और ईश्वर—ये तीन तत्त्व हैं। परन्तु विचार किया जाय तो क्या वे सब स्वप्नद्रष्टा से भिन्न हैं? स्वप्नद्रष्टा ही तो समग्र स्वप्नरूप है। अतः सिद्धान्त यही है कि यह सब कुछ द्रष्टा ही है।

आजकल जो अधिष्ठान-अध्यस्तक्रम से विचार किया जाता

है उसमें एक बड़ा दोष यह रह जाता है कि जिज्ञासुजन इसी को सिद्धान्त मान बैठते हैं। वस्तुतः यह प्रक्रिया है। इसको सिद्धान्त मान बैठने से कर्म और उपासना से द्वेष हो जाता है। हमें सोचना यह चाहिये कि यदि भगवान् निरुपाधिक हैं तो सोपाधिक कौन है? यदि वे लक्ष्यार्थ हैं तो वाच्यार्थ कौन है? यदि द्रष्टा ही सब कुछ है तो सोपाधिक वस्तु अथवा वाच्यार्थ क्या उससे भिन्न है?

परमार्थ तत्त्व के विषय में तीन पक्ष हैं-(१) मुझ से भिन्न कुछ नहीं है, (२) सब मैं ही हूँ और (३) सब कुछ वासुदेव ही है। इनमें पहला पक्ष व्यतिरेक ज्ञान है, दूसरा पक्ष समन्वय बोध है और तीसरा भक्ति पक्ष है। विचार से देखा जाय तो तीनों एक ही हैं।

मेरा कथन तो यह है कि जितना भी व्यवहार दिखायी देता है, वह सब परमार्थ है। अज्ञान रहने तक वह व्यवहार है, परन्तु वस्तुतः वह परमार्थ ही है। बोध होने से वस्तु में कोई अन्तर नहीं होता। वह ज्यों की त्यों बनी रहती है। जिस प्रकार स्वप्न की वस्तुएँ ज्यों की त्यों रहते हुए ही जाग पड़ने पर यही निश्चय होता है कि यह सब स्वप्न ही था, उसी प्रकार तत्त्वदृष्टि से यह प्रपञ्च ज्यों का त्यों भगवत्सत्ता ही है। विवेकदृष्टि में यह प्रपञ्च-सत्ता है, किन्तु वस्तुतः आत्मसत्ता ही है।

+ + +

प्र०—यदि आवरण भङ्ग करके वृत्ति नष्ट हो जाती है तो 'स्वरूपानुसन्धानेन वसेत्,' 'निमिषार्द्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं बिना' इत्यादि वाक्य किस प्रकार चरितार्थ होंगे?

उ०—जिस समय द्रष्टा और दृश्य का विवेक करते-करते दृश्य का अत्यन्ताभाव निश्चय होता है उस समय जो कुछ रह

जाता है वह क्या है ? उस समय जिस वृत्ति से सबका त्याग किया जा सकता है वह सर्वाभाव-रूपा वृत्ति रहती है। वह घटाकार-पटाकार-रूपा विशेष वृत्तियों के समान नहीं होती। वह सम वृत्ति है, उसी को शुद्धवृत्ति कहते हैं। 'दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' इस श्रुति ने जिस सूक्ष्मबुद्धि का उल्लेख किया है वह यही है। किन्तु इसी का नाम साक्षात्कार नहीं है। उस समय जब 'दशमस्त्वमसि,* इस न्याय से गुरु महावाक्य का उपदेश करते हैं, तब उसी से साक्षात्कार होता है। उसी को अभेदाकार वृत्ति या बोधवृत्ति कहते हैं और उसीका नाम वृत्तिव्याप्ति है। निषेधाकार वृत्ति समस्त उपाधि का निरासमात्र करती है, उससे बोध नहीं होता, केवल बोध ग्रहण की योग्यतामात्र आती है। इसके पश्चात् जब वृत्तिव्याप्ति होती है तो उसके लिये समस्त

---

* एक बार दस आदमी साथ-साथ विदेश को जा रहे थे। मार्ग में उन्हें एक नदी पार करनी पड़ी। जब वे नदी के दूसरे तट पर पहुँचे तो यह देखने के लिये कि कोई वह तो नही गया, अपनी गणना करने लगे। गिनते समय प्रत्येक पुरुष अपने सिवाय अन्य नौ व्यक्तियों को ही गिनता था। इस प्रकार एक मनुष्य कम देखकर वे बहुत चिन्तित हुए। इतने ही में एक आप्त (विश्वसनीय) पुरुष आया। उसने उनकी चिन्ता का कारण सुन कर उन्हें एक पंक्ति में खड़ा किया और पहले को एक, दूसरे को दो—इस प्रकार क्रमशः डण्डे लगाकर एक ओर करता गया। जब दशवाँ आदमी आया तो उसके दस डण्डे लगाकर कहा, 'दशमस्त्वमसि' (दसवाँ तू है)। इस प्रकार आप्त पुरुष की उक्ति से दशम का ज्ञान हो जाने पर वे सब शोक-मुक्त हो गये। इसी प्रकार जब समस्त अनात्मवर्ग का बाध कर देने पर गुरु के द्वारा महावाक्य का उपदेश होता है उसी समय बोध का उदय हो जाने से जिज्ञासु का सारा शोक निवृत्त हो जाता है।

वृत्तियाँ जलतरङ्गवत् स्वरूपभूत हो जाती हैं। उनके लिये सारा संसार ब्रह्ममय हो जाता है। इसी का नाम स्वरूपावस्थान है। मरुभूमि का ज्ञान हो जाने पर फिर जलरूप से प्रतीत होने पर भी उसकी दृष्टि में वह मरुभूमि ही रहती है। मैं देहादि हूँ—ऐसा भ्रम उसे कभी नहीं होता। जीवन्मुक्तावस्था में जो कार्य होता है उसमें समष्टि-व्यष्टि का भेद नहीं रहता और न द्रष्टा-दृश्य का ही भेद रहता है। जिसे विवेक हुआ है उसे यह बोध निरन्तर रहता है कि सारा प्रपञ्च मुझ से भिन्न नहीं है, उसके लिये केवल एक ही सत्ता रह जाती है। उसकी इस दृष्टि में कभी अन्तर नहीं आता।

प्र०—हमें तो मालूम होता है कि सब कुछ परमात्मा ही है-यह अन्वयदृष्टि व्यतिरेक-बोध से नीची ही है ?

उ०—यह बात नहीं है। अन्वयदृष्टि तो व्यतिरेक के पश्चात् प्राप्त होती है। 'नेति नेति' इत्यादि वाक्यों से सबका बाध हो जाने पर यह जो कुछ प्रतीत होता है उसके लिये वह आत्मसत्ता से भिन्न नहीं होता। प्रवृत्ति-निवृत्ति, साधन-साध्य और लौकिक व्यवहार—सभी उसे अपने से अभिन्न प्रतीत होता है। बोध हो जाने पर यदि वह आत्मसत्ता से भिन्न किसी की भी सत्ता देखता है तो वस्तुतः वह बोधवान् ही नहीं है। मेरे विचार से तो यह बोध के अनन्तर किया जानेवाला स्वरूपानुसन्धान और अभेद-भक्ति एक ही है। किन्तु यह स्वरूपानुसन्धान साधनकालीन स्वरूपानुसन्धान के समान नहीं होगा। उस समय तो केवल निषेधवृत्ति का ही अभ्यास किया जाता है। किन्तु इस समय निषेध करनेयोग्य कोई वस्तु ही नहीं रहती बल्कि सारी वस्तुएँ अपना स्वरूप ही हो जाती हैं।

प्र०—समाधि और बोध में क्या अन्तर है ?

उ०—समाधि निर्विकल्पावस्था है और बोध निर्विकल्प-स्वरूप है; समाधि कर्त्ता के अधीन है और बोध अकृत्रिम है। निर्विकल्पावस्था में वृत्ति रहती है, भले ही वह लीन हुई रहे; किन्तु बोध में ऐसा नहीं होता। वह तो निर्विकल्परूप, सब प्रकार के विकल्पों से रहित, समाधि आदि से रहित तथा आदि, मध्य और अन्त से रहित है।

'निर्विकल्पस्वरूपात्मा सविकल्पविवर्जितः
सदा समाधिशून्यात्मा आदिमध्यान्तवर्जितः ॥'

प्र०—'यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानं महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि' इस श्रुति का क्या तात्पर्य है ?

उ०—यह श्रुति जीवन्मुक्ति के अभ्यास का निरूपण करने वाली है। इसका तात्पर्य यह है कि विवेकी पुरुष वाणी का मन में निरोध करे। वाणी के निरोध का यह अर्थ नहीं है कि बोलना बन्द कर दें; इसे केवल यही समझना चाहिये कि आवश्यकता के अनुसार ही बोले, निरर्थक भाषण न करे। श्रीमधुसूदन स्वामी ने कहा है—'गोपश्वादिवद्वाङ्निरोधः' अर्थात् गौ एवं अन्य पशुओं के समान निरर्थक भाषण का निरोध करना चाहिये। इस प्रकार वाणी का मन में निरोध कर मन को ज्ञानात्मा यानी बुद्धि में लीन करे। मन द्वारा नानात्वदर्शन हुआ करता है उस नानात्व में एकत्व को देखना बुद्धि का कार्य है और यही मन का बुद्धि में निरोध करना है। फिर बुद्धि का महत्तत्त्व में निरोध करे। 'महत्तत्त्व' समष्टि-बुद्धि का वाचक है, उस महत्तत्त्व को शान्तात्मा में लीन करे। यहाँ यह शंका होती है कि क्रम को देखते हुए तो महत्तत्त्व का लय अव्यक्त में होना चाहिये था, इसे छोड़कर

शान्तात्मा में उसका लय करने के लिये क्यों कहा गया ? इसका उत्तर यही है कि अव्यक्त में लय करने पर तो प्रकृतिलय हो जायगा और इससे जड़ता आ जायगी, जो किसी प्रकार भी अभीष्ट नहीं है । इसलिये उसमें लय न करके उसे शान्तात्मा अर्थात् अपने स्वरूपभूत प्रत्यगात्मा में ही लय करे ।

प्र०—जो लोग बोध हो जाने पर वर्णाश्रमधर्म को त्याग देते हैं उनके विषय में आपका क्या मत है ?

उ०—यद्यपि ज्ञानी के लिये शास्त्र का कोई शासन नहीं है, तथापि यह तो नियम ही है कि बोध की प्राप्ति अन्तःकरण की शुद्धि होने पर ही होती है । एक बार दारानगर (बिजनौर) में श्रीमाधवानन्द सरस्वती आदि कई महात्माओं के सामने इस विषय में विचार हुआ था । वहाँ अधिकांश महात्माओं का यही मत ज्ञात हुआ कि दैवी सम्पत्ति तो महात्माओं में स्वभाव से ही रहा करती है, क्योंकि बिना निष्काम कर्म के चित्तशुद्धि नहीं होती और निष्काम कर्म दैवी सम्पत्तिवान् पुरुष ही कर सकता है । अतः स्वधर्म का यथावत् अनुष्ठान उसका स्वभाव ही बन जाता है । ज्ञानी तो चारों ही आश्रमों में होते हैं । जो पुरुष किसी आश्रमविशेष में रहते हुए भी उसके नियमों का उल्लंघन करते हैं उन्हें ज्ञानी कहा जाय या अज्ञानी ? हाँ, जो लोग आश्रमातीत हो गये हैं उनकी बात दूसरी है । किसी भी आश्रम में रहते हुए उसके नियमों की अवहेलना करना तमोगुण ही है ।

प्र०—किन्तु यह भी तो देखा गया है कि पूर्वकाल में दुर्वासा आदि कई महात्मा ऐसे भी हुए हैं जिनकी प्रकृति में सदा आसुरी भाव रहता था तथा असुरों में कोई-कोई ज्ञानी हो गये हैं ।

उ०—दुर्वासादि तो कारक पुरुष थे । उनमें जो क्रोधादि देखा जाता है वह उनकी लीलामात्र थी तथा असुरों में जो ज्ञानी

हुए हैं वे जन्मतः असुर थे, स्वभावतः नहीं। फिर भी यह कहा जाता है कि ये अपवादमात्र हैं, इन्हें आदर्श नहीं कह सकते। आदर्श तो ऋभु, निदाघ, वसिष्ठ और वामदेवादि के ही चरित्र हैं। मेरा तो यह सिद्धान्त है कि पूर्ण तत्त्ववेत्ता में दैवीसम्पत्ति की ही प्रधानता होनी चाहिये, जैसा कि कहा है—

अक्रोधवैराग्यजितेन्द्रियत्वं क्षमादयासर्वजनप्रियत्वम्।
निर्लोभदान भयशोकहान ज्ञानस्य चिह्नं दशलक्षणं च ॥ *

हाँ, यह सम्भव है कि पूर्वसंस्कारवश किसी-किसी में कोई स्वभाव-दोष भी देखा जाय, परन्तु यह सिद्धान्त नहीं हो सकता। यदि अद्वेष आदि गुण बोधवान् में नहीं होंगे तो और किसमें होंगे? स्थितप्रज्ञ, भक्त और गुणातीत के लक्षण ज्ञानी में स्वभावतः ही रहते हैं।

प्र०—ब्रह्मज्ञान क्या है?

उ०—ज्ञान अद्वैतावस्थानरूप है तथा ज्ञानाभ्यास अद्वैत-भावना है। किन्तु यह भावना कर्तृजन्य नहीं होती। जो भावना द्वैतसम्बन्धिनी होती है वह कर्तृजन्य हुआ करती है। यह भावना अद्वैतसम्बन्धिनी होने के कारण कर्तृजन्य नहीं।

प्र०—निमिषार्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना।
यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्या नारदाद्याः शुकादयः ॥ †

* अक्रोध, वैराग्य, जितेन्द्रियता, क्षमा, दया, सर्वप्रियता, लोभ-हीनता, दान, निर्भयता और शोकहीनता—ये ज्ञान के दस लक्षण हैं।

† ब्रह्मवेत्ता पुरुष आधे पल के लिये भी ब्रह्माकार वृत्ति को छोड़कर नहीं रहते, जैसे—ब्रह्मादि प्रजापतिगण, नारदादि देवर्षिगण और शुकादि परमहंसगण निरन्तर ब्रह्माकारवृत्ति में ही स्थित रहते हैं।

—इस श्लोक में यथावत् बोध हो जाने पर भी वृत्ति को ब्रह्माकार करने का आग्रह किया गया है।

तथा—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किञ्चित्कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥ *

—इस श्लोक में ज्ञानी के लिये कोई कर्त्तव्य ही नहीं बतलाया गया। इन दोनों की संगति किस प्रकार होगी ?

उ०—पहले श्लोक में बोध होने के पश्चात् भी वृत्ति को ब्रह्माकार करने का आग्रह नहीं किया है, उनकी तो सदा-सर्वदा ब्रह्माकार वृत्ति स्वाभाविक ही रहती है। और यहाँ दूसरे श्लोक में 'ज्ञानामृतेन तृप्तस्य' ऐसा पाठ है। अतः इसके द्वारा अकर्त्तव्य का विधान उसी के लिये किया गया है जो ज्ञानामृत से तृप्त है, अर्थात् जो आत्मतृप्तिवान् है। जिज्ञासा क्यों होती है ? इसीलिये न कि उसे सांसारिक पदार्थों से तृप्ति नहीं होती। इस प्रकार जिसे अनात्मपदार्थों से तृप्ति नहीं होती वही आत्मानुसन्धान में प्रवृत्त होता है। पीछे आत्मानुसन्धान करते-करते जब पूर्ण तृप्ति हो जाती है उसी समय वह कृतकार्य हो जाता है। तभी उसके लिये कोई कर्त्तव्य नहीं रहता। इससे पूर्व तो उसे ब्रह्माभ्यास में ही तत्पर रहना चाहिये तथा जहाँ तक हो सके, ब्रह्माकार वृत्ति को बढ़ाने का ही प्रयत्न करते रहना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीता

* जो योगी ज्ञानामृत से तृप्त और कृतकृत्य है उसको कोई कर्तव्य नही है। यदि उसे भी कोई कर्तव्य दिखायी देता है तो वह तत्ववेत्ता नही है।

में भी उसी के लिये कर्तव्य का अभाव बताया है जो सब प्रकार केवल अपने आप में ही तृप्त है ।

'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥'

अतः सारांश यह है कि जो आत्मरति से तृप्त हो गया हो उस के लिये शास्त्र कर्त्तव्य का अभाव बतलाता है ।

प्र०—तृप्ति क्या है और किसे होती है ?

उ०—यहाँ तृप्ति शब्द से आसक्ति अभिप्रेत है । यह आत्म-तृप्ति उसी को होती है जिसे आत्मज्ञान की प्राप्ति के पूर्व अज्ञान था । ये सब वृत्ति के ही व्यापार हैं, सिद्ध वस्तु तो ज्यों की त्यों अविकृत भाव से रहा करती है ।

प्र०—कहते हैं, अज्ञान तो आत्मा को ही हुआ है ?

उ०—इस बात को कहता कौन है ? अज्ञान को देखा किसने है और यदि उसे किसी ने देखा नहीं है तो वह अमुक को हुआ है—ऐसा कहेगा कौन ?

× × × ×

प्र०—ब्रह्माभ्यास का क्या स्वरूप है ?

उ०— तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योऽन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥
दृश्यासम्भवबोधेन रागद्वेषादितानवे ।
रतिर्बलोदिता यासौ ब्रह्माभ्यास स उच्यते ॥'

अर्थात ब्रह्म का चिन्तन करना, उसी का कथन करना, उसी को आपस में समझाना—इस एकनिष्ठा को ही बुधजन ब्रह्माभ्यास कहते हैं । दृश्य की असम्भवता के ज्ञान से राग-द्वेषादि

के तनु हो जाने पर जो बलवती रति उदित होती है वह ब्रह्माभ्यास कहलाता है।

यह श्लोक भक्त और जिज्ञासु दोनों ही के लिये हैं। भगवान् के नाम, रूप, गुण और लीलाओंका कीर्तन एवं श्रवण करना भक्त का अभ्यास है, तथा 'संसार क्या है? मैं क्या हूँ' इसका विचारना ज्ञानमार्गी का अभ्यास है। उसकी दृष्टि में वही सर्व है और वही सर्वातीत है। अन्तर्मुख दृष्टि से वह सर्वातीत है तथा बहिर्मुखी वृत्ति होने पर वही सर्वस्वरूप है। इसी को वेदान्तियों का ब्रह्माभ्यास कहते हैं। किन्तु इनमें अन्वयरूप अभ्यास वही कर सकता है जिसे स्वरूप का बोध हो गया हो। जो अतत्त्वज्ञ है वह इस अभ्यास का अधिकारी नहीं है। जिस प्रकार कोई बहुत बड़ा धनी हो और उसकी जगह-जगह बहुत-सी कोठियाँ हों एवं अनन्त धन-धान्य हो, तो वह किसी भी स्थान पर रहे, उसे अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का अभिमान बना ही रहता है, वह जानता है कि मेरी सम्पत्ति सर्वत्र है। इसकी आवश्यकता नहीं कि वह सारी सम्पत्ति उसके सामने ही रहे। इसी प्रकार जिसका यह दृढ़ निश्चय है कि सारा प्रपञ्च मेरा ही स्वरूप है, उसके लिये गोलोक, वैकुण्ठ, स्वर्ग, नरक सब उसी का स्वरूप हैं, उसी का नहीं वस्तुतः वही हैं।

हाँ, साधक को तो निषेध का ही आश्रय लेना चाहिये, परन्तु उसी में रह जाना बहुत बड़ी कमी है। इससे न तो पूर्णता ही होती है और न राग-द्वेष का अत्यन्ताभाव ही। इस प्रकार का अभ्यास करते-करते जब बोध की दृढ़ता हो जाती है तो स्वयं ही उसकी दृष्टि में सारा प्रपञ्च आत्मस्वरूप हो जाता है। गढ़मुक्तेश्वर में मुझसे एक महात्मा ने कहा था कि एक बार जब वे हरि-

द्वार में थे, श्रीपूर्णाश्रम स्वामी वहाँ आये। उन दिनों इतना कड़ा शीत था कि सब लोग बहुत से कपड़े पहनने पर भी ठिठुरे जाते थे। परन्तु लोगों ने देखा कि स्वामीजी दिगम्बर होने पर भी सर्वथा निश्चल हैं। उनके शरीर में रोमांच भी नहीं दिखायी देता। कुछ महात्माओं ने उनसे इसका कारण पूछा, तो स्वामीजी ने कहा—

'त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रति गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि॥' *

मुझे इस बात की भ्रान्ति त्रिकाल में भी नहीं होती कि शीत-उष्ण, सुख-दुःख कोई भी द्वन्द्व मुझसे भिन्न है। मैं चिदाकाश हूँ—इस बात का मुझे निरन्तर अनुभव रहता है।

प्र०—इससे तो यह ज्ञात पड़ता है कि जिसमें तितिक्षा की कमी देखी जाती है उनमें बोध की कमी रहती है।

उ०—बोध में कमी न भी हो तो भी बोधनिष्ठा में तो कमी माननी ही पड़ेगी। ब्रह्मनिष्ठ में तितिक्षा का होना स्वाभाविक है। देखो जिस प्रकार यह शरीर मुझसे भिन्न है उसी प्रकार प्राण और मन भी तो हमसे भिन्न हैं। परन्तु जिस प्रकार शरीर के अवयवों को हम इच्छानुसार काम में ला सकते हैं उस प्रकार मन और प्राण पर हमारा शासन नहीं है। प्राण और बुद्धि स्वाधीन न होने के कारण हम इनके अधिपति होने पर भी उस आधिपत्य

* तुम सूर्य हो, तुम चन्द्रमा हो, तुम पवन हो, तुम अग्नि हो, तुम जल हो, तुम आकाश हो, तुम भूमि हो, तुम्हीं आत्मा हो—इस प्रकार तुम्हारे प्रति इस परिच्छिन्नवाणी का प्रयोग करते हुए हम ऐसा कोई तत्त्व नहीं जानते जो तुम नहीं हो।

को खो बैठे हैं। सनकादि और वर्तमान बोधवानों के बोध में कुछ भी अन्तर नहीं है, किन्तु सनकादि महर्षियों को एक क्षण के लिये भी स्वरूप-विस्मृति नहीं होती, इसी से उनकी यथेच्छ गति है। उनके दिव्य शरीर हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने जो रासलीला की थी वह क्या बिना मन और प्राण का आधिपत्य हुए होनी सम्भव थी? इसी प्रकार श्री पूर्णाश्रमजी के समान जो कोई दिव्य देह-धारी योगी उत्पन्न हो जाते हैं, उनमें हम लोगों की अपेक्षा अधिक तितिक्षा देखी ही जाती है। किन्तु यदि हमें वस्तु लक्षित हो गयी है, तो बोध में तो हमारे और उनके बीच कोई अन्तर हो ही नहीं सकता। जो बोध वसिष्ठादि को था वही यदि हमें न हो तो वह बोध ही क्या हुआ? एक बार मैंने अच्युत मुनिजी से पूछा था कि अज्ञान किसे कहते हैं। उन्होंने कहा—"लोग जो कहते हैं कि जो ज्ञान वसिष्ठादि को था वह क्या हमें हो सकता है—यही अज्ञान का प्रधान चिह्न है।" किन्तु यह कथन बोध के ही विषय में है, बोधनिष्ठा के विषय में नहीं।

प्र०—बोध हो जाने पर राग-द्वेषादि मन के विकार रहते हैं या नहीं?

उ०—वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः॥*

इस कारिका से यही सिद्ध होता है कि बोध राग-द्वेष की निवृत्ति होने पर ही होता है। जिसे यह अनुभव होता है कि मेरे अन्दर राग-द्वेष हैं। उसे कभी बोधवान् नहीं समझना चाहिये।

---

*जिन विरक्त मुनियों के राग, भय और क्रोध निवृत हो गये हैं, उनको ही इस प्रपंचशून्य अद्वितीय निर्विकल्प ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

बोधवान् की दृष्टि में तो राग-द्वेष का अत्यन्ताभाव है। जब उसकी समष्टि दृष्टि हो गयी तो उसे रागद्वेष कैसे हो सकते हैं? राग-द्वेष तो मन के विकार हैं और उसके मन का तो विवेक काल में ही सर्वथा अभाव-सा हो जाता है।

प्र०--बोधवान् के लिये समाधि का मुख्य साधन क्या है?

उ०--बोधवान् के विषय में कहा--

'समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा।
हृदयेनास्तसर्वास्थः मुक्त एवोत्तमाशयः॥

अर्थात् 'ब्रह्मवेत्ता समाधि या कर्मों का अनुष्ठान करे अथवा न करे, हृदय से समस्त आस्थाओं के निवृत्त हो जाने के कारण वह शुद्धचित्त महात्मा मुक्त ही है।' इससे सिद्ध होता है कि समाधि के लिये अभ्यास करना न करना बोधवान् की इच्छा के अधीन है। यदि वह समाधि करता है तो निरन्तर दृश्य के अत्यन्ताभाव का ही चिन्तन करता है। इस विषय में यह प्रमाण भी है—

अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुनः।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये ते तत्राभ्यासिनः स्थिताः॥

अर्थात् ज्ञाता के लिये ज्ञेयभूत वस्तु का अत्यन्ताभाव निष्पन्न हो जाने पर जो लोग शास्त्र और युक्तिपूर्वक उसके लिये प्रयत्न करते हैं वे ही ब्रह्माभ्यास करने वाले हैं।

प्र०--अधिक कार्य करने से शरीर में तादात्म्य हो जाता है। आप कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिससे किसी भी प्रकार स्वरूप-विस्मृति न हो।

उ०--इसके लिये अभ्यास की दृढ़ता की आवश्यकता है। दृढ़ अभ्यास होने पर, कैसा ही झंझट क्यों न हो, चित्त अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होगा। इसलिये निरन्तर ब्रह्माकार वृत्ति का अभ्यास करते रहना चाहिये।

प्र०—अन्तकाल में पीड़ा की अधिकता रहती है, अथवा चेतनाशून्य स्थिति हो जाती है, इसलिये उस समय यदि स्वरूप की विस्मृति हो गयी तो मुक्ति कैसे होगी ?

उ०—मुक्ति मरने पर नहीं हुआ करती । जिसे यथावत् बोध हो गया है वह तो जीवित रहते हुए ही मुक्त हो जाता है। ऐसा जीवन्मुक्त कैसी ही अवस्था में देह-त्याग करे वह तो मुक्त ही है, उसे पुनः देहबन्धन की प्राप्ति नहीं हो सकती।

प्र०—कहते हैं, स्वप्न की त्रिपुटी नयी होती है। यदि ऐसी बात है तो जाग्रत् में उसकी स्मृति किस प्रकार होती है ?

उ०—जाग्रत् अवस्था में जो अभिमानी है वह जाग्रत् अवस्था का अभिमानी नहीं, बल्कि जाग्रत् पुरुष है। जो सम्पूर्ण जाग्रत् अवस्था का अभिमानी है उसे स्वप्न नहीं होता, बल्कि जाग्रत् पुरुष को ही होता है। स्वप्नावस्था में उससे भिन्न किसी अन्य अन्तःकरण की उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि उसे अपने अन्तःकरण पर पड़े हुए संस्कारों की ही अनुभूति हुआ करती है। जो यह कहा जाता है कि स्वप्न में नवीन त्रिपुटी का उदय होता है वह जाग्रत् अवस्था के अभिमानी की दृष्टि से है। जो समष्टि जाग्रत् अथवा समष्टि स्वप्न का अभिमानी है उसे ही तत्त्ववेत्ता कहते हैं। वह जिस प्रकार समष्टि जाग्रत् का अभिमानी है उसी प्रकार समष्टि स्वप्न का भी है । अतः उसके लिये, जैसे स्वप्न प्रातिभासिक है उसी प्रकार जाग्रत् भी प्रातिभासिक ही है। स्वप्न और जाग्रत् उसके लिये केवल स्वप्नान्तरमात्र हैं। अतः जिस प्रकार जाग्रत् में जाग्रत् की त्रिपुटी उसकी दृष्टि का विलास है, उसी प्रकार स्वप्न में स्वप्न की त्रिपुटी भी उसकी दृष्टि की ही सृष्टि है। वह दृष्टि-सृष्टिवादी है; अतः प्रत्येक अवस्था में जिस सृष्टि की प्रतीति होती है वह उसकी ही दृष्टि की नूतन सृष्टि है।

प्र०—प्रपञ्च का निषेध करते समय क्या उसके असत्य का भी विचार करना चाहिये ?

उ०—निषेध दो प्रकार का है—विवेकी का और बोधवा का। बोधवान् प्रपञ्च का अवस्तुत्व देखता है, इसलिये निषे करता है; तथा विवेकी उसे अनात्मा जानकर अपने को उस भिन्न अनुभव करने के लिये उसका निषेध करता है। विवेकी निषेध में प्रपञ्च की पृथक् सत्ता रहती है, किन्तु बोधवान् उस असत्ता देखता है।

प्र०—यदि वृत्ति का काम आवरण-भंग ही है तो वृत्ति व्याप्ति का क्या अर्थ है ?

उ०—वृत्ति का स्वतः कोई स्वरूप नहीं है। वह जिस विष में जाती है, उसी का रूप धारण कर लेती है और उसी के अनु सार उसका स्वरूप भी देशकालावच्छिन्न हो जाता है। फिर उ वस्तु का स्फुरण चिदाभास से होता है। उसका नाम है फलव्याप्ति यह नियम इदंरूप से स्फुरित होने वाले पदार्थों के विषय में है किन्तु आत्मा कोई परिच्छिन्न अथवा परप्रकाश्य पदार्थ नहीं है अतः जब समस्त अनात्मवस्तुओं का बाँध करके वृत्ति अहम में पहुँचती है तो उसमें कोई परिच्छेद न होने के कारण उस किसी आकार-विशेष का स्फुरण नहीं होता। अनात्मपदार्थों क निषेध करते-करते जब वृत्ति अभावाकार होती है तो उसे ह श्रुतिप्रतिपादित सूक्ष्म बुद्धि कहते हैं। उसी के द्वारा गुरु-कृपा से तत्त्वबोध होता है। तत्त्वबोध के होते ही फिर अनात्म वस्तु कुछ भी नहीं रहती। फिर तो समुद्र से तरङ्ग, सूर्य से किरण और मृत्तिका से घटादि के समान उसे कोई भी वस्तु अपने से भिन्न प्रतीत नहीं होती।

प्र०—किन्तु सूक्ष्म बुद्धि भी तो गुणमयी ही होती है। उस गुणमयी बुद्धि से गुणातीत वस्तु का दर्शन कैसे हो सकता है ?

उ०—सूक्ष्म बुद्धि से भी परमार्थतत्त्व का इदंतया दर्शन नहीं होता, बल्कि उससे वह लक्षित होता है। बुद्धिवृत्ति केवल आवरण भङ्ग करती है, वस्तु तो स्वयंप्रकाश है, उसे प्रकाशित करने में बुद्धि की अपेक्षा नहीं होती। इसी से महावाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' पद की एकता भी अभिधावृत्ति से नहीं होती, वहाँ भी लक्षणा करनी पड़ती है, क्योंकि परमार्थतत्त्व किसी भी शब्द का वाच्य नहीं है।

प्र०—ज्ञान और ज्ञाननिष्ठा में क्या अन्तर है ?

उ०—परमार्थ वस्तु यह है—इस बात को जान लेना 'ज्ञान' है। जैसे किसी का पिता यह बतलाकर मर गया कि हमारे पास एक लाख रुपया है और यह विश्वास भी हो गया कि हमारे घर में किसी स्थान पर एक लाख रुपये गड़े हुए हैं, परन्तु उन्हें कभी खोदकर देखा नहीं और न उपयोग ही किया। ऐसी अवस्था में अपने लखपती होने का अभिमान होने पर भी वह रहा कंगाल का कंगाल ही तथा उसका भूखों मरना भी नहीं छूटा। इसी प्रकार जब तक अभ्यास द्वारा बोधवृत्ति की स्थिरता नहीं होती तब तक वस्तु लक्षित हो जाने पर भी ब्रह्मानन्द की प्राप्ति नहीं होती। इस बोधवृत्ति की स्थिरता का नाम ही 'ज्ञाननिष्ठा' है।

प्र०—वृत्ति नित्य है या अनित्य ?

उ०—अज्ञानी की दृष्टि से वृत्ति नित्य है। बोध हो जाने पर भी जब तक प्रारब्ध शेष है तब तक तो वृत्ति रहेगी ही। प्रारब्ध का क्षय होते ही वृत्ति भी क्षीण हो जायगी। किन्तु अज्ञानियों और उपासकों की वृत्ति देहपात के पश्चात् भी नहीं छूटती। यह अकाट्य सिद्धान्त है। सृष्टि से दृष्टि को हटाना-

यह योग है और दृष्टि से सृष्टि को बनाना यह वेदान्त है। इसी को दृष्टि-सृष्टि वाद कहते हैं। इस दृष्टि का निवृत्त हो जाना ही मोक्ष है।

प्र०—अज्ञान की निवृत्ति होते ही द्वैत की निवृत्ति हो जाती है, फिर गुरु-शिष्यादि सम्बन्ध किस प्रकार रहता है ?

उ०—बोधवान् का गुरु-शिष्यादि व्यवहार भी अद्वैत में ही होता है। उसमें द्वैत नहीं है। मरुभूमि में जो तरङ्ग, फेन एवं बुद्बुदादि की प्रतीति होती है वह यद्यपि मरुभूमि के याथात्म्य को जाननेवाले और न जाननेवाले दोनों को समान ही होती है, तथापि जाननेवाले के लिये वह सब मरुस्थलमात्र ही है। इसी प्रकार बोधवान् यद्यपि सब प्रकार का व्यवहार देखता है, तथापि वह उसके शुद्ध स्वरूप से भिन्न कुछ भी नहीं है। कहीं वह युद्ध करता है, कहीं कर्मानुष्ठान करता है, कहीं उपासना में तत्पर है और कहीं तरह-तरह के लौकिक व्यवहारों में संलग्न है, किन्तु उसकी दृष्टि में ये सब उसका अपना-आप ही तो हैं।

प्र०—बोधदृष्टि क्या है ?

उ०—लोक में चार प्रकार की दृष्टियाँ हैं-(१) भगवान् सब में हैं—यह भेददृष्टि है। (२) भगवान सर्वत्र हैं—यह विराट् रूप से भगवान् की उपासना करनेवालों की दृष्टि है। (३) भगवान् सबसे अलग हैं—यह निर्गुणोपासकों की दृष्टि है। (४) भगवान् ही भगवान् हैं—यह सगुणोपासकों की दृष्टि है, जो भगवान् के सिवा और किसी वस्तु की ओर दृष्टि ही नहीं देते। जिसमें ये चारों दृष्टियाँ आ जाती हैं और जो इन चारों दृष्टियों से अलग है, उसे बोधदृष्टि कहते हैं।

प्र०—यदि आत्मा अप्रमेय है तो उसकी प्रमा कैसे होती है ?

उ०—आत्मा की प्रमा नहीं होती । वह प्रमा का विषय नहीं है—ऐसा जानना ही उसका बोध है—

'प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा ।
यस्य प्रसादात्सिद्धयन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्ष्यते ॥*

ईश्वर भी अप्रमेय ही है, क्योंकि उसके अनन्तशक्तित्वादि किसी प्रमाण के विषय नहीं हैं । प्रमाण का विषय तो असत् हुआ करता है । जो वस्तु अनन्त और अनादि होती है वह प्रमेय नहीं होती । भक्तों को भगवान् के दर्शन होने पर भी उनकी शक्ति तो अप्रत्यक्ष ही रहती है । वह तो अप्रमेय ही है ।

प्र०—सुना गया है राग-द्वेष तो मन के धर्म हैं, उनसे आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है । इसलिये यह आवश्यक नहीं है कि ज्ञानी के राग-द्वेष निवृत्त हो ही जायँ ।

उ०—'रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन' इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि मन तुमसे अलग है : यदि उसका ठीक-ठीक पृथक्त्व अनुभव होगा तो मन तो निःसत्त्व हो जायगा । फिर उसमें राग-द्वेष होंगे कैसे ? राग-द्वेष तो अविवेक से ही होते हैं, जब विवेक होने पर मन निःसत्त्व और जड़ हो गया तो उसमें राग-द्वेष कैसे होंगे ? राग-द्वेष तो न भक्त को हो सकते हैं और न ज्ञानी को, क्योंकि भक्त प्रत्येक विधान में भगवान् का आदेश देखता है और ज्ञानी प्रारब्धभोग । इसलिये दोनों ही में राग-द्वेष की सत्ता नहीं रहती ।

प्र०—भगवन् ! द्वेष की अपेक्षा भी राग का छूटना कठिन जान पड़ता है ।

---

*जिसकी कृपा से प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय इन तीनों की सिद्धि होती है उसकी सिद्धि के लिये किस प्रमाण की अपेक्षा हो सकती है ?

उ०—राग की निवृत्ति केवल विवेक से नहीं होती। विवेक से तो राग-द्वेष की निवृत्ति की कुञ्जी मिल जाती है। इसकी पूर्ण निवृत्ति तो भगवत्प्रेम या आत्मप्रेम से ही होती है। भगवान् या आत्मा में राग होने से लौकिक राग निवृत्त होता है। जिस प्रकार लोहे के शस्त्र बिना लोहा नहीं कटता उसी प्रकार राग के शस्त्र बिना राग नहीं कटता।

प्र०—शास्त्र का सिद्धान्त है कि जब निष्काम कर्म और उपासना के द्वारा चित्त शान्त हो जाता है तभी आत्मतत्त्व की जिज्ञासा होती है। परन्तु आजकल तो देखा जाता है कि कर्म और उपासना में प्रवृत्ति हुए बिना भी बहुत-से लोगोंको जिज्ञासा हो जाती है और उन्हें आत्मज्ञान भी हो जाता है। इसका क्या कारण है?

उ०—आज-कल तो जिज्ञासा किसी को होती ही नहीं। जिसे तुम जिज्ञासा कहते हो वह तो सुन-सुनाकर होनेवाला कौतूहलमात्र है। जब से पुस्तकें सुलभ होगयी हैं और महात्माओं में वेदान्तचर्चा की विशेष प्रवृत्ति हुई है, तब से उन बातों को पढ़-सुनकर लोगों को एक प्रकार का कौतूहल-सा हो जाता है। पूर्वकाल में वेदान्त विचार की प्रधानता नहीं थी। यह तो वनवासियों की विद्या है। बिना वैराग्य हुए इसकी प्राप्ति नहीं होती। पहले तो कर्म और उपासना की ही प्रधानता थी। उपासना का परिपाक होने पर जो साक्षात्कार होता था उसमें तत्कालपूर्ण निष्ठा हो जाती थी।

प्र०—इससे तो यह सिद्ध हुआ कि इस समय कोई ज्ञानका अधिकारी ही नहीं है। ऐसी अवस्था में किसी को उस ओर लगाना कहाँ तक उचित है?

उ०—वेदान्त ग्रन्थों में ऐसी बात भी आती है कि जिसे

उपासना की पूर्णता न होने पर भी किसी प्रकार तत्त्वजिज्ञासा हो गयी है उसे तत्त्वविवेक का अभ्यास करते-करते ही कालान्तर में सुदृढ़ बोध हो जाता है। किन्तु उसका विक्षेप निवृत्त नहीं होता। इसी से अकृतोपास्ति ज्ञानी को ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी मनोनाश और वासनाक्षय करने पड़ते हैं।

प्र०—ब्रह्म में अध्यास कैसे हुआ ?

उ०—अध्यास का कारण अज्ञान-दशा में ढूँढ़ते हो या ज्ञान-दशा में ? अज्ञान-दशा में तो जो कुछ भी कारण मिलेगा वह स्वयं भी अध्यस्त ही होगा और ज्ञान-दशा में अध्यास रहता नहीं, इसलिये उसका कारण ढूँढ़ना नहीं बनता। इसलिये जिज्ञासु को अध्यास का कारण न ढूँढ़कर अधिष्ठान की ही खोज करनी चाहिये। अधिष्ठानज्ञान से यह निश्चय हो जायगा कि वस्तुतः अध्यास कभी हुआ नहीं। यह जो कुछ प्रतीत होता है बिना हुआ ही भास रहा है। लोग सूर्य को तिमिरारि कहते हैं, किन्तु क्या सूर्य ने कभी तिमिर (अन्धकार) को देखा है।

प्र०—काम-क्रोधादि के प्रति बोधवान् की क्या दृष्टि रहती है ?

उ०—बोधवान् की दृष्टि में इनका अत्यन्ताभाव है। जब उसकी दृष्टि में इनके आश्रयभूत चित्त की ही सत्ता नहीं है तो इनकी स्थिति तो हो ही कैसे सकती है ?

प्र०—जगत् का अत्यन्ताभाव और ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादानकारण मानने में क्या अन्तर है ?

उ०—समुद्र का शान्त स्वरूप अत्यन्ताभाव का और उसकी सतरङ्गावस्था अभिन्ननिमित्तोपादान का दिग्दर्शन कराती है। प्रपञ्चाभाव शुद्ध चिति है और प्रपञ्चसत्ता चिद्विलास है। वह निःस्पन्द चिति है और यह सस्पन्द चिति है। इनमें से किसी भी पक्ष में आग्रह नहीं होना चाहिये। श्रुति कहती है—

जीवन्मुक्तिपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥*

प्र०—'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इस वाक्य में ज्ञान और कैवल्य का क्या सम्बन्ध है ?

उ०—'ज्ञान' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से है—'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्'† और 'ज्ञायते इति ज्ञानम्'+ इनमें पहला ज्ञान कारणरूप है और दूसरा स्वरूपभूत । इस वाक्य में पहला अर्थ लिया गया है । यहाँ ज्ञान ही कैवल्य नहीं है, बल्कि कैवल्य का हेतु है । अतः यह वृत्तिज्ञान है, स्वरूप ज्ञान नहीं । स्वरूप ज्ञान तो प्रपञ्चाभाव निश्चय करने पर ही प्राप्त होता है ।

प्र०—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति किसे प्राप्त होती हैं ?

उ०—जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति भी स्वप्न ही हैं । एक ही द्रष्टा में ऐसा कोई व्यापार होना सम्भव नहीं है । यह केवल व्यावहारिक दृष्टि है । अष्टावक्र मुनि कहते हैं—

'एको द्रष्टासि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा ।
अयमेव हि ते बन्धः द्रष्टारं पश्यसीतरम् ॥'‡

अतः जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति भी व्यावहारिक ही हैं । ये अनेक द्रष्टा मानने पर ही सम्भव हैं । एक सर्वसाक्षी अखण्ड

---

*अपने देह के कालकवलित होने पर बोधवान् पुरुष वायु के निःस्पन्द हो जाने के समान जीवन्मुक्तिपद को त्याग कर विदेहमुक्ति प्राप्त कर लेता है ।

†जिसके द्वारा जाना जाय उसे 'ज्ञान' कहते हैं ।

+जो जाना जाय वह 'ज्ञान' है ।

‡तू सबका एक ही द्रष्टा है और सर्वदा मुक्तप्राय है । यही तेरा बन्धन है कि तू अपने से भिन्न कोई और द्रष्टा देखता है ।

चेतन में इनका होना सम्भव नहीं है। इनका सम्बन्ध स्वप्न पुरुषों से ही है। समाधि भी स्वप्नपुरुष को ही होती है, स्वप्न द्रष्टा से समाधि का कोई सम्बन्ध नहीं है। विद्यारण्य स्वामी कहते हैं--

'विक्षेपो नास्ति मे यस्मान्न समाधिस्ततो मम ।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिण ॥'*

प्र०--'यो बुद्धेः परतस्तु सः' (जो बुद्धि से परे है वह ब्रह्म है) और 'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् (जो बुद्धि से ग्राह्य और इन्द्रियातीत है) इन वाक्यों में आये हुए 'बुद्धि' शब्द के अर्थों में क्या अन्तर है ?

उ०--'यो बुद्धेः परतस्तु सः' यह वस्तु का निर्णय है। इसमें केवल यह बतलाया गया है कि आत्मतत्त्व ऐसा है। यहाँ 'बुद्धि' शब्द से व्यावहारिक बुद्धि समझनी चाहिये। किन्तु 'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्' यह साक्षात्कार है। इस वाक्य में 'बुद्धि' शब्द से शुद्ध बुद्धि को ग्रहण करना चाहिये। इसी को भगवान् ने बुद्धि योग कहा है। ऐसी शुद्ध बुद्धि केवल भगवत्कृपा से ही प्राप्त होती है। राजा लोग अपने को किरीट, कुण्डल एवं बहुमूल्य वस्त्रादि से विभूषित कर स्वयं वरमण्डप में जाते हैं। वे केवल इतना ही कर सकते हैं। उन्हें वरमाला पहनाना तो राजकन्या की इच्छा पर ही निर्भर है। इसी प्रकार साधक केवल साधन कर सकता है, उसे अपना साक्षात्कार कराना तो भगवान की इच्छा पर निर्भर है।

---

*क्योंकि मुझ शुद्ध चेतन मे कोई विक्षेप नही है, इसलिये मुझे समाधि भी नही होती। विक्षेप और समाधि ये तो विकारी मन को ही होते हैं।

प्र०--यदि जाग्रत् , स्वप्न, सुषुप्ति--इन अवस्थाओं की सन्धियों में केवल शुद्धस्वरूप ही रहता है तो इनकी स्मृति किस प्रकार होती है ?

उ०--दृष्टिसृष्टिवाद की रीति से प्रत्येक अवस्था चेतन की केवल दृष्टिमात्र है। वह नवीन ही भासती है। जिस समय जिस अवस्था की स्फूर्ति होती है उसी समय उसके पदार्थ, पदार्थज्ञान में उपयोगी त्रिपुटी और अनुभूत पदार्थों की स्मृति का भी स्फुरण हो जाता है। अतः प्रत्येक अवस्था की स्फूर्ति के समय उसमें प्रतीत होने वाले पदार्थ, संस्कार एवं स्मृति आदि भी नवीन ही स्फुरित होते हैं।

प्र०--हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिये ?

उ०--हमें सर्वदा गुण ही देखना चाहिये। दोष कभी किसी का नहीं देखना चाहिये। महापुरुषों का यह स्वभाव होता है कि वे अपने विरोधी का भी गुण ही देखते हैं। बोधवान् की दृष्टि में सारा प्रपञ्च बोधस्वरूप है। इसमें सब प्रकार के पाप-पुण्य, निन्दा-स्तुति, राग-द्वेष और दैवी-आसुरी प्रकृतियों की प्रतीति हो रही है। इसीसे क्या यह उसकी सत्ता स्वीकार कर लेता है। सारे प्रपञ्च को माया का विलास समझने के कारण उसे किसी भी घटना में कुतूहल नहीं होता।

अपि शीतरुचावर्के सुतीक्ष्णेऽपीन्दुमण्डले ।
अप्यधः प्रसरत्यग्नौ जीवन्मुक्तो न विस्मयी ॥*

ऐसे महात्मा लोग स्वभाव से ही अत्यन्त निर्भीक होते हैं।

*यदि सूर्य शीतल किरणों वाला हो जाय, चन्द्रमा तेजी से तपने लगे और अग्नि नीचे की ओर फैलने लगे तो भी जीवन्मुक्त महात्मा को कोई आश्चर्य नहीं होता।

संसार की बड़ी से बड़ी आपत्ति उन्हें अपने निश्चय से चलायमान नहीं कर सकती, और तो क्या, प्रलयकालीन विस्फोट से भी उनके चित्त में किसी प्रकार का क्षोभ नहीं होता—

> प्रलयस्यापि हुङ्कारैश्चलाचलविचालनैः ।
> विक्षोभं नैति यस्यात्मा स महात्मेति कथ्यते ॥*

वे उदारता की तो मूर्त्ति ही होते हैं। उनके लिये कोई भी पदार्थ अदेय नहीं होता। वे अपने विरोधी का भी उपकार ही करते हैं, और जो मान चाहते हैं उन्हें सम्मान प्रदान करने में भी किसी प्रकार का संकोच नहीं करते। एक बार एक दिग्विजयी विद्वान् भारत के भिन्न-भिन्न नगरों में अनेकों पण्डितों को परास्त करता काशी में आया। उस समय काशी में एक महात्मा सबसे बड़े विद्वान् समझे जाते थे। उनके सहस्रों शिष्य थे। दिग्विजयी ने उनके पास जाकर कहा कि यदि आप मुझे पराजयपत्र लिखकर दे दें तो मैं अनायास ही महान् कीर्त्तिवान् हो सकता हूँ। महात्माजी ने बिना किसी प्रकार की आपत्ति किये उसे पराजयपत्र लिखकर दे दिया। तब वह दिग्विजयी अपनी विजय घोषित करता बड़ी धूमधाम से बाजे-गाजे के साथ काशी के राजमार्ग से निकला। इसी समय उसे उन महात्माजी के कुछ शिष्य मिले। उन्होंने सारा समाचार जानकर उसे शास्त्रार्थ के लिये आमन्त्रित किया और थोड़ी ही देर में उसे एक शिष्य ने पराजित कर दिया। इससे उसका बड़ा तिरस्कार हुआ और उसे वहीं अपनी सवारी छोड़नी पड़ी। जब महात्माजी को यह समाचार विदित हुआ तो उन्होंने उस शिष्य की प्रवृत्ति पर खेद प्रकट करते हुए यह कहकर

---

*चराचर को विचलित कर देनेवाले प्रलयकालीन विस्फोट केहो ने पर भी जिसका चित्त क्षुब्ध नही होता वह 'महात्मा' कहा जाता है।

कि 'इस प्रकार के वेदान्तश्रवण से क्या लाभ है ?' आजन्म मौन धारण कर लिया।

महात्माओं के चरित्र ऐसे ही विलक्षण हुआ करते हैं। वे स्वयं किसी की निन्दा नहीं करते और यदि उनके सामने कोई व्यक्ति किसी अन्य पुरुष की निंदा करता है तो भी वे उसके गुणों पर ही दृष्टि देते हैं। एक बार किसी पुरुष ने एक महात्मा को कोई मरा हुआ कुत्ता दिखाकर कहा—'देखिये, यह कैसा मलिन जीव है ! कितनी दुर्गन्ध कर रहा है।' महात्मा जी ने कहा—'अहा ! इसके दाँत कैसे उज्ज्वल हैं ? यह इसके पुण्य कर्मों का ही फल है।' इस प्रकार उन महात्माजी ने एक सड़े हुए मरे कुत्ते के भी गुणों पर ही ध्यान दिया। एक बार सुकरात ने कहा था—'जानते हो, भगवान् ने कान दो और जिह्वा एक क्यों दी है ? इससे भगवान् का यही अभिप्राय है कि सुनो अधिक और बोलो कम।'

अतः हमें भी ऐसे महापुरुषों के आचरणों का ही अनुकरण करना चाहिये और निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ एवं मानापमान की ओर दृष्टि न देकर सब प्राणियों के प्रति सहृदयता, प्रेम और उदारता का वर्ताव करना चाहिये। यदि कोई क्रोध करे तो उसके प्रति क्रोध न करना चाहिये, कोई कटुभाषण करे तो मृदुभाषण करना चाहिये, सब प्रकार के अपवादों को सहन करना चाहिये और कभी किसी का तिरस्कार न करना चाहिये—

क्रुध्यन्तं प्रति न क्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ॥*

सुनै न काहू की कही, कहै न अपनी बात।
नारायन वा रूप में, मगन रहे दिन-रात॥

* क्रोध करनेवाले के प्रति क्रोध न करे, कोई बुरा कहे तो उससे प्रिय भाषण करे निन्दा सहन करे और किसी का भी अपमान न करे।

इस प्रकार जो निरन्तर भगवत्स्मरण में तत्पर है, सब प्रकार के कार्य करते हुए भी जिसकी मनोवृत्ति भगवत्सुखास्वादन में ही लगी रहती है, उस प्रशान्तात्मा महात्मा के लिये संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

यस्य चित्तं निर्विषयं हृदय यस्य शीतलम्।
तस्य मित्रं जगत् सर्वं तस्य मुक्तिः करस्थिता ॥*

× × ×

प्र०—बोध होने से क्या लाभ है ?

उ०—(१) बोधवान् को स्वर्ग-नरक की चिन्ता स्वप्न में भी नहीं रहती।

(२) संसार पैदा हुआ है अथवा ईश्वर ने संसार की रचना की है—यह भावना नहीं रहती।

(३) अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड की भोग्य वस्तुओं में प्रीति नहीं रहती।

(४) दुःख उपस्थित होने पर इस बात की चिन्ता नहीं होती कि यह कब और कैसे निवृत्त होगा। और न वर-शाप की ही चिन्ता रहती है।

(५) यदि किसी भी दैवी या आसुरी वस्तु को देखकर उसमें सत्यत्वभावना हो जाती है तो समझना चाहिये कि अभी बोध नहीं हुआ।

(६) सब प्रकार के कर्म करते हुए भी उनका कोई फल नहीं होता, क्योंकि वह कर्त्ता-भोक्ता को अपने से भिन्न देखता है।

× × ×

*जिसका चित्त विषयशून्य है और हृदय शान्त है उसका सारा संसार मित्र हो जाता है और मुक्ति भी उसकी मुट्ठी मे आ जाती है।

प्र०—राग-द्वेष के अत्यन्ताभाव का क्या उपाय है ?

उ०—उपाय यही है कि सारे प्रपञ्च को मनोराज्य देखे। निन्दा-स्तुति और रागद्वेष से प्रपंच में सत्यत्व दृढ़ होता है।

प्र० —अदृढ़ बोध में भी राग-द्वेष क्यों रह जाता है ?

उ०—अनेकानेक जन्मों का अभ्यास होने के कारण।

× × ×

प्र०—ब्रह्माकार वृत्ति का क्या स्वरूप है ?

उ०—वृत्ति दो प्रकार की है-सामान्य और विशेष। जीव-वृत्ति विशेष वृत्ति है, वह कर्त्ता के अधीन है और परिणामिनी है। निखिल प्रपञ्च का बाध होने पर जो प्रपञ्चशून्य निर्विशेष वृत्ति होती है उसे ब्रह्माकार वृत्ति कहते हैं। वह वृत्ति कर्त्ता का बाध करके होती है, इसलिये वह कर्त्ता के अधीन नहीं है। वह ब्रह्म की वृत्ति है और स्वतःसिद्ध एवं अपरिणामिनी है।

स्वप्न का ज्ञान जाग्रत् पुरुष को होता है, स्वप्न में रहते हुए 'यह स्वप्न है' ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति बोधवान् को ही होती है। निषेधवृत्ति तो कर्त्ता के अधीन है, किन्तु निषेध की समाप्ति में जो आत्मानुभव होता है वह स्वतःसिद्ध है। वृत्ति का काम केवल आवरणभङ्ग है। ब्रह्माकार वृत्ति मे प्रपंच केवल प्रतीतिमात्र रहता है। यह प्रतीति विदेह मुक्ति पर्यन्त रहती है। जिस प्रकार मरुभूमि में जल के अभाव का निश्चय हो जाने पर भी जब तक नेत्र हैं तब तक उसकी चकचक तो रहती ही है।

ब्रह्माकार वृत्ति की घनता होने पर निर्विकल्प समाधि होती है। उस समय प्रपंच की प्रतीति भी नहीं होती। यही ब्रह्माकार वृत्ति और निर्विकल्प समाधि का अन्तर है।

प्र०—बोधवान् का मुख्य कर्त्तव्य क्या है ?

उ०—'कुछ कर्त्तव्य नहीं है'—यह व्यतिरेक बोध है। इस समय इसका विचार नहीं है। सम्पूर्ण प्रपञ्च बोधवान् का ही संकल्प है। सारी सृष्टि जल से तरङ्ग के समान उससे भिन्न नहीं है। उसकी देहात्मबुद्धि कभी नहीं होती। जो कुछ है सब वही है। उसकी दृष्टि ही सृष्टि है। उसका जो चिन्तन है वही सृष्टि है और निःसंकल्प होना ही प्रलय है। निःसंकल्पता ही शान्ति है और संकल्प ही विक्षेप है। अतः उसे निःसंकल्पता ही कर्त्तव्य है।

प्र०—उसकी निःसंकल्पता स्वभावसिद्ध है या अभ्याससाध्य?

उ०—यह कुछ नहीं कहा जा सकता। इसे वह स्वयं ही जाने। परन्तु यह तो उसे अनुभव होता है कि मेरा सङ्कल्प ही सृष्टि है और यह निःसंकल्पता ही प्रलय है तथा निःसंकल्पता ही शान्ति है। अब संकल्प करने न करने की बात वह स्वयं जाने। अन्वय से वही सर्व है और व्यतिरेक से वही सर्वातीत है। अग्नि से दाहिका शक्ति, जल से तरङ्ग और बीज से वृक्ष भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार आत्मा से जगत् भिन्न नहीं है। इसलिये उसके लिये किसी कर्त्तव्य का विधान नहीं किया जा सकता। अतः वस्तुतः उसका कोई कर्त्तव्य नहीं है।

प्र०—यह कब समझना चाहिये कि हमें पूर्ण बोध हो गया?

उ०—जिस समय राग-द्वेष का सर्वथा अभाव हो जाय। राग-द्वेष का अत्यन्ताभाव हुए बिना साधन की पूर्णता नहीं होती। हमें ऐसी बात, ऐसे कर्म और ऐसी भक्ति की आवश्यकता नहीं है जिसमें हम सांसारिक विषयों में भी फँसे रहें और अपने को ज्ञानी या भक्त भी समझते रहें। हमें मोक्ष की परवाह नहीं करनी चाहिये। देखना यही चाहिये कि गृह, स्त्री या अपने शरीरादि किसी सांसारिक वस्तु में हमारा राग तो नहीं है।

जिस समय हमें कोई कत्ल करने को तैयार हो और हम प्रसन्नत से उसके लिये तैयार रहें—हमारे हृदय में किसी प्रकार का भय या विषाद उत्पन्न न हो, उस समय समझना चाहिये कि हमने राग-द्वेष पर विजय प्राप्त की है। अथवा जिस समय हमारी दृष्टि पड़ते ही सिंहादि हिंस्र जीवों की हिंसावृत्ति दूर हो जाय उस समय राग-द्वेष का अभाव समझना चाहिये।

प्र०—यदि ऐसी स्थिति प्राप्त न हो कि सिंहादि की सन्निधि में चित्त निर्विकार रह सके तो क्या उसे अपूर्ण बोधवान् समझ जायगा?

उ०—बोध में कमी न भी हो तो भी बोधनिष्ठा में तो कमी माननी ही होगी। पूर्ण बोधनिष्ठा में तो किसी प्रकार के सूक्ष्मा तिसूक्ष्म राग-द्वेष के लिये भी अवकाश है नहीं। जब तक ऐसी स्थिति प्राप्त न हो तब तक अभ्यास तो करते ही रहना चाहिये।

\+ + + +

१. केवल पाँच बातों से ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है; अत जिसमें ये पायी जायँ वह ज्ञान का अधिकारी है—(१) शास्त्र श्रवण, (२) विचार, (३) दूसरों को मरते देखकर अपनी मृत्यु पर विचार करना, (४) संत, महात्मा और विरक्त पुरुषों का संग तथा (५) संसारी व्यवहार को झूठा समझना।

२. जिसे ज्ञानप्राप्ति की इच्छा हो उसे आरम्भ में अपना आधा समय तो घर के काम में लगाना चाहिये। तथा शेष आधे के दो भाग करके एक भाग गुरुसेवा में और दूसरा शास्त्र के पठन-पाठन में लगाना चाहिये। फिर जब संसार से थोड़ा वैराग्य हो जाय तो जो समय घरके काम में लगाया था उसके दो हिस्से करे। उसमें से एक हिस्सा गुरुसेवा में और एक घर के काम में लगावे। और जब इससे भी उपराम होने लगे तो घर का काम

एकदम छोड़ दे तथा सम्पूर्ण समय के चार भाग करके एक भाग शास्त्र चिन्तन में, एक भगवान् के ध्यान में, एक सत्सङ्ग में और एक भाग गुरुसेवा में लगावे।

३ ज्ञानी में दो बातें नहीं रहतीं–पाप में प्रीति और विषय-जन्य सुख (अर्थात् विषय में सुखबुद्धि)। ज्ञानी स्त्री-पुत्रादि साधनों से प्राप्त होने वाले सुख में आसक्त नहीं होता, वह इन सबके त्याग का ही आनन्द भोगता है। इस अनासक्ति के कारण ही उससे कोई अशुभ कर्म नहीं होता। उसने तो असत् कर्मों को त्याग कर ही ज्ञानरूप परम धन प्राप्त किया है, फिर वह उनमें प्रवृत्त क्यों होगा ? यदि ज्ञान होने पर भी अशुभ कर्म होते रहे तो ज्ञान से लाभ ही क्या हुआ ? तथा ज्ञान और अज्ञान में अन्तर ही क्या हुआ ? मुझे गीता का यह श्लोक सबसे अच्छा जान पड़ता है—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥*

४. मुक्त होने पर शरीर छूट जाना चाहिये—ऐसा कोई नियम नहीं है। शरीर भी बना रहता है और जीव मुक्त भी हो जाता है। जिस प्रकार कोई मकान-मालिक, जब अपना मकान किसी दूसरे को दे देता है, तो उसे उसके टूटने-फूटने का भय एवं दुःख नहीं रहता। इस प्रकार वह दुःखमुक्त भी हो जाता है और मकान भी बना रहता है। इसी तरह ज्ञान होने पर शरीर भी बना रहता है और मुक्ति भी हो जाती है।

५. वैराग्य का फल बोध है और बोध का फल उपरति है इतना अन्तर अवश्य है कि वैराग्य होने पर विषय में ग्लानि होने

* जिससे संसार खिन्न नहीं होता और जो संसार से खिन्न नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग से रहित है, वह मेरा प्यारा है।

के कारण उसे भोगा नहीं जाता और उपरति होने पर वस्तु सामने रहने पर भी उसे भोगने की प्रवृत्ति ही नहीं होती। उपरति का फल आनन्द है और आनन्द का फल शान्ति है।

६. उपन्यास एवं समाचारपत्र आदि अशास्त्रावलोकन की अपेक्षा शास्त्रचिन्तन अन्तरंग है, शास्त्रचिन्तन की अपेक्षा नाम-कीर्तन और नामकीर्तन की अपेक्षा नामजप अन्तरंग है। तथा नामजप की अपेक्षा ध्यान, ध्यान की अपेक्षा ध्यानजनित आनन्द और उस ध्यानानन्द की अपेक्षा निर्विकल्पता अन्तरंग है।

७. जो चीज मुँह से छू जाती है वह जूठी हो जाती है; शब्द मुँह से निकलता है, इसलिये जो कुछ कहा जायगा जूठा (झूठा) ही होगा।

८. पूर्ण बोध की प्राप्ति के लिये जिज्ञासु को इस क्रम से अभ्यास करना चाहिये। पहले द्रष्टा और दृश्य को अलग-अलग अनुभव करे। फिर सम्पूर्ण दृश्य को एक सत्ता में लाकर उससे अपने को द्रष्टारूप से पृथक् देखे। तत्पश्चात् दृश्य को अपनी ही दृष्टि के विलासरूप से अनुभव करे और फिर उसे लीन करने की भी इच्छा न करे। इस प्रकार अपने लक्ष्य का पूर्ण निश्चय हो जाने पर उसका उठना-बैठना आदि सभी व्यवहार शान्त हो जाता है। प्राणों की निःस्पन्दता भी अपने को प्राणसाक्षी रूप से अनुभव किये बिना नहीं हो सकती।

९. राजा का बल स्थूल शरीर तक है, शास्त्र का शासन सूक्ष्म शरीर तक है और माया का प्रभाव कारण शरीर तक है। राजा अधिक से अधिक फाँसी दे सकता है, शास्त्र नरक में ले जा सकता है और माया मोह उत्पन्न कर सकती है। किन्तु तत्त्ववेत्ता की स्थिति तो इन सबसे परे अपने शुद्ध स्वरूप में होती है; इस लिये उसे इनमें से किसी से भय नहीं है।

१०. प्रकृति की आदिम उच्छृङ्खल अवस्था और नरक का गम्भीरतम हाहाकार चाहे क्यों न हो, चाहे प्रलय हो रहा हो, समुद्र सूख रहा हो, पहाड़ टूक-टूक हो रहे हों तथा विश्व की प्रत्येक वस्तु में अपने नाश के लिये घोर संग्राम क्यों न छिड़ा हो, तथापि आत्मदर्शी के चित्त में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता।

११. जो किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करता, किसी प्रकार की सामर्थ्य नहीं चाहता और कोई बात जानना नहीं चाहता वही ज्ञानी है। ज्ञानी में इन तीनों प्रकार की इच्छाओं का अभाव होता है, परन्तु यह है स्वसंवेद्य, इसे कोई दूसरा नहीं जान सकता।

१२. ब्रह्मवेत्ता की तो सर्वत्र आत्मदृष्टि होती है, व्यतिरेक दृष्टि तो जिज्ञासु को समझाने के लिये है।

१३. स्वप्न में चार पदार्थों की उपलब्धि होती है-(१) स्वप्न का जड़ दृश्य, (२) स्वप्न-पुरुष, (३) स्वप्न का कर्ता और (४) स्वप्न देखनेवाला। किन्तु जागने पर ये सभी स्वप्न अर्थात् मिथ्या जान पड़ते हैं। इसी प्रकार जड़-चेतनादि का विभाग भी अज्ञान के ही अन्तर्गत है। बोध होने पर तो सब अपना स्वरूप ही सिद्ध होता है।

१४. यद्यपि विचार दृष्टि से दृश्य का अस्तित्व है नहीं, तथापि दृश्य में राग न हो इसीका उपाय निरन्तर करता रहे।

१५. जिसे सारे जीवों की चेष्टाएँ परप्रेरित जान पड़ती हैं वही बोधवान् है। जब तक ऐसा अनुभव न हो तब तक प्रयत्न करते रहना चाहिये।

१६. निन्दा-स्तुति से कोई नहीं बचा। जिस मनुष्य का जितना अधिक आदर होता है उसका उतना ही विरोध भी होता है। इस निन्दा-स्तुति से तो ईश्वर भी बचा हुआ नहीं है। हाँ,

केवल एक ही वस्तु है जिसकी न कोई निन्दा करता है न स्तुति। वह अपना-आप है। अपनी निन्दा या स्तुति कोई नहीं करता, क्योंकि निन्दा-स्तुति विशेषण के अन्तर्गत हैं और अपना-आप निर्विशेष है।

१७. हमको अपनी स्थिति से चलायमान नहीं होना चाहिये। यदि हम अपनी स्थिति से विचलित हो गये तो हम विचारवान् कैसे? चाहे करोड़ों शत्रु उपस्थित हों, उनसे प्रेम ही करना चाहिये। और चाहे कोटि मित्र आ जाएँ उनसे राग नहीं करना चाहिये। जो मान के इच्छुक हैं उन्हें मान देना चाहिये तथा और भी जो व्यक्ति हमसे जिस वस्तु की इच्छा करे उसे यथासम्भव वह वस्तु दे देनी चाहिये।

१८. माया के चमत्कार जिसे वश में न कर सकें, जिसका चित्त संसार के किसी भी पदार्थ की ओर आकर्षित न हो और जो मन से भगवान् में लीन हो गया हो, वही सिद्ध है। जिसका चित्त माया को देखकर पिघल जाता है उसे सिद्ध नहीं समझना चाहिये।

१९. यह संसार असत् है—इसी का नाम ज्ञान है और संसार की सत्ता मानना ही अज्ञान है।

२०. तत्त्वज्ञान हुए बिना सब प्रकार का अभिमान दूर नहीं हो सकता। ज्ञान बड़ी दुर्लभ वस्तु है। ज्ञानी कौन है और कौन नहीं है—यह कोई नहीं जान सकता। तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में अज्ञान की सत्ता ही नहीं है, अतः वह किसे अज्ञानी जानेगा? तथा अज्ञानी तो समझता ही नहीं कि ज्ञान क्या वस्तु है, अतः वह ज्ञान को कैसे पहचान सकता है?

२१. राग-द्वेष के रहते हुए यदि कोई अपने को ज्ञानी मानता है तो वह मूर्ख है। ब्रह्मवेत्ता के विषय में भगवान् कहते हैं—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥'*

२२. साधक की क्रिया और भाव एक-से होते हैं, किन्तु सिद्ध के भाव और क्रिया में समानता होना जरूरी नहीं है। किन्हीं-किन्हीं सिद्धों की क्रिया बहुत ऊट-पटाङ्ग होती है। उसका भी विलक्षण आनन्द होता है। संसार में उनका कोई कर्त्तव्य नहीं रहता। इसलिये वे विचित्र खेल खेला करते हैं। एक शहर में एक महात्मा थे। वे मुहल्लेवालों का काम करते रहते थे। एक और महात्मा थे वे वेश्या की चिलम भरते थे। ऐसी क्रिया को देखकर क्या उन्हें कोई महात्मा कह सकता था। वे, हमें कोई महात्मा न जाने इसीलिये तो, ऐसी क्रिया करते थे। क्रिया को देखकर कोई साधु को पहचान नहीं सकता। यदि क्रिया शुद्ध हो और भाव दूषित हो तो वह साधु नहीं, असुर है।

२३. जो कहता है कि मैं ज्ञानी हूँ वह बड़ा मूर्ख और अज्ञानी है तथा जो अपने को अज्ञानी बताता है वह तो अज्ञानी है ही। इस प्रकार जो अपने को ज्ञानी-अज्ञानी दोनों से विलक्षण जानता है, वास्तव में वही ज्ञानी है।

२४. जब तक किसी प्रकार का भय है, तब तक तो तत्त्व-ज्ञान की गन्ध भी नहीं। जब संसार से निर्भय हो जाय और संसार को तृणवत् समझे तभी कोई ज्ञानी हो सकता है।

---

*ब्रह्म मे स्थित ब्रह्मवेत्ता स्थिरबुद्धि और मोहरहित होता है। वह प्रिय के प्राप्त होने पर प्रसन्न नही होता और अप्रिय की प्राप्ति होने पर खिन्न नही होता।

२५. किसी बुढ़िया ने एक बिल्ली पाल रखी थी। वह उसके आँगन में मर गयी तो बुढ़िया उसे उठाकर बाहर फेंक आयी। इसके पश्चात् उसी आँगन में एक ऊँट मर गया। वह कैसे फेंका जाय? इसी प्रकार संसार का अहंकार तो छूट सकता है, किन्तु ज्ञान का अहंकार कैसे छूटे।

२६. तत्त्वज्ञानी के आनन्द को कोई कह नहीं सकता और तत्त्वज्ञानी भी उसे बताने में असमर्थ है। जिस प्रकार लड़की जब ससुराल से आती है और उससे वहाँ का आनन्द पूछा जाता है, तो वह कुछ भी नहीं बताती, केवल मुस्करा देती है। इसी प्रकार तत्त्ववेत्ता भी केवल मुसका देता है, बता कुछ नहीं सकता।

२७ मैं और मेरा हटने पर फिर सब चिन्मय हो जाता है।

२८. ज्ञानी की दृष्टि में वृत्ति और जगत् भी आत्मा से भिन्न नहीं है। उसके लिये तो सब कुछ आत्मा ही है। यह सर्वविजयी ज्ञान का मुख्य सिद्धान्त है।

२९. सौन्दर्य, आराम और ज्योति ये बाह्य भी होते हैं और आन्तर भी। किन्तु जिसे आन्तरिक सौन्दर्य प्राप्त हो जाता है उसके लिये बाहर की सुन्दरता कुछ नहीं रहती। प्रेमी का सुख अलग ही है, वह अन्तराराामी होता है, उसके लिये बाहर का रमण जाता रहता है। इसी प्रकार जिसे अन्तर्ज्योति प्राप्त हो जाती है, उसके लिये बाह्य ज्योति में कोई आकर्षण नहीं रहता है।

३०. बोध होने पर वासनाओं का क्षय हो जाता है; अतः बोधवान् को काम, क्रोध, लोभ, मोह कुछ नहीं रहते।

३१. दृष्टि से सृष्टि बनाना ही वेदान्त है और सृष्टि से दृष्टि हटाना ही योग या उपासना है।

३२. जब तक संशय है तब तक विवेक हुआ नहीं कहा जा सकता। विवेकी की तो दृष्टि ही सृष्टि है। अर्थात् उसका संकल्प ही यह संसार है तथा निःसंकल्पता ही शान्ति है। चिंतन अर्थात् स्मृति का नाम ही संसार है और यही विघ्न है, तथा चिन्तन का न रहना ही शान्ति है।

३३. ब्रह्म तो प्रत्येक जीव का अपना-आप ही है, उसे वह क्या ढूँढ़े? कहा भी है—

> लहरी ढूँढे नीर को कपड़ा ढूँढे सूत।
> जीव जो ढूँढे ब्रह्म को, ये तीनों ऊत के ऊत॥

३४. तत्त्वज्ञान के लिये कुछ बनाना-बिगाड़ना नहीं होता। द्वैत ज्यों का त्यों बना रहता है और अद्वैत का बोध हो जाता है। जैसे सोने के आभूषण बने रहते हैं और उनमें सोने की अखण्डैकरसता का बोध हो जाता है। इसके लिये सोने को तोड़ना-फोड़ना नहीं पड़ता।

३५. ईश्वर की चीजों को छोड़ देना ही मुक्ति है। फिर तो हमारी और ईश्वर की एकता हो जाती है। जैसे राजा सारे देश का स्वामी होता है और किसान केवल चार खेतों का। किन्तु यदि किसान राजा के उन खेतों को छोड़ दे तो वह राजा को भूमिकर देने के दायित्व से छूटकर स्वतन्त्र हो जाता है और मस्त घूमता है। राजा और किसान की जाति तो एक ही है, अन्तर केवल शक्ति का है। यदि किसान राजा की चीज छोड़ देता है तो फिर उसकी शक्ति कम नहीं रहती, बल्कि राजा से भी बढ़ जाती है।

३६. भीतर से बड़प्पन (ब्रह्मत्व) का भाव रखना चाहिये और बाहर से छोटा बनकर रहना चाहिये।

३७. आत्मा से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है -इसी का नाम आत्मनिष्ठा है।

३८. हमारा मनोराज्य हमसे भिन्न तो नहीं होता। भिन्न वही वस्तु हो सकती है जिसका कोई दूसरा बनाने वाला हो। यह संसार भी ईश्वर का संकल्प ही है। अतः यह ईश्वर से भिन्न नहीं है।

३९. श्रुति कहती है कि ब्रह्मवेत्ता से सम्पूर्ण चराचर जीव प्रेम करने लगते हैं। इसका कारण यह है कि उसका किसी में भी राग-द्वेष नहीं रहता, क्योंकि उसकी दृष्टि शरीरादि अनात्म-पदार्थों से उठ जाती है। वह सम्पूर्ण जगत् को अपना-आप ही समझता है। उसकी दृष्टि सर्वदा दृष्टि-सृष्टिवाद पर रहती है। वह समझता है कि सारा प्रपंच मेरी ज्ञानदृष्टि का ही चमत्कार है। इसलिये उसका किसी से भी राग या द्वेष नहीं होता। परन्तु यह दृष्टि-सृष्टिवाद अभ्यास की चीज नहीं है। असंगता का अभ्यास करते-करते अपने को पूर्णतया असङ्ग अनुभव करने पर यह दृष्टि स्वयं सिद्ध हो जाती है, क्योंकि उस समय स्थूल-सूक्ष्म शरीररूप परिच्छिन्न उपाधियों से दृष्टि उठ जाती है और सम्पूर्ण प्रपंच के कारण में ही आत्मत्व का अभिमान हो जाता है।

४०. असङ्गता के अभ्यास की तीन श्रेणियाँ हैं प्रथम स्थूल शरीर से अपने को भिन्न समझना। इस अभ्यास की पुष्टि होने

से सूक्ष्म शरीर में आत्मत्व का अभिमान हो जाता है। तत्पश्चात् शब्दादि विषयों से असङ्गता का अनुभव करना। इससे दृष्टि सूक्ष्म शरीर से हटकर कारण शरीर में स्थित हो जाती है। फिर सुख दुःख से पृथक्ता का अनुभव करना। इससे दृष्टि अन्तःकरण चतुष्टय से हटकर शुद्ध आत्मा में स्थित हो जाती है।

४१. जब तक चित्त चंचल है और विषयों में सुखबुद्धि या रमणीयता बुद्धि बनी हुई है तब तक ज्ञान नहीं हो सकता। मल और विक्षेप की निवृत्ति हुए बिना तथा चित्त शुद्ध हुए बिना ज्ञान का अधिकार नहीं होता।

४२. कारणदृष्टि भगवान् है और कार्यदृष्टि संसार है। कारणदृष्टि में स्थित रहना ही भगवान् से प्रेम करना है और कार्य में आसक्ति होना ही ससार से प्रेम करना है। कारणदृष्टि ही सर्वत्र भगवान् को देखना है। इस दृष्टि की स्थिरता होने से ही भगवान् में प्रेम हो जाता है।

४३. सबसे पहले वैराग्य होता है, फिर जिज्ञासा होती है, उसके पश्चात् ज्ञान और फिर प्रेम होता है। जब आत्मा का साक्षात्कार होता है तो उसे ज्ञान कहते हैं और आत्माकार वृत्ति का स्थिर रहना ही प्रेम है।

४४. नित्य-अनित्य, सत् असत् और जड़-चेतन का विभाग वृत्ति करती है। अतः वृत्ति इन सबसे विलक्षण है। वृत्ति का लय प्रारब्ध की समाप्ति होने पर होता है। बोध भी वृत्ति से ही होता है। आत्मा तो बोधस्वरूप है अर्थात् साक्षीमात्र है। जब वृत्ति आत्माकार होती है तभी आत्मा का साक्षात्कार होता है। अतः वृत्ति ही आत्मज्ञान कराती है। आत्मा तो स्वयं प्रकाश है।

४५. जहाँ रागद्वेष और निन्दा-स्तुति हैं वहाँ ज्ञाननिष्ठा नहीं। जहाँ शास्त्र मिथ्या है वहाँ जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति भी मिथ्या है। जहाँ भेद है वहाँ साधन है, जहाँ अभेद है वहाँ सिद्धावस्था है। मिट्टी खोदने, रामलीला देखने और स्त्रियों मे रहने से भी यदि राग-द्वेष दूर होते हों तो वहीं रहे, कोई हानि नहीं। यदि एकान्त में रहने से रागद्वेष होता हो तो उसे त्याग देना चाहिये।

४६. समष्टिवृत्ति क्रियाजन्य नहीं, व्यष्टिवृत्ति ही क्रियाजन्य है। जहाँ भेद है वहाँ पुरुषार्थ है। अभेद में पुरुषार्थ नहीं। जहाँ तक गुरु और शास्त्र हैं वहाँ तक राग-द्वेष भी रहते हैं। सिद्ध पुरुषों में राग-द्वेष बिलकुल नहीं रहते।'क्षणिक राग-द्वेष रहते हैं' यह बात विवेकी की साधनावस्था के विषय में है। सिद्ध पुरुष में राग-द्वेष का अत्यन्ताभाव रहता है। राग-द्वेष की सत्ता अदृढ़ बोध में रहती है, दृढ़बोध मे नहीं।

४७. उदासीनता या वैराग्य का बोध से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस किसी मे उदासीनता, वैराग्य या मस्ती पायी जाती है वह चित्तधर्म को लेकर है। बोधवान अपने को स्वयं ही जानता है। बोधवान् को मस्ती इसलिये नहीं कि उसे कुछ प्राप्त नहीं हुआ। बोधवान को वैराग्य इसलिये नहीं कि उसे किसी में राग नहीं और उदासीनता इसलिये नहीं कि उसमें प्रवृत्ति नहीं। मस्ती आना शुद्ध बोध नहीं; मस्ती चिदाभास को होती है। इसे साभास बोध कहते हैं। मस्ती प्रसन्नता से आती है और प्रसन्नता गुणों में (सत्त्वगुण में) है, जब कि बोधवान् प्रसन्नस्वरूप है। उसमें इच्छा नहीं, इसलिये निरिच्छा भी नहीं। वह निरिच्छा-स्वरूप है; निरिच्छा गुणवाला नहीं। उसमें ग्रहण नहीं, इसलिये

त्याग भी नहीं। उसमें राग नहीं, इसलिये वैराग्य भी नहीं। उसमें अज्ञान नहीं, इसलिये ज्ञान भी नहीं। उसमें क्रिया नहीं, इसलिये वह निष्क्रिय भी नहीं। वह सगुण नहीं, इसलिये निर्गुण भी नहीं। उसमें दुःख नहीं, इसलिये सुख भी नहीं। उसमें द्वन्द्व नहीं, इसलिये वह निर्द्वन्द्व भी नहीं। अतः चित्तधर्मों के साथ बोध का कोई सम्बन्ध नहीं। वह केवल सत्तास्वरूप है। जिसे मस्ती है उसे निषेध वृत्ति करके सत्ता में आनन्द आता है। यह जिज्ञासु का आनन्द है, बोधवान् का नहीं, क्योंकि जिज्ञासु ने अपनी अस्मिता को पूर्णतया मिटाया नहीं है। इसी से उसे आनन्द होता है।

४८. जिज्ञासु को सारे संसार को एकसत्ता में लाकर अपने से भिन्न देखने का अभ्यास करना चाहिये। परन्तु दृश्य को अलग देखते हुए भी उसे सत्ताशून्य देखे, अर्थात् केवल प्रतीति-मात्र अनुभव करे। ऐसा करते-करते उसे भगवत्कृपा से इस परमतत्त्व का साक्षात्कार हो सकता है।

ज्ञानाभ्यास

प्र०—'असंगशस्त्रेण दृढ़ेन छित्वा। ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्' इस गीता के वचन में जो असङ्ग-शस्त्र माना गया है वह क्या है और उसके पीछे जिस मार्ग की खोज करने को कहा है, वह क्या है ?

उ०—सदसद्विवेकवती बुद्धि से आत्मा और अनात्मा का विचार करना असङ्ग-शस्त्र है। जब अनात्मा से आत्मा की पूर्ण असङ्गता का अनुभव होने लगे तो उसे ही असङ्ग-शस्त्र से छेदन करना कहा जाता है। उसके पीछे साधक को यह प्रश्न होता है कि ईश्वर कहाँ है और कैसा है ? इस पर विचार करना ही 'उस मार्ग की खोज करना है।' उस समय गुरु महावाक्य का उपदेश करते हैं, जिससे साधक को उस पद की प्राप्ति होती है जहाँ से वह फिर इस संसार-चक्र में नहीं लौटता।

प्र०—पूर्ण ज्ञाननिष्ठा कब समझनी चाहिये ?

उ०—जब सम्पूर्ण प्रपञ्च गंधर्वनगर अथवा आकाश-कुसुमवत् मालूम होने लगे और कोई भी चमकीला विषय अपनी ओर आकर्षित न कर सके।

प्र०—[श्रवण-मननजन्य] निःसन्देह ज्ञान हो जाने पर असङ्गता के अभ्यास की आवश्यकता क्यों है ?

उ०—परमार्थतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर भी दीर्घकालीन अभ्यास के कारण चित्त में बैठी हुई विषयों की प्रीति दूर नहीं होती—विषयों का आकर्षण बना ही रहता है। उसे दूर करने के लिये असंगता के अभ्यास की आवश्यकता है, क्योंकि बिना

अभ्यास के आत्मानन्द की दृढ़ता नहीं होती और बिना आत्मानन्द की दृढ़ता के विषयों में सुखबुद्धि बनी रहती है। अतः विषयों से उपराम होने के लिये और आत्मानन्द की प्राप्ति के लिये अभ्यास अवश्य करना चाहिये। अभ्यास से यह बात दृढ़ हो जायगी कि मैं चराचर का द्रष्टा हूँ और सम्पूर्ण दृश्य मरुभूमि का जल है।

प्र०—जगत् से असङ्गता का अनुभव हो जाने पर यदि जगत् की सत्ता बनी रहे तो क्या हानि है?

उ०—असङ्गता का निश्चय हो जाने पर भी यदि जगत् की सत्यता बनी रही तो उसमें आसक्ति हो जाना सम्भव है, क्योंकि बिना असत्यता के निश्चय के जगत् में रमणीयताबुद्धि दूर नहीं होती। इसलिये उसकी असत्यता का बोध भी परम आवश्यक है।

प्र०—कहते है, आत्मा का चिन्तन करना ऐसा सुगम है जैसे नेत्रों से रूप देखना, सो आत्मचिन्तन का वह सीधा-साधा उपाय क्या है?

उ०—यह बात निश्चित ही है कि सम्पूर्ण प्रपञ्च आकाश के भीतर है। जो वस्तु आकाश में होती है वह वस्तुतः होती नहीं है, क्योंकि उसके निमित्त और उपादान कारण का अत्यन्ताभाव है। आत्मा में एक शक्तिवृत्ति होती है। वही सम्पूर्ण प्रपञ्च को विषय करती है। जितने भाव पदार्थ हैं वे अभाव के भीतर हैं। इसलिये वह वृत्ति पहले अभाव को ही ग्रहण करती है। फिर अभावाकार होकर अन्य पदार्थों को अनुभव करती है। इस प्रकार अभाववृत्ति भाव पदार्थों की साक्षी है और आत्मा अभाव वृत्ति का साक्षी है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा सम्पूर्ण पदार्थों

में सर्वथा असङ्ग है। अभाववृत्ति के साथ तादात्म्य होने से ही उसे अन्य पदार्थों की प्रतीति होती है। विवेक की दृढ़ता हो जाने पर जब अपने को सम्पूर्ण प्रपञ्च से असङ्ग अनुभव करने लगे तो सम्पूर्ण प्रतीतियों की उपेक्षा करके उसे वृत्तिसाक्षीरूप से अनुभव करने पर उसकी स्फुट प्रतीति होने लगती है। यही आत्म-चिन्तन का सीधा-सादा उपाय है। इस प्रकार आत्मचिन्तन के इच्छुक पुरुष को प्रतीतिमात्र को आकाशकुसुम के समान समझकर उसकी उपेक्षा करते हुए निःसङ्कल्पतापूर्वक अपने-आपको वृत्ति-साक्षीरूप से अनुभव करना चाहिये। यही आत्मचिन्तन का प्रकार है।

प्र०—कोई महात्मा कहते हैं कि परोक्ष ज्ञान रहने तक तो ईश्वर का भय रहता है, परन्तु अपरोक्ष ज्ञान हो जाने पर ईश्वर का भय नहीं रहता। इसमें आपकी क्या सम्मति है?

उ०—ऐसा कहना सर्वथा भूल है। देखो, जब तक बालक अबोध रहता है तब तक अपने माता-पिता की यथोचित सेवा नहीं कर सकता। परन्तु सयाना होने पर वह विशेष विनम्र और शिष्ट होकर उनकी और भी अधिक सेवा करने लगता है। इसी प्रकार भगवान् का अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाने पर तो निरभि-मानता, विनयशीलता और नियमनिष्ठा आदि गुण और भी बढ़ जाते हैं। तब तो भगवान् की सेवा और भी अधिक कायदे से की जाती है।

× × ×

१. परमात्मा में चित्त आसक्त हुए बिना कोई साधक सिद्धावस्था को प्राप्त न होगा।

२. ईश्वरकृपा से परमात्मा में चित्त लग जाने पर उसकी मस्ती में आकर इन्द्रियों की बाह्य विषयों में प्रवृत्ति न होने दे, और उसी मस्ती में आकर शौच एवं आचार न त्याग बैठे, अर्थात् अभक्ष्य-भक्षण न करने लगे।

३. प्रथम भूत-भविष्यत् का चिन्तन त्याग कर वृत्ति को एक लक्ष्य पर ठहराओ। कुछ काल ठहरने के पश्चात् रस का आविर्भाव होगा। तब निर्विकल्प अवस्था की प्राप्ति के लिये रसास्वाद का त्याग करना चाहिये। रस के आविर्भाव से पहले रसास्वाद के त्याग की भावना नहीं करनी चाहिये।

४. दृढ़ ज्ञान हो जाने पर जो भाव जागृति में रहता है वही स्वप्न में भी रहता है। जो मनुष्य मांस नहीं खाता वह स्वप्न में भी मांसभक्षण नहीं करता। सच्चा ब्रह्मचारी स्वप्न में भी स्त्री-सेवन नहीं करता। परन्तु ऊपर से ही ज्ञान की बातें बनानेवालों पर जब थोड़ी-सी भी आपत्ति आ जाती है तो वे सब ज्ञान भूल जाते हैं। सच्चा ज्ञानी तभी समझना चाहिये जब सिर पर दुःखों का पहाड़ टूट पड़ने पर भी निष्ठा से विचलित न हो।

५. आत्मक्रीड़ा और आत्मरति के लिये किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती। स्त्री-क्रीड़ा, धन-क्रीड़ा या पुत्र-क्रीड़ा आदि सांसारिक भोगों के लिये तो बड़े-बड़े साधनों की आवश्यकता होती है।

६. चार बातें सर्वदा याद रक्खो। ये विचार की चार श्रेणियाँ हैं—

(१) संसार को दुःखरूप समझना।

(२) उसे स्वप्नवत् समझना।

(३) उसे भगवान् की माया समझना और (४) उसे आत्मा की तरङ्ग जानना।

७. ज्ञेय का ध्यान न करना ही ज्ञाता का ध्यान है।

८. ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध कभी नहीं होता—ऐसा चिन्तन हर समय रखना चाहिये।

९. शरीर अलग है और मैं अलग हूँ, पहले ऐसी भावना करनी चाहिये। हरा, पीला, काला, लाल जो भी रूप दीखता है, उससे मैं अलग हूँ। राग-द्वेष, सुख-दुःख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति सभी से मैं अलग हूँ।

१०. ज्ञेय अलग है और ज्ञाता अलग है—यह भाव परिपक्व हो जाने पर ज्ञेय ज्ञाता की चमकमात्र है और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार ज्ञेय का ध्यान न करना ही ज्ञाता का ध्यान है। ज्ञेय से ज्ञाता अलग है—ऐसा हर समय चिन्तन करना चाहिये।

११. सब ज्ञेय है; इसलिये भय, क्रोध, राग, द्वेष किसी से भी नहीं करना चाहिये। शम, दम, ध्यान, सर्वदा त्याग, वैराग्य–इन पाँचो पर विशेष जोर देना चाहिये। राग और भय भगवान् से हों तो ये मुक्ति के और संसार से हों तो बन्धन के कारण हैं।

१२. भगवान् परिपूर्ण हैं, उनसे प्रेम करने की आवश्यकता है। आनन्द ज्ञान में नहीं, प्रेम में है। किसी पुरुष को जान लेना ज्ञान है और उससे पुनः पुनः मिलना प्रेम, भक्ति या अभ्यास है।

१३. याद रखो, संसार दुःखरूप है, स्वप्नवत् है, माया है, आत्मा की तरङ्ग है। आकाश में कोई वस्तु है और मैं आकाश से अलग हूँ, तो आकाश में उस वस्तु के नष्ट या उत्पन्न होने पर मुझे सुख-दुःख क्यों होगा?

१४. सब संसार भावना से ही बना है, देह भी भावना से बना है। विपरीत भावना से इस भाव का अभाव करो।

१५. प्रकृति जड़ नहीं है, उसका कार्य जड़ है, क्योंकि प्रकृति जड़-चेतन का विभाग करती है। पुरुष तो कुछ करता नहीं,

इसलिये प्रकृति को जड़ नहीं कह सकते। 'कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।' प्रकृति कुछ भी हो, हमको उससे क्या प्रयोजन? हमें तो पुरुष को ही जानना है, उसी से हमारा प्रयोजन सिद्ध होता है।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥*
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥†

इन श्लोकों में जो बात बतायी गयी है वह अत्यन्त गहन है। भगवान् की विशेष कृपा होने पर ही यह बात समझ में आती है। ईश्वरकृपा, गुरुकृपा, शास्त्रकृपा और आत्मकृपा—इन चार कृपाओं के होने पर ही पूरा लाभ होता है।

१६. ब्रह्मविद्या से बढ़कर और कोई विद्या नहीं है। इससे बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है। जिसके पास ब्रह्मविद्या है उसे, यदि सारा संसार अग्निमय हो जाय तो दुःख नहीं होता और सुवर्णमय हो जाय तो सुख नहीं होता। वह तो इसे स्वप्नवत् समझता है।

१७. यह विषवत् तृष्णा केवल आत्मारामी पुरुष को ही धोखा नहीं देती। बाकी सब संसार को यह नचाती है। जिसमें अहंता-ममता नहीं होती वही शान्तिपद को प्राप्त कर सकता है।

---

* हे अर्जुन! मुझसे परे कुछ भी नहीं है। यह सब कुछ धागे में धागे के दानों के समान मेरे मे ही ओतप्रोत है।

† पुरुष से परे और कुछ नही है। वही सबकी सीमा है, वही परम गति है।

१८. आनन्द विषयों में नहीं, केवल आत्मा में ही नित्य आनन्द है। सत्सङ्ग का फल तो निरन्तर परमात्मा का चिन्तन करना ही है। और परमात्मा में प्रेम तभी हो सकता है जब विषयों की प्रीति दूर हो।

१९. कुछ भी हो, बिना संयम के कुछ भी नहीं हो सकता। संयम के द्वारा ही दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होती है। संयमरहित जीवन व्यर्थ है। दृढ़ अभ्यास की निरन्तर आवश्यकता है। शिथिल अभ्यास से कुछ नहीं होने का। सावधान चित्त से निरन्तर अभ्यास में लगे रहो। यह पुस्तकी विद्या नहीं है, अनुभव का पथ है।

२०. आत्मनिष्ठा के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। आवश्यकता है आत्मनिष्ठा होने की। जब तक चित्त में वासनाओं का निवास है तब तक ज्ञान उदय नहीं हो सकता। वासना ही जन्म का कारण है। ज्यों ही वासना नष्ट होगी त्यों ही वह जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, दुःख और दोष से पृथक् हो जायगा।

२१. आज-कल बहुत लोग ऐसे हैं जो ज्ञान के साथ भोग भी चाहते हैं। इन्द्रियों के साथ खेल भी करना चाहते हैं। खेल तो एक ही के साथ होगा। आत्मा के साथ खेल करनेवाला इन्द्रियों के साथ कैसे खेल कर सकता है। इन्द्रियों के साथ खेल करने में महान् दुःख है और इससे बड़ी हानि उठानी पड़ती है, जिसकी कभी पूर्त्ति नहीं हो सकती। इस हानि से बचने के लिये निग्रह करना चाहिये।

२२ जब तक चित्त लीन नहीं होता तब तक क्रिया के सम्बन्ध से विकार हुए विना नहीं रह सकता। चित्त लीन होजाने पर फिर जो क्रिया होती है वह केवल लीलामात्र होती है; उसमें आस्था न रहने के कारण कोई विकार नहीं होता।

२३. निवृत्तिपरायण होना—यह ज्ञान का फल है।

२४. सच्चिदानन्द की प्राप्ति ही मुक्ति है और उसकी प्राप्ति होगी तब जब मन में कोई वासना न होगी।

२५. ज्ञानी में चार बातें नहीं रहतीं—जगत् में सत्यत्व-बुद्धि, सुख, रमणीयता और राग।

२६. ज्ञाननिष्ठ पुरुष चार प्रकार का त्याग करे—(१) रूप का सर्वथा त्याग, (२) धन का सर्वथा त्याग, (३) रसास्वाद का सर्वथा त्याग, (४) मानापमान की वासना का सर्वथा त्याग।

२७. जब एक चीज छोड़ोगे तभी दूसरी में प्रवेश कर सकोगे। और जब वह दृढ़ हो जायगी तो सब कुछ वही जान पड़ेगा, और कुछ नहीं।

२८. अपने-आपका चिन्तन नहीं हो सकता, केवल ज्ञान ही होता है। जो अपने से पृथक् है उसका तो चिन्तन भी हो सकता है और ज्ञान भी। भगवान् का विग्रह और गुरु का शरीर अपने से पृथक् होते हैं, इसलिये उनका चिन्तन भी होता है और ज्ञान भी। सच्चिदानन्द परब्रह्म तो अपना-आप ही है। उसका जो चिन्तन किया जाता है वह तो भावमात्र है।

२९. जब भगवदाकार वृत्ति हो जाती है तो जीव संसार से तर जाता है। फिर उसके लिये संसार रहता ही नहीं जैसे रस्सी का ज्ञान होने पर सर्प का अत्यन्ताभाव हो जाता है। यही निष्ठा है। यदि इस पर ध्यान रखा जायगा तो संसार-सर्प का अत्यन्ताभाव हो जायगा। जब संसार है ही नहीं तो फिर उसका चिन्तन क्यों करते हो?

३०. जहाँ तक बने ब्रह्माकार वृत्ति को ही बढ़ाना चाहिये। वृत्ति के बढ़ने से निद्रा-तन्द्रा आदि दोष स्वतः ही नष्ट हो जाते

हैं तथा वृत्ति की स्थिरता होने से आसन भी स्वयं ही स्थिर हो जाता है।

३१. समाधि हमारा लक्ष्य नहीं होना चाहिये, समाधि में परमार्थबुद्धि होना अज्ञान का ही चिह्न है। चिन्तन करते-करते समाधि अपने-आप होगी। न भी हो, तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं। परन्तु भगवच्चिन्तन के स्थान में समाधि पर मुख्य दृष्टि होना तो असदभिनिवेश ही है।

३२. चिन्तन के समय असंगता की ही भावना करनी चाहिये। जगत् की असत्ता तो विचार से सिद्ध ही है। उसकी भावना करने की आवश्यकता नहीं है।

३३. पहले इष्ट वस्तु में आसक्ति होती है। तत्पश्चात् भाव होता है और फिर प्रेम की प्राप्ति होती है। प्रेम ही को समाधि कहते हैं। उस समाधि के अनन्तर जो स्थिति होती है उसी का नाम जीवन्मुक्ति है।

अभ्यास की आवश्यकता

१. अभ्यास के द्वारा चित्त को शान्त करो, विषयों का चिन्तन करना मन को आहार प्रदान करना है। संकल्पपुर के पदार्थों का स्मरण करने से ही पतन हो जाता है।

२. किसी के सम्बन्ध में विचार या स्मरण करना उसका संग करना ही है। संग से वस्तु समीपता का रूप धारण कर लेती है तथा संग का त्याग करने से त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं।

३. चित्त में शुद्ध विचारों को भरो, शुभ विचारों के साथ खेल करो और उन्हीं के साथ जीवन बिताओ।

४. सारा अभ्यास मन से सम्बन्ध रखता है। भगवत्तत्व समझने के लिये मन का अभ्यास अपेक्षित है। केवल शारीरिक तप से कुछ नहीं होगा। शारीरिक तप से देहबुद्धि कम होती है और शरीर की आसक्ति में भी शिथिलता आ जाती है। इस प्रकार का अभ्यास स्थूल चित्तवालों के लिये है।

५. वाणी का तप भी आवश्यक है। लोग प्रायः अभ्यास में वाणी की साधना भूल जाते हैं। मैं तो कहता हूँ केवल सत्यभाषण से ही आत्मसाक्षात्कार हो सकता है। किन्तु सत्य में सरलता भी निहित है। सरलता सत्य से पृथक् नहीं।

६. आवश्यकता ऐसे अभ्यास की है, जिसमें वाणी का उद्वेग न हो। जिस वाणी में कटुता है, उद्विग्नता है, चञ्चलता है, वह वाणी अभ्यास से रहित है। जो व्यक्ति वाणी द्वारा चित्त में विक्षोभ पैदा कर देता है वह सत्य के यथार्थ स्वरूप से बहुत दूर चला जाता है। इसलिये यदि किसी को समझाया जाय तो मधुर

वाक्यों से ही समझाना चाहिये। यदि शत्रु को भी किसी प्रकार की सूचना देनी हो तो मीठे शब्दों से ही सूचना देनी चाहिये।

७. शारीरिक तप द्वारा देह-बुद्धि का नाश कर दो।

८. वाणी के तप द्वारा सरलता, सुशीलता, पवित्रता एवँ मधुरता आदि कोमल एवं शान्त सद्गुणों को प्राप्त करो।

९. मानस तप द्वारा मन में भरे हुए सारे सङ्कल्पों का नाश कर दो। सारी वासनाओं का क्षय कर दो। कोई भी वासना क्यों न हो, उसका तिरस्कार कर दो। वासनारत मनुष्यों के संसर्ग में कभी मत जाओ।

१०. आवश्यकता है निरन्तर अभ्यास करते रहने की। विना अभ्यास के कुछ भी नहीं हो सकता। अभ्यास और वैराग्य-रहित जीवन व्यर्थ है।

११. विचार करो, समस्त दृश्य जगत् संकल्प से पूर्ण है। जैसा संकल्प करोगे, ठीक उसी भाँति दृष्टिगोचर होने लगेगा। संकल्प समुद्र के जल की बूँद के समान है। अनन्त संकल्पसमूह ही संसार है। वास्तव में संकल्प से भिन्न कुछ भी नहीं है। ऐसा विचार करके विश्वप्रपञ्च की आसक्ति का नाश कर दो।

१२. सबसे प्रबल विघ्न तो तुम्हारी वासनाओं का स्फुरण ही है। वासनाक्षय से अध्यास की कमी होती जायगी। ज्यों-ज्यों वासना का क्षय होगा त्यों-त्यों देहाध्यास की कमी होती जायगी। देहाध्यास घोर जड़ता है। इस घोर जड़ता को दूर किये विना आध्यात्मिक क्षेत्र में उतरना कठिन होगा। इसके लिये न तो मन के साथ युद्ध करना होगा और न उसे किसी वस्तु का प्रलोभन देकर फुसलाना ही होगा। किन्तु एक आवश्यक कार्य अवश्य पूरा करना होगा। वह है—मन में भरे हुए नाना प्रकार

के संकल्पों का नाश । ज्यों ही तुम्हें इस कार्य में सफलता होगी त्यों ही सांसारिक प्रलोभन तुम्हारी ओर स्वतः ही आकर्षित होने लगेंगे । निरन्तर छः महीने की निर्बल साधना से भी संसार के प्रलोभन आने लगते हैं। इस अवस्था में खूब सावधान रहना चाहिये ।

१३. अभ्यासी से प्रथम तो पाप होते ही नहीं । यदि प्रमादवश कोई हो भी जाता है तो तीव्र अभ्यासरूप अग्नि में तुरन्त भस्म हो जाता है ।

१४. सत्संग करे और अभ्यास न करे तो क्या लाभ है ? जैसे कोई रामायण तो पढ़े, किन्तु रामभक्त न हो, अथवा श्रीमद्‌भागवत का पारायण करते हुए भी श्रीकृष्णचन्द्र का अनुयायी न हो ।

१५. श्रद्धा, तत्परता और जितेन्द्रियता—इनमें से एक के भी अभाव में इष्ट की प्राप्ति नहीं हो सकती । अतएव लक्ष्य की सिद्धि के लिये तीनों की ही आवश्यकता है ।

१६. सीखने की वस्तु भजन ही है, ब्रह्मविचार नहीं । विचार तो भजन के फलरूप से स्वयं ही प्राप्त हो जाता है । जो भजन करता है उसे कालान्तर या जन्मान्तर में विचार हो ही जायगा । अतः विचार के लिये भजन नहीं छोड़ना चाहिये ।

१७. मैंने इस प्रान्त के एक बहुत बड़े विद्वान् से पूछा, 'पण्डित जी ! आपने तो शास्त्र का पूर्ण अध्ययन किया है, कुछ अपना अनुभव बताइये ।' इस पर पण्डितजी ने कहा—'निरन्तर अभ्यास करते रहने और पूर्णतया वासनारहित होने पर ही अनुभव होता है; केवल शास्त्र पढ़ लेने से कुछ नहीं होता । जब तक वासना है, चित्त में शान्ति आ नहीं सकती । वासना का नाश होते ही चित्त में शान्ति का उदय होगा । वासनारहित चित्त ही परमतत्व के चिन्तन का अधिकारी है ।'

१८. पढ़ने-पढ़ाने से कुछ नहीं होता। यह तो एक कला है, इसका ईश्वर से सम्बन्ध नहीं है। यह जरूर है कि जड़वादियों की अपेक्षा तो शास्त्र पढ़ने-पढ़ाने वालों का जीवन भी अच्छा है। कम से कम शुभ संस्कार ही पड़ते हैं। इसीलिये शास्त्रकारों ने अभ्यास पर बहुत जोर दिया है। अभ्यास करो, इसीसे सफलता होगी। निरन्तर अभ्यास करते रहने से ही परमतत्त्व की उपलब्धि होती है। वासनायुक्त जीवन से अभ्यास नहीं हो सकता। अत आवश्यकता है—सबसे पहले वासना-त्याग करने की।

१९. मरने के पश्चात् तो कुत्ते भी शान्त हो जाते हैं। हमें तो इस जीवन में ही अन्तिम तत्त्व, अन्तिम पद की प्राप्ति करनी है। अतः जीवन्मुक्त होने के लिये निरन्तर अभ्यास करते रहो। यह जरूर है कि तुम्हें नित्य प्रति के अभ्यास में, इस संघर्षमय नियन्त्रण में कठिनाई होगी, बड़ी-बड़ी असुविधाओं का सामना करना होगा और उस समय तुम्हे सावधान रहना होगा।

२०. जिज्ञासु दो प्रकार के होते हैं—कृतोपास्ति और अकृतोपास्ति। कृतोपास्ति को ज्ञान होते ही दृढ़ हो जाता है, पर अकृतोपास्ति को दृढ़ नहीं होता। अतः उसे दृढ़ ज्ञान प्राप्त करने के लिये अवश्य अभ्यास करना चाहिये।

२१. ध्यान स्थूल वस्तुओं के त्याग को कहते हैं। ईश्वर सूक्ष्म है और सूक्ष्म ही सूक्ष्म को प्राप्त कर सकता है। चित्त समाधि में जाने से सूक्ष्म हो जाता है। अतः ईश्वरप्राप्ति के लिये समाधि अवश्य करनी चाहिये।

२२. आनन्द लखने से होता है, सुनने-सुनाने से नहीं होता। एक संत ने कहा है—

'सुनत-सुनत सो सुनि परे, बकत-बकत बकि जाय ।
लखत-लखत सो लखि परे, उर आनन्द न समाय ।।

२३. जब तक मनोराज्य हो तब तक ज्ञानी को निरन्तर ब्रह्माकार वृत्ति करते रहना चाहिये । जब मनोराज्य होना बन्द हो जाय तब उसका कोई कर्त्तव्य नहीं रहता ।

२४. स्वरूप-बोध हो जाने पर जगत् को स्वसत्ता से अभिन्न अनुभव करे । यदि प्रपंच की भिन्न सत्ता रहेगी तो उससे असङ्गता और उसका अत्यन्ताभाव नहीं हो सकेगा । अब उसके त्याग की आवश्यकता नहीं है, उसे स्वसत्ता से अभिन्न देखता रहे । त्याग की आवश्यकता तो उपासक को होती है, क्योंकि इष्टाकार वृत्ति के लिये अन्य का त्याग अत्यन्त आवश्यक है ।

२५. संसार में प्रथम तो वैराग्य होना ही कठिन है । यदि वैराग्य हो भी गया तो कर्मकाण्ड का छूटना कठिन है । यदि कर्मकाण्ड से छुटकारा मिल गया तो काम-क्रोधादि से छूटकर दैवी सम्पत्ति प्राप्त करना कठिन है । यदि दैवी सम्पत्ति भी आ गयी तो भी सद्‌गुरु का मिलना कठिन है । यदि सद्‌गुरु भी मिल जाय तो भी उनके वाक्य में श्रद्धा होकर ज्ञान होना कठिन है । और यदि ज्ञान भी हो जाय तो भी ब्रह्माकार वृत्ति का स्थिर रहना कठिन है । यह स्थिति तो केवल भगवत्कृपा से ही होती है, इसका कोई अन्य साधन नहीं है । श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं–

यह गुण साधन तें नहिं होई । तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई ।।

२६. विषय की शक्ति महान् है । यह ज्ञानी, भक्त और विद्वान् में भी क्षोभ उत्पन्न कर देता है । अतः विषयचिन्तन नहीं करना चाहिये । जो पुरुष इन्द्रियारामी होता है उसका चित्त विषयों में आसक्त हो जाता है । अतः मैं तुझे सिद्धान्त की बात बताता

हूँ। तू विषयों को जीतने के लिये वीर रह और सर्वदा विषयों की ओर से सावधानी रख। इसके लिये दो ही बातें हैं—

(१) भगवदाकार वृत्ति सर्वदा करता रहे।

(२) विषयों से सर्वदा वैराग्य रखे। विषयों का आना तो प्रारब्धाधीन है, परन्तु उन्हें भोगना अविचार या विषयासक्ति ही है।

२७. चित्त को देखते रहना चाहिये। जब तक भगवदाकार वृत्ति नहीं होती तब तक चित्त को कोई देख नहीं सकता। मन तो एक ही है। जब मन जपादि में रहेगा तो कुछ ही दिनों में विषयासक्ति चित्त से निकल जायगी। कारण कि एक मन तो एक ही जगह रह सकता है। गोपियों ने भी कहा था—'ऊधो, मन न भये दस बीस'।

२८. भगवदाकार वृत्ति का अभ्यास साधक तो करता ही है, सिद्ध की शोभा भी इसे करते रहने में ही है। संयम से तो दो चार इन्द्रियों के विषयों का राग छूट सकता है। सम्पूर्ण इन्द्रियों का राग तो बिना भगवद्विग्रह या भगवत्स्वरूप से राग हुए नहीं जा सकता।

२९. देखो, यह अभ्यास का ही प्रभाव है कि माँ बहिन के समीप रहने पर भी उनमें कामभाव नहीं होता; क्योंकि उनमें माँ बहिन की भावना दृढ़ हो जाती है। किन्तु यदि परिचय न हो और साक्षात् अपनी बहिन या लड़की मिल जाय तब भी चित्त में काम भाव आ सकता है, कारण कि उनमें बहिन या पुत्री की भावना दृढ़ नहीं हुई।

३०. जब तक दृढ़ता अर्थात् निष्ठा न हो तब तक निदिध्यासन अर्थात् ध्यान करने की आवश्यकता है। जिस तरह विद्यार्थी

पाठशाला में पढ़े हुए अपने पाठ को यदि बार-बार नहीं दुहराता तो सफल नहीं हो सकता।

३१. चाहे आँखें खुली रखो, चाहे बन्द, आवश्यकता है चेष्टाशून्य हो जाने की। इस अभ्यास से सारी बीमारियाँ दूर हो जाती हैं। अपने नित्यप्रति के लौकिक अथवा पारमार्थिक कार्यों में भी नियमनिष्ठा से काम लेना चाहिये। भोजन दोनों समय करो, परन्तु आहार थोड़ा होना चाहिये।

३२. जब तक विचार का उदय नहीं होता तब तक तो जिज्ञासु के लिये ज्ञान ही बड़ा है, किन्तु ज्ञान हो जाने पर आत्मा में आसक्ति होना ही बड़ी बात है।

ज्ञान और भक्ति

प्र०—वेदान्तचर्चा विशेष लाभप्रद है या भगवच्चर्चा ?

उ०—अत्यन्त वैराग्ययुक्त तर्कप्रधान पुरुषों के लिये वेदान्त-विचार विशेष लाभप्रद है और हृदयप्रधान पुरुषों के लिये भगवच्चर्चा विशेष लाभप्रद है। भक्तों के लिये वेदान्तचर्चा विघ्नरूप है, किन्तु वेदान्तियों के लिये भगवच्चर्चा विघ्नरूप नहीं है। जिस स्थान पर वेदान्त की चर्चा होती हो भक्त वहाँ से उठकर चला जाय। मुझे ऐसा अनुभव हो चुका है कि वेदान्त की बातें सुन कर भक्तों का सारा भक्तिभाव नष्ट हो जाता है। इसीलिये, मैं ऐसा कहता हूँ। शास्त्र में इस सम्बन्ध में क्या लिखा है, इसका मुझे पता नहीं।

प्र०—क्या भक्तों पर भी प्रारब्ध का प्रभाव रहता है ?

उ०—भक्तों के लिये प्रारब्ध नाम की कोई चीज नहीं है, वह तो ज्ञानियों के लिये है। जिनका भगवान् से सम्बन्ध हो गया है उनका प्रारब्ध क्या कर सकता है ?

प्र०—तत्त्वज्ञान और भगवद्दर्शन—इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है ?

उ०—तत्त्वज्ञान में केवल शुद्ध ब्रह्म रहता है, उसमें भक्त और भगवान का अत्यन्ताभाव है इसलिये मुमुक्षु के लिये तत्त्वज्ञान श्रेष्ठ है, क्योंकि वह निर्वाणपद है। और भक्त के लिये भगवद्दर्शन श्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें भक्त और भगवान दोनों रहते हैं—यह प्रेमपथ है। इन दोनों में भगवद्दर्शन ही अधिक उपादेय और विशेष हितकर है।

प्र०—महाराजजी, द्वैतवादी और अद्वैतवादी का मेल कैसे हो सकता है ? इनमें एक तो ईश्वर से अपना भेद मानता है और दूसरा अभेद।

उ०—इन दोनों का मेल क्यों नहीं हो सकता ? क्या अद्वैतवादी भजन नहीं कर सकते ? श्रीनारदादि क्या अद्वैतवादी नहीं हैं; जो अहर्निश कीर्तन करते हैं। भगवान् शङ्कर ज्ञानियों के गुरु होकर भी रात-दिन रामनाम जपते रहते हैं। तथा वशिष्ठजी अद्वैतवाद के आचार्य होकर भी निरन्तर कर्मकाण्ड में लगे रहते हैं। जगद्गुरु शङ्कराचार्य ने भी देखो, कैसे-कैसे सुधार किये। भला अद्वैतवादी क्या नहीं कर सकता। ये बड़े वीर और निर्भय होते हैं तथा सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करते। अद्वैतवाद किसी भी चीज को बनाता या बिगाड़ता नहीं है। सम्पूर्ण आभूषण सुवर्णमात्र हैं—यह जानने के लिये क्या आभूषणों को बिगाड़ने की आवश्यकता है ?

प्र०—तत्त्वज्ञान होने के पश्चात् भगवद्दर्शन हो सकते हैं या नहीं।

उ०—हो सकते हैं। जब तक प्रारब्ध रहता है तब तक प्रारब्धजनित इच्छा भी रहती है। ज्ञानी को जो भगवद्दर्शन की इच्छा होगी वह उसके लिये प्रारब्धजन्य मानी जायगी। निष्काम कर्म या निष्काम भक्ति के बिना तो ज्ञान-प्राप्ति हो ही नहीं सकती और निष्काम भक्ति में जो भगवद्ध्यानादि किया जाता है वह सकाम न होने पर भी उसमें भगवद्दर्शन की कामना छिपी रहती है। निर्वाणपद या मोक्ष की प्राप्ति होने से पहले उसे ज्ञान हो जाता है। उसके पश्चात् यदि उसे भगवद्दर्शन की इच्छा होती है तो उसे प्रारब्धजन्य ही मानना होगा, नहीं तो उसे ज्ञान होने में ही शङ्का होगी।

प्र०—भगवद्दर्शन होते ही तत्त्वज्ञान हो जाता है या कालान्तर में ? अर्थात् ऐसे भक्त को उसके जीवनकाल में ही तत्त्वज्ञान हो जाता है, या मृत्यु के पश्चात् ? अथवा उसे तत्त्वज्ञान होता ही नहीं है ?

उ०—तत्त्वज्ञान भगवद्दर्शन के साथ भी हो सकता है और कालान्तर में भी। दर्शन के बाद यदि ज्ञान की इच्छा करे तो ज्ञान हो सकता है, परन्तु जो भगवत्प्रेम में मस्त है वह तो ज्ञान चाहता नहीं, फिर बिना चाहे उसे ज्ञान कैसे होगा ? तत्त्वज्ञान की तरह भगवद्दर्शन के पश्चात् भी काम क्रोधादि का लेश नहीं रहता, क्योंकि उसे तो सब भगवद्रूप या भगवल्लीला ही दीखता है। फिर वह किससे कैसे और क्यों द्वेष करेगा ? देखो, मित्र का पत्र मिलने पर उस पत्र से तथा इसी प्रकार मित्र के वस्त्र और कुरते से भी प्रेम होने लगता है, तब जो भगवत्प्रेमी हैं उनका भगवान् में कैसा प्रेम होगा, इसका सहज ही में अनुमान हो सकता है।

प्र०—ज्ञान और भक्ति के अधिकारी, साधन एवं फलों का पृथक्-पृथक् वर्णन कीजिये।

उ०—अधिकारी तीन प्रकार के होते हैं—(१) विषयी, (२) उपासक और (३) जिज्ञासु। विषयी उन्हें कहते हैं जो शास्त्रानुसार ऐहिक और पारलौकिक भोगों की इच्छा करते हैं। उन्हें न तो ज्ञान की इच्छा होती है, न भक्ति की। उनका चरम लक्ष्य तो स्वर्ग ही होता है। दूसरे अधिकारी भगवान् के सगुण या निर्गुण रूप में प्रेम रखते हैं। किन्तु जिसकी प्रवृत्ति भगवत्प्रेम में न होकर भगवत्तत्व को जानने की ओर होती है उसे जिज्ञासु कहते हैं। भक्त को अपना और भगवान् का भेद, भक्ति के साधन, भक्ति के स्वरूप, भक्ति के फल और भक्ति के विघ्नों का ज्ञान

होना चाहिये । तथा जिज्ञासु वह होता है जिसे अपने, भगवान् के और संसार के स्वरूप को जानने की इच्छा होती है।

भक्तों को निरन्तर भगवदाकार वृत्ति करते रहना चाहिये। इसके लिये उन्हें भगवत्स्मरण, भगवद्गुणानुवाद, भगवत्सेवा भगवद्ध्यान और भक्तों का सङ्ग करते रहना चाहिये । प्रेम-योगिनी ब्रजांगनाओं की दशा का वर्णन करते हुए श्रीमद्भागवत में कहा है—

'तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥'

अर्थात् 'गोपियों के चित्त भगवान् में ही लगे रहते थे, वे उन्हीं की चर्चा करती रहती थीं, उन्हीं के लिये उनकी सारी चेष्टाएँ थीं, इस प्रकार वे भगवन्मयी हो रही थीं । तथा उनका गुणगान करते हुए उन्हें अपने घरों की भी सुध नहीं रहती थी ।' यह तो भक्तों के साधनों की बात हुई । जिज्ञासु को साधनचतुष्टयसम्पन्न होकर गुरु की शरण में जा विधिपूर्वक वेदान्त का श्रवण, मनन, और निदिध्यासन करना चाहिये । उसके लिये ये ही साधन हैं। भक्ति का फल भगवत्प्रेम है और ज्ञान का फल दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति ।

प्र०—भक्ति ज्ञान का हेतु है या ज्ञान भक्ति का हेतु है ?

उ०—अविद्या से मुक्त होना ज्ञान है । उस ज्ञान में भक्ति ही हेतु है । भक्त जो यह कहता है कि मेरा प्रेमास्पद पूर्ण है, वह उसकी श्रद्धा है । ज्ञानी ब्रह्म के जितने लक्षण बतलाता है उन सबकी भावना भक्त अपने इष्टदेव में करता है । वह समझता है कि मेरा प्रियतम विभु है, अनन्त है, सर्वसमर्थ है और निर-तिशय है । इससे उसे स्वयं ही बोध हो जायगा । भक्ति ज्ञान का

स्वतन्त्र साधन है। जिज्ञासापूर्वक की हुई भगवद्भक्ति स्वयं ही ज्ञान उत्पन्न कर देती है। ऐसे भक्त को ज्ञानप्राप्ति के लिये सांख्य-सम्मत विवेक करने की आवश्यकता नहीं होती।

भक्ति दो प्रकार की है—साधनरूपा और प्रेमलक्षणा। जिज्ञासापूर्वक की हुई साधन-भक्ति ही ज्ञान की जननी है। किन्तु प्रेमलक्षणा भक्ति तो स्वतः फलस्वरूपा ही है। ऐसा प्रेमी ज्ञान की भी इच्छा नहीं किया करता। ब्रह्म के जितने लक्षण शास्त्रों में बतलाये गये हैं उन सभी की भावना वह अपने प्रियतम में करता है। प्रेम में कभी पूर्णता नहीं होती, प्रेमी सर्वदा अपने प्रियतम की याद में छटपटाया करता है। प्रेमी के बाह्य लक्षणों का वर्णन करते हुए किसी फारसी कवि ने कहा है—

आहे सर्दो रंगे ज़र्दो चश्मे तर। इन्तज़ारी बेक़रारी बेसबर॥
कमगुफ्तनो कमखुर्दनो ख्वावे हराम। आशिकारां नौ निशां बाशद पिसर॥*

किन्तु ज्ञान में पूर्णता है, कृतकृत्यता है और निश्चल शान्ति है।

प्र०—अनेक महानुभावों का मत है कि भगवान् का भक्त अज्ञानी नहीं रह सकता। श्रीभगवान् ने भी कहा है—

'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥'‡

फिर भक्तों में ऐसी अपूर्णता क्यों देखी जाती है?

उ०—जिस प्रकार ज्ञानी का स्वभाव माना जाता है उसी प्रकार यह भक्त का स्वभाव है। इससे यह नहीं समझना चाहिये

---

* ठण्डी आहें, पीला रङ्ग, सजल नयन, प्रतीक्षा, बेचैनी, अतृप्ति मितभाषण, मिताहार और नींद न आना—हे पुत्र! ये प्रेमियों के नौ चिह्न हैं।

‡ मेरा निरन्तर चिन्तन करने वाले और प्रीति पूर्वक मेरा ही भजन करने वाले भक्तों को मैं बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं।

कि भक्त अज्ञानी रहता है। हनुमानजी, नारदजी, सनत्कुमारजी, शुकदेवजी और गोपीजन— ये सब भगवान् के अनन्य भक्त थे, किन्तु क्या वे अज्ञानी थे? वे सभी पूर्ण बोधवान् थे। उनकी भक्तवत् चेष्टा तो उनका स्वभाव थी।

प्र०—ज्ञानी और भक्त के सिद्धान्तों में क्या अन्तर है?

उ०—ज्ञानी की दृष्टि में परमार्थ वस्तु के साथ माया का कोई सम्बन्ध नहीं है और भक्त की दृष्टि में प्रपञ्चसहित भगवान् परमार्थ है। सुवर्ण में जो कुण्डलादि का अत्यन्ताभाव देखना है वह ज्ञानी की दृष्टि है तथा सुवर्ण को कुण्डलादिसहित देखना भक्ति सिद्धान्त है।

प्र०—प्रेमी और विवेकी में क्या अन्तर है?

उ०—प्रेमी को स्वयं त्याग होता है और विवेकी को त्याग करना पड़ता है। प्रेमी से विषयों का चिन्तन होता ही नहीं और विवेकी विषयों में दोषदृष्टि करता है। नारायण स्वामी कहते हैं—

विधि-निषेध श्रुति वेद की, मेंड़ देत सब मेट।
नारायण जाके हिये, लागत प्रेम-चपेट॥
नेम धरम धीरज समझ, सोच विचार अनेक।
नारायण प्रेमी निकट, इनमें रहे न एक॥

प्र०—ज्ञानी बड़ा है या प्रेमी?

उ०—पहले हम किसी व्यक्ति से मिलते हैं तो उसका ज्ञान होता है। फिर उससे बार-बार मिलने पर प्रेम हुआ करता है। इससे सिद्ध हुआ कि पहले ज्ञान और पीछे प्रेम होता है। अतः प्रेम बड़ा हुआ। ज्ञानी लोग कहते हैं कि चौथी भूमिका में ज्ञान होता है तथा पञ्चमी, षष्ठी और सप्तमीभूमिकायें* जीवन्मुक्ति

के आनन्द के लिये हैं। इस प्रकार वे जिसे जीवन्मुक्ति का आनन्द कहते हैं उसी को हम प्रेम कहते हैं। इससे भी प्रेम ही बड़ा हुआ।

प्र०—महाराजजी! भक्त और ज्ञानी किस सृष्टि में रहते हैं?

उ०—जिसमें निरन्तर रास हो रहा है।

प्र०—वह सृष्टि कैसे दीखे?

उ०—जो इस दुनियाँ से अन्धे हैं उन्हीं को वह सृष्टि दिखायी देती है, वे ही भगवान् की उस नित्य रासलीला का दर्शन कर सकते हैं।

प्र०—भक्त और विवेकी के प्रधान कर्त्तव्य क्या हैं?

उ०—अपने को भूलकर भगवान् में तल्लीन रहना ही भक्त का मुख्य कर्त्तव्य है तथा निःसङ्कल्प हो जाना ही ज्ञानी का मुख्य कर्त्तव्य है। कहा भी है—

'फिक्र दिल के साथ चाहे सौ लगी रहे।
आशिक की शर्त है कि हरदम लौ लगी रहे॥'

प्र०—यदि किसी व्यक्ति का स्त्री आदि किसी विषय में प्रेम है तो उसे भक्तिद्वारा भगवान् में प्रेम अथवा ज्ञान द्वारा विवेक हो जाने पर वह विषयप्रेम निवृत्त हो जायगा या नहीं?

उ०—प्रेम प्रेम से ही निवृत्त होता है। अतः भक्ति के द्वारा भगवान् में प्रेम हो जाने पर तो विषय-प्रेम तत्काल निवृत्त हो जायगा, किन्तु ज्ञानद्वारा विवेक होने पर उसकी सहसा निवृत्ति नहीं होगी। वह तो तभी निःशेष होगा जब ब्रह्माकारवृत्ति का अभ्यास करते-करते आत्मरति प्राप्त होगी।

प्र०—विषयी, ज्ञानी और भक्त—ये संसार को किस रूप में देखते हैं?

उ०—विषयी की समझ में तो संसार विषयमय है; ज्ञानी को आत्मस्वरूप या ब्रह्म जान पड़ता है तथा भक्त इसे भगवन्मय देखता है। भक्त उपासना करते-करते जब दृढ़ भावना के द्वारा सिद्धावस्था प्राप्त कर लेता है तो उसे सारा संसार इष्टमय दीखने लगता है। उसके लिये किसी प्रकार का भेद नहीं रहता, ज्ञाता और ज्ञेय एक ही हो जाते हैं। कहा भी है—

'इन नयनो का यही विशेष। यह भी देखा वह भी देख।
देखत - देखत ऐसा देख। मिट गयी दुविधा रह गया एक ॥'

प्र०—ज्ञान और भक्ति का फल क्या है?

उ०—ज्ञान का फल है कि सदा एक ही सत्ता दृष्टि में रहे, स्वरूपसत्ता के सिवा किसी अन्य सत्ता का स्वप्न में भी भान न हो। तथा भक्ति का फल है अपने इष्टदेव में अनन्य प्रेम।

प्र०—भक्त को ज्ञान होता है या नहीं?

उ०—भक्त को ज्ञान अवश्य हो जाता है। जब भगवान् ज्ञानमय हैं तो भक्त अज्ञानी कैसे रह सकता है? जो जिसका सेवक होता है वह उसके गुण प्राप्त कर ही लेता है। सेव्य अपने सेवक को अपने ही समान कर लेता है। परन्तु सेवक सेव्य कभी नहीं बनता। उसमें सेव्य के सब गुण आ जायँ और वह सेव्य के समान ही बन जाय, तो भी वह रहता सेवक ही है, स्वामी कभी नहीं बनता। यह सेवक का स्वभाव ही है।

प्र०—ब्रह्मानन्द और परमानन्द अर्थात् ज्ञान और ध्यान में क्या अन्तर है?

उ०—मेरे से अतिरिक्त वस्तु न हुई है और न होगी, जितना भी कर्त्ता-भोक्तापन है वह सब प्रतीतिमात्र है—इसी का नाम ब्रह्मानन्द है। यहाँ सम्पूर्ण प्रपञ्च का अभाव रहता है। तथा

ध्येय यानी भगवान् पूर्ण ब्रह्म चिदानन्दमय हैं और मैं ध्यान करनेवाला उनसे भिन्न हूँ—यह परमानन्द है। यहाँ जीवभाव रहता है, अतः कर्त्ता-भोक्तापन भी है।

× × ×

प्र०—वेदान्त ग्रन्थों में आता है कि उपासक प्रतिमा में विष्णु आदि का तथा नाम में ब्रह्मबुद्धि का आरोप करता है। किन्तु उपासक तो उसे आरोप नहीं समझता,फिर यह कथन किस की दृष्टि से है ?

उ०—उपासक और तत्त्ववेत्ता दोनों ही की दृष्टि से इसे आरोप नहीं कहा जा सकता। यह कथन केवल जिज्ञासु की दृष्टि से है, जो जड़ और चेतन दोनों की सत्ता स्वीकार कर उनका विवेक करता है। भक्त की दृष्टि में भगवद्विग्रह और भगवन्नाम जड़ नहीं हैं। वे चिन्मय हैं तथा बोधवान् की दृष्टि में तो जो कुछ है वह सब सच्चिदानन्दस्वरूप ही है। उसके लिये तो एक अखण्ड चिद्घनसत्ता से अतिरिक्त और किसी भी वस्तु की सत्ता ही नहीं है।

प्र०—यदि भक्त को भगवद्विग्रह भगवान् ही जान पड़ता है और तत्त्वतः भी वह भगवान् ही है तो फिर उसे उपासना करने की क्या आवश्यकता है ? उपासना का उद्देश्य तो भगवत्प्राप्ति ही है, और भगवान् उसे प्राप्त ही हैं।

उ०—भगवद्विग्रह साक्षात् सच्चिदानन्द स्वरूप ही है-इसमें सन्देह नहीं, परन्तु ऐसा दृढ़ भाव सब उपासकों को होता नहीं। अतः उन्हें निश्चल भगवत्प्रेम की प्राप्ति के लिये उपासना करनी ही चाहिये। उपासना का मुख्य उद्देश्य भी भगवत्प्राप्ति' नहीं, वल्कि भगवत्प्रेम की प्राप्ति ही है। जीव के कल्याण के लिये वस्तुतः भाव ही की प्रधानता है। उपासकों को जाने दो, व्यवहार

में भी बिना भाव के कोई आनन्द नहीं है। विवेक दृष्टि से विचार किया जाय तो माता-पिता ही क्या हैं ? उनके शरीर भी केवल अस्थि, मांस और चर्म आदि के पिण्ड ही तो हैं। फिर भी उनके प्रति जो पूज्य-बुद्धि होती है वह सब प्रकार कल्याणकारिणी ही है। स्त्री के शरीर में भी क्या सुन्दरता है। उसमें ऐसी एक भी वस्तु नहीं है जिसे रमणीय या पवित्र कहा जा सके परन्तु उसमें रमणीयता का आरोप करके मनुष्य ऐसा आसक्त हो जाता है कि उसे धर्माधर्म का भी ज्ञान नहीं रहता। अपने शरीर की ओर देखो तो वह भी कुछ कम गन्दा नहीं है। परन्तु उसके मोह में फँसकर लोग कितना अनाचार करते हैं ? इस प्रकार जबकि व्यवहार में भी भाव की इतनी प्रधानता है तो प्रतिमा में जो भगवद्भाव किया जाता है वह किस प्रकार व्यर्थ हो सकता है ? भगवान् तो सब में हैं, सबसे परे हैं; सब हैं और सर्वाभावरूप भी हैं। अतः अर्चाविग्रह में जो भगवद्भाव किया जाता है वह अन्य में अन्य बुद्धि नहीं है। उसे जो आरोप कहा है वह भी केवल जिज्ञासु की दृष्टि से है।

+ + +

१. वास्तव में ब्रह्मानन्द और प्रेमानन्द में कोई अन्तर नहीं है। एक आनन्द-समुद्र की निस्तरङ्ग अवस्था है और दूसरा इसकी सतरङ्ग अवस्था। इनमें आस्वाद का ही भेद है, वस्तु का नहीं।

२ जो फल ज्ञानी को होता है वही फल भक्त को होता है क्योंकि ज्ञानी को ज्ञान होने पर सच्चिदानन्द के अतिरिक्त कुछ नहीं है तथा भक्त को भी प्रेमप्राप्ति होने पर सब कुछ सच्चिदानन्द मात्र रह जाता है। किन्तु दोनों के साधन अलग-अलग हैं।

३. ज्ञानी और भक्त तीन प्रकार के होते हैं—सत्त्वगुणी,

रजोगुणी और तमोगुणी । जो आत्मरति या भगवत्प्रेम में संलग्न हैं वे सत्त्वगुणी होते हैं, जो सिद्धियों में लग जाते हैं वे रजोगुणी हैं और जो अकर्मण्य होते हैं वे तमोगुणी हैं।

४. वह ज्ञानी नहीं जो भक्ति को तुच्छ समझता है।

५. नारदादि महान् तत्त्ववेत्ता थे, किन्तु फिर भी भगवद् गुणगान करते थे। आज कल तो लोग कुछ नहीं करते-धरते।

६. मनुष्य नदी को दो प्रकार से पार कर सकता है, तैरकर और नाव में बैठकर। इस भवसागर से पार होने में भक्ति और ज्ञान दो साधन हैं। ज्ञानी तैरकर जाता है, उसके लिये यह डर रहता है कि कहीं बीच में ही न डूब जायँ। किन्तु भक्त को डूबने का डर नहीं होता, क्योंकि वह तो नौका से नदी पार करता है उस नौका को श्रीसद्गुरु भगवान् चला रहे हैं। जो लोग भक्ति मार्ग को नीचा समझते हैं वे ठीक नहीं समझते।

७. भक्त वही हो सकता है जिसको इस लोक, परलोक और देहादि से वैराग्य हो और भगवद्धर्म, भगवत्सेवा, भगवत्स्वरूप और भगवद्भक्तों से राग हो। भक्ति कालान्तर में प्रेमरूप में परिणत हो जाती है।

८. ज्ञानी वही हो सकता है जिसको इस लोक से वैराग्य परलोक से वैराग्य, देह से वैराग्य और भगवदीय ऐश्वर्य से भी वैराग्य हो। ऐसा पुरुष ही ज्ञानमार्ग का अधिकारी है। आज-कल के कलियुगी जीव, जिन्हे वे ही इष्ट जान पड़ते हैं, इसके अधिकारी नहीं।

९. भगवान् को ज्ञानी और भक्त दोनों ही समान रूप से प्यारे हैं। उनका एक पुत्र ज्ञानी और एक पुत्र भक्त है। जब ज्ञानी अच्छा काम करता है तो वे उसे प्यार करते हैं और जब

भक्त अच्छा काम करता है तो उसे भी उसी प्रकार प्यार करते हैं। उनके यहाँ किसी के साथ कोई भेद भाव नहीं है।

१०. कर्म और उपासना से ज्ञान का कोई विरोध नहीं है, उसका विरोध तो अज्ञान से है।

११. कर्मी वही हो सकता है जिसको इस लोक से वैराग्य हो और परलोक से राग हो।

१२ जो भगवत्प्राप्ति अथवा ज्ञान के लिये फलासक्ति से रहित होकर कर्म करता है, वही निष्काम कर्मी है। इसके विपरीत जिन्हें पशु की तरह केवल विषय भोग ही इष्ट है और जो विषयप्राप्ति के लिये भी भगवद्भजन नहीं करते वे ही विषयी हैं।

१३. जब तक काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि चित्ताकाश में डेरा डाले पड़े हैं, तब तक न तो ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है और न भक्तितत्व की ही उपलब्धि हो सकती है।

१४. जब तक ज्ञान का 'अहं' है, तब तक ज्ञानी नहीं कहा जा सकता और जब तक भक्ति का 'अहं' है तब तक भक्त नहीं कहा जा सकता।

१५. भक्त और ज्ञानी इस सृष्टि में नहीं रहते। वे तो इस सृष्टि में आग लगा देते हैं।

१६. दो ही मार्ग प्रधान हैं—भक्ति-मार्ग और ज्ञानमार्ग। ज्ञानमार्गी संसार-सागर को स्वयं तैरकर पार करता है और भक्ति-मार्गी इस प्रकार पार करता है जैसे कोई अपने पिता की गोद में बैठा हो और पिता नौका में चढ़ा हो तथा मल्लाह उसे पार कर दे। ऐसे लड़के को तो पता ही नहीं चलता कि कहाँ नाव है

और कौन उसे चला रहा है। वह तो निश्चिन्त हुआ पिता की गोद में बैठा रहता है। यही भक्तिमार्ग है।

१७. ज्ञानी और भक्तों को त्रिकाल में भी दुःख नहीं होता और संसारी जनों का दुःख त्रिकाल में भी नहीं छूटता। भजनानन्द और ब्रह्मानन्द के आगे दुःख नहीं ठहर सकता।

१८. भक्त या ज्ञानी को एक दूसरे पर आक्षेप नहीं करना चाहिये। अपनी-अपनी निष्ठा में दृढ़ रहो, एक दूसरे के सिद्धान्त पर कटाक्ष मत करो। कहते हैं एक भक्त और एक ज्ञानी साथ-साथ जारहे थे। मार्ग में एक मिट्टी का टीला पड़ा तो भक्त बोला, तुमने तो सारा संसार उड़ा दिया है, हम तो तब जानें जब ज्ञान-द्वारा इस टीले को उड़ा दो। इस पर ज्ञानी बोला—'तुम्हारे भगवान् श्रीकृष्ण ने तो गोवर्धन पर्वत उठा लिया था, तुम इस टीले को ही उठालो। इस प्रकार की बातें नहीं करनी चाहिये।

१९. ज्ञान मार्ग में भक्ति साधनरूप है और तत्त्वज्ञान उसका फल है, किन्तु भक्तिमार्ग में भक्ति साधन नहीं फलरूप ही है, वही सिद्धि भी है।

२०. अपने प्यारे के सिवा दूसरे का चिन्तन न करना ही भक्ति है। भक्ति एक छोटे से पौधे के समान है। उसकी बहुत सावधानी से रक्षा करनी चाहिये ज्ञान तो विशाल वृक्ष है। उसकी रक्षा करने की चिन्ता नहीं, किन्तु यदि भक्त नास्तिकों की बातें सुन ले तो समझ लो, वह गया।

२१. तुमसे जो वस्तु अलग दीखती है, वह सब संसार है। देखने वाला क्या है, इसको बुद्धि नहीं जान सकती, इसलिये वह 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' है और समस्त संसार का द्रष्टा है।

२२. भगवान् का शुद्ध स्वरूप तो निर्विशेष है। वह उपासना का विषय नहीं हो सकता। अतः उनके निराकार या साकार स्वरूप की उपासना की जाती है। जहाँ तक भेददृष्टि है वहीं तक बुद्धि है और वहाँ तक ही उपासना की जाती है। अभेददृष्टि तो बुद्धि से आगे की बात है। यही ज्ञान है। जब तक किसी प्रकार का संशय है तब तक विवेक हुआ नहीं समझना चाहिये। विवेकी के लिये तो दृष्टि ही सृष्टि है। अर्थात् मन का संकल्प ही संसार है और निःसंकल्पता ही शान्ति है। चिन्तन ही जगत् है और यही विघ्न है, तथा चिन्तन का अभाव ही शान्ति है और यही विवेकी का मुख्य कर्त्तव्य है।

२३. भक्ति से भगवान् का प्रत्यक्ष होता है और फिर उनमें प्रेम हो जाता है। ये प्रेम, ज्ञान और निर्विकल्प समाधि तो एक ही हैं। इनमे केवल नाम का ही अन्तर है। वेदान्ती जिसे ज्ञान कहते हैं, भक्त उसी को प्रेम तथा योगी उसी को निर्विकल्प समाधि कहते हैं।

२४. जहाँ भाव है वहाँ ज्ञान नहीं और जहाँ ज्ञान है वहाँ भाव नहीं। दोनों का लक्ष्य एक होने पर भी दोनों के साधक सर्वदा भिन्न ही होते हैं।

२५. भक्त भगवान् का ऐश्वर्य देखता है। और ज्ञानी ऐश्वर्य को जानता है।

२६. अहङ्काररहित तदाकार वृत्ति अभेद से होती है तथा अहङ्कारसहित तदाकार वृत्ति भेद से होती है। ऐश्वर्य का नाम ही माया है इससे युक्त होने पर ही भगवान् कहे जाते हैं, जो ऐश्वर्य या माया से रहित है वह तो शुद्ध चैतन्य है, उसे भगवान् नहीं कह सकते। माया कोई बुरी वस्तु नहीं है, अज्ञानवश माया

को न जानना ही दुःख का कारण है और उसे जान लेना ही परम सुख है। माया को जान लेना बहुत जरूरी है, माया ही भगवान् का ऐश्वर्य है, उसी के कारण वे भगवान् कहे जाते हैं।

२७. भक्त को जब ज्ञान का अनुभव होता है तो उसकी ऐसी दृष्टि होती है कि मैं साक्षीमात्र हूँ और भगवान् आनन्दमय हैं। पहले भक्त को अपनी सत्ता और चिन्मात्रता का अनुभव होता है। वह भाव से शरीर को चिन्मय बना लेता है और फिर चिन्मय शरीर से ही आनन्द प्राप्त करता है। भगवान् तो आनन्द के भंडार हैं ही। अतः अपनी सच्चिदानन्दरूपता का अनुभव होने पर वह सच्चिदानन्दघन भगवान् से अभिन्न हो जाता है।

२८. भक्त को भेद में आनन्द है और ज्ञानी को अभेद में, विचार से अभेद हो जाता है, इसलिये भक्त को विचार नहीं करना चाहिये। भक्त का तत्वज्ञान तो अपने इष्टदेव का आलम्बन है। भक्त को मोक्ष की इच्छा होना ही पाप है। भक्त को विषमता में आनन्द है, और ज्ञानी को समता में। भक्त को तो अज्ञानी रहने में ही आनन्द है ज्ञानी बनने में नहीं। भक्त को विशेष में आनन्द है और ज्ञानी को सामान्य में। आनन्द तो विशेष अग्नि से ही होता है सामान्य अग्नि से तो कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अतः प्रेमी को जो आनन्द होता है वह ज्ञानी को नहीं होता।

२९. मनुष्य-जीवन के दो लक्ष्य हैं—शुद्ध ज्ञान और शुद्ध प्रेम। एक व्यक्ति को इनमें से एक ही निष्ठा रखनी चाहिये। जिज्ञासु को प्रेम की ओर और भक्त को ज्ञान की ओर प्रवृत्त होना ठीक नहीं। विवेक में भाव के लिये और भाव में तर्क के लिये कोई स्थान नहीं है। प्रेमी को प्रेमास्पद के विषय में जब तनिक भी तर्क या अविश्वास न हो तथा सर्वदा उसके अनुकूल रहे—

उसकी छाया के समान बन जाय—तो समझना चाहिये कि यह प्रेम की आरम्भिक अवस्था है। जब प्रेम का उत्कर्ष होने पर प्रेमास्पद प्रेमी के अधीन होजाय और प्रेमी में भी प्रेमास्पद के गुणों का आविर्भाव होने लगे तो इसे मध्यम कोटि का प्रेम कहेंगे। और जब प्रेमास्पद के गुण-अवगुण न देखकर निरन्तर चिन्तन करते-करते अनुराग की अतिशयता के कारण प्रेमी तद्रूप होजाय, प्रेमी और प्रेमास्पद में किसी भी प्रकार का भेद न रहे तो वही शुद्ध और पूर्ण प्रेम है।

३०. मनुष्य को परमार्थतः सबसे बड़ा बनना चाहिये और व्यवहार में सबसे छोटा। एक बार श्रीरामचन्द्रजी ने हनुमानजी से पूछा तुम कौन हो ? तो वे बोले—

'देहदृष्ट्या तु दासोऽहं जीवदृष्ट्या त्वदंशकः।
वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥

अर्थात्-देहदृष्टि से तो मैं आपका दास हूँ और जीवदृष्टि से आपका अंश हूँ, किन्तु वास्तव में तो मैं आप ही हूँ--यह मेरा निश्चित मत है।

३१. ज्ञानमार्ग में तो तर्क सहायक है, किन्तु भक्ति में वह गिरानेवाला है। वहाँ तो सरल विश्वास चाहिये।

३२. जिसे भक्तियोग कहते हैं वही साधनकाल में भक्ति और सिद्धि होने पर प्रेम कहा जाता है। यहां चिन्तन रहता है। किन्तु जब भक्त और भगवान् दोनों नहीं रहते तो उसी को 'ज्ञान' कहते हैं।

३३. ज्ञानी शान्ति चाहता है, और यही ज्ञान का फल है। तथा भक्त प्रेम चहता है, जो मधुर रस का फल है।

३४. भक्त को जो ध्यान करने में आनन्द आता है उसमें भक्त डूब जाता है, किन्तु ज्ञानी उसे त्यागकर स्वस्वरूप में स्थित रहता है।

३५. भावमय ज्ञान व्यवहार है और ज्ञानमय भाव परमार्थ है।

३६. विशेष सुख से संसार की विस्मृति हो जाना समाधि है, विशेष दुःख से ससार की विस्मृति होना मूर्च्छा है और विशेष अज्ञान से संसार की विस्मृति होना सुषुप्ति है। असङ्गता इन तीनों अवस्थाओं में नहीं रहती।

३७. तीन स्थितियाँ हैं—(१) तच्चिन्तन, (२) तत्स्वरूपता और (३) तल्लीनता। इनमें तच्चिन्तन का नाम भक्ति है, तत्स्वरूपता ज्ञान है और तल्लीनता प्रेम है।

३८. देखो, ज्ञानी प्रेमस्वरूप है और भक्त के द्वारा प्रेम का विकास होता है। जब तक प्रेम नहीं होता तब तक तो जगत् सत्य जान पड़ता है और भगवान् असत्। किन्तु प्रेम होने पर तो केवल भगवान् ही रह जाते हैं, जगत् का कोई अनुभव ही नहीं होता। जगत्-सत्-असत् कुछ भी नहीं रहता।

३९. ज्ञान तो केवल एक दृष्टि है, और कुछ नहीं। परन्तु प्रेम में आनन्द की लहरों का अनुभव होता है। हाँ, अन्त में दोनों एक ही तत्त्व को प्राप्त करते हैं, ज्ञानी केवल आनन्द की तरङ्गों से वंचित रहता है।

४०. अधिक कोमल हृदय में विचार स्थायी नहीं रहता और अधिक कठोर हृदय मे भाव की स्थिरता नहीं होती।

४१. जिस प्रकार ज्ञानी को जब मनोराज्य न हो तो उसका कोई कर्त्तव्य नहीं रहता, जब तक मनोराज्य होता है तब तक उसे ब्रह्माकार वृत्ति का अभ्यास करते रहना चाहिये। इसी प्रकार भक्त का भी जब तक विषयों से राग न छूटे तब तक उसे भजन, साधन और स्वाध्याय में लगा रहना चाहिये। जब निरन्तर भगवदाकार वृत्ति रहने लगे और विषयों में राग न रहे तो उसका कोई कर्त्तव्य नहीं रहता। जिसे इष्ट का साक्षात्कार हो जाता है,

उसे किसी भी समय इष्ट की विस्मृति नहीं होती । इसी का नाम है 'निष्ठा' ।

४२. निष्ठावान् भक्त और ज्ञानियों में से कोई पागल की तरह घूमते रहते हैं, कोई आचार्य-कोटि में रहकर उपदेश करते हैं, कोई मूक होकर विचरते हैं और कोई गाली-गलौज बकते रहते हैं। किन्तु ये सभी परम योगी और जीवन्मुक्त हैं। जो प्राणिमात्र को भगवद्रूप समझता है, पृथक् प्रतीत होने पर भी सब में अपने इष्ट को ही देखता है, उसके आनन्द का क्या कहना ? देखो, धनी के पास क्या हर समय धन बना रहता है, कभी-कभी तो उसके पास दस रुपये भी नहीं निकलते । किन्तु उसे धनी होने का अभिमान रहता है। जब अनित्य धन के अभिमान से इतनी मस्ती होती है तो भगवद्रूपता का पूर्ण रूप से अभिमान होने पर जो मस्ती होगी, उसे क्या कहा जाय ।

४३. ज्ञान में श्रुति बड़ी है और भक्ति में स्मृति बड़ी है ।

४४. विचार और प्रेम दोनों ही से अभिमान दूर होता है और निरभिमानता आती है । फिर ज्यों-ज्यों प्रेम बढ़ेगा वैसे-वैसे ही शरीर, जाति और जगत् का अध्यास कम होता जायगा ।

४५. ज्ञानी को आत्मा से कभी वियोग नहीं होता, किन्तु उपासक को अपने इष्टदेव से संयोग-वियोग दोनों ही होते हैं। जब भगवदाकार वृत्ति होती है तब संयोग है और जब भगवदाकार वृत्ति नहीं होती तभी वियोग है ।

४६. ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये एक ही वस्तु हैं। ज्ञानी, योगी और उपासक इन तीन प्रकार के साधकों की दृष्टि से ही उसके ये तीन नाम पड़े हैं। इनमें से किसी एक नाम का प्रयोग होने पर शेष दो भी उसी के अन्तर्भूत हो जाते हैं। एक

ही वस्तु को साकार दृष्टि से 'भगवान्' निराकार दृष्टि से 'परमात्मा' और ज्ञानदृष्टि से 'ब्रह्म' कहते हैं।

४७. सच्चिदानन्दघन एक ही हो सकता है, किसी दूसरी वस्तु के लिये उसमें अवकाश नहीं है। जो सर्वत्याग करता है उसे दुःख नहीं हो सकता। सर्वत्याग भक्त भी करता है और ज्ञानी भी। आत्मनिवेदन भक्ति में बुद्धि भी अर्पण करनी होती है, तभी आत्मनिवेदन पूर्ण होता है। द्रष्टा और दृश्य के संयोग का नाम ही अभिमान है। ज्ञानी की दृष्टि में इनका कभी संयोग नहीं हुआ, अतः उसके लिये दृश्य का अत्यन्ताभाव है। इसी प्रकार प्रेम भी अविच्छिन्न है, वाणी का विषय नहीं। अतः यह भी अनुभवगम्य ही है।

४८. योगवासिष्ठ में चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाश–ये तीन प्रकार के आकाश बताये गये हैं। इनमें से चित्ताकाश में योगी की स्थिति होती है और चिदाकाश में ज्ञानी की। तथा महाकाश में सम्पूर्ण प्रपंच स्थित है।

४९. आज-कल आत्मज्ञानी तो बहुत मिलते हैं, किन्तु आत्म-प्रेमी कोई विरला ही दिखायी देता है। 'ज्ञान' का अर्थ है जानना, किन्तु यदि जान लिया जाय और प्रेम न हो तो परिणाम क्या हुआ? हम देखते हैं कि ज्ञानी को देखकर चित्त में कोई आकर्षण नहीं होता, किन्तु प्रेमी चित्त को तत्काल आकर्षित कर लेता है। अतः जान पड़ता है, भगवान् का मुख्य स्वरूप प्रेम ही है। सूखे ज्ञान से कोई लाभ नहीं है। जो भगवान् का भक्त होता है उसे तो वे स्वयं ज्ञान प्रदान कर देते हैं। इसमें कोई संशय की बात नहीं है। इसलिये ज्ञानी और भक्त दोनों ही को प्रेमी बनने की बड़ी आवश्यकता है।

५०. ज्ञानी को पहले वैराग्य होता है, पीछे ज्ञान; और भक्त को पहले भक्ति होती है, पीछे प्रेम और फिर वैराग्य। निरन्तर चिन्तन से प्रेम होता है और फिर स्वभाव से ही चित्त और सब ओर से हट जाता है।

५१. भक्त का दुःख तो भक्ति के बल से दूर हो जाता है, क्योंकि भक्त एक अबोध बालक के समान है, अतः निष्काम भक्त का दुःख भगवान स्वयं दूर कर देते हैं। किन्तु ज्ञानी दुःख को सहन करता रहता है, वह उसकी निवृत्ति की कोई चिन्ता नहीं करता, क्योंकि वास्तव में वह तो द्रष्टामात्र है, सुख-दुःख से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। अतः ज्ञान के अधिकारी बहुत कम हैं। भक्तको अपने इष्ट साकार भगवान् का ध्यान सहज ही में हो जाता है, किन्तु ज्ञानी के लिये ज्ञेय का ध्यान बहुत कठिन होता है।

५२. अपने चरम लक्ष्य को एक बार देखना ज्ञान है और उसे बार-बार देखना ध्यान कहलाता है।

५३. ज्ञानी अपने से भिन्न सबको भूल जाता है और भक्त अपने-आप को ही भुला देता है।

ईश्वरतत्त्व

(एक जिज्ञासु के साथ ईश्वर सम्बन्धी संभाषण)

जिज्ञासु—ईश्वर की सत्ता में क्या प्रमाण है ?

स्वामीजी—पहले तुम यह बताओ कि तुम आये कहाँ से हो ?

जि०—हाथरस से ।

स्वा०—क्या तुम हाथरस में......को जानते हो ?

जि०—नहीं ।

स्वा०—क्या तुम कलकत्ते के......को जानते हो ?

जि०—नहीं ।

स्वा०—क्या तुमने कलकत्ता देखा है ?

जि०—नहीं ।

स्वा०—इससे सिद्ध होता है तुम सब नहीं जानते और न तुमने सब वस्तुएँ ही देखी हैं ।

जि०—जी ।

स्वा०—तो तुम अल्पज्ञ हुए ।

जि०—जी ।

स्वा०—इसी प्रकार सब जीव अल्पज्ञ हैं; किन्तु वे निरन्तर अधिकाधिक जानने—सर्वज्ञ बनने का प्रयत्न करते हैं । इसी प्रकार कोई भी जीव संसार के सब पदार्थों को नहीं बना सकता, क्योंकि जीव की शक्ति अल्प है । फिर भी वह इस प्रयत्न में अवश्य रहता है कि वह अधिक से अधिक वस्तुओं की रचना कर सके । वह अल्पशक्ति होकर भी सर्वशक्तिमान् बनने की चेष्टा करता है । जीव की यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है और जब तक वह

सर्वज्ञ या सर्वशक्तिमान् नहीं बन जाता तब तक उसकी दौड़-धूप शान्त भी नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि कोई सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् भी है। अल्पज्ञता ही सर्वज्ञता का अनुमापक लिंग है। अल्पज्ञ है, इसलिये कोई सर्वज्ञ भी होना ही चाहिये। जगत् है, इसलिये इसका कोई रचयिता भी अवश्य होना चाहिये। नियम्य है, इसलिये नियामक भी होना चाहिये। इस प्रकार जो कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्? जगत् का रचने वाला और इसका नियामक है वही ईश्वर कहलाता है।

× × × ×

प्र०—ईश्वर को क्यों मानना चाहिये ?

उ०—मनुष्य किसी नवीन वस्तु को देखकर उसे जाननेकी इच्छा करता है। जिस प्रकार बच्चा चन्द्रमा को देखकर अपनी माँ से उसका नाम पूछता है, और फिर उसे पकड़ने की इच्छा करता है, इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य में तीन इच्छाएँ रहती हैं—(१) वस्तु को देखने की इच्छा, (२) उसे जानने की इच्छा और (३) उसे प्राप्त करने की इच्छा।

जीव का ज्ञान अपूर्ण है—इस बात को वह सदा अनुभव करता है और उसे पूर्ण करने की चेष्टा करता रहता है। वास्तव में हम अल्प ज्ञान, अल्प शक्ति और अल्प क्रिया वाले हैं। इस अपूर्णता को पूर्ण करने के लिये हमें ईश्वर को अवश्य मानना चाहिये, क्योंकि ईश्वर को माने बिना हमारा अल्प ज्ञान, अल्प क्रिया और अल्प शक्ति कभी पूर्ण हो ही नहीं सकतीं।

प्र०—ईश्वर को न मानने से कौन-कौन सी हानियाँ हैं।

उ०—ईश्वर की सत्ता को न मानने से हम सर्वदा अल्पज्ञानी, अल्पशक्ति और अल्पदर्शी ही रहेंगे; ज्ञानी कभी नहीं हो सकेंगे। क्योंकि ईश्वर को न मानने पर हमारी प्रवृत्ति स्वाभाविक

ही संसार की ओर रहेगी। फलतः हम जड़वादी और जड़मति हो जायँगे। जीव का स्वभाव प्रेम करना है। ईश्वर को न मानने पर, वह तो विषयरूप संसार से ही प्रेम करेगा।

प्र०—ईश्वर के होने में कौन-कौन से प्रबल प्रमाण हैं ?

उ०—अपने स्वाभाविक अल्प ज्ञान, अल्प क्रिया और अल्पशक्ति का अनुभव होते रहने से स्वयं ही सिद्ध हो जाता है कि कोई एक ऐसा महान् जरूर है जो पूर्ण ज्ञान, पूर्ण क्रिया और पूर्ण शक्ति का भण्डार है। हमारी अपनी अपूर्णता ही किसी की पूर्णता एवं महत्ता को सिद्ध करती है। हम जानते है कि हम पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि आदि को केवल अपने व्यवहार में ला सकते हैं तथा उन्हें मिलाकर कोई नवीन वस्तु भी बना सकते हैं, किन्तु उन मूल तत्त्वों का निर्माण हम कभी नहीं कर सकते। हमारी यह अशक्ति ही किसी महाशक्ति को सिद्ध करती है। जो जिस वस्तु का निर्माता होता है वही उसका द्रष्टा भी हो सकता है। हम इन पञ्चभूतों के और इस अखिल ब्रह्माण्ड के न स्रष्टा हैं, न द्रष्टा हैं और न ज्ञाता ही हैं। हमारी यह अल्प दृष्टि और अनभिज्ञता ही किसी सर्वद्रष्टा और सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करती है।

जो लोग परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते उनको यह तो मानना ही पड़ता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पंचमहाभूतों का तथा सूर्य, चन्द्रमा एवं नक्षत्रादि का कोई कर्ता अवश्य है, क्योंकि जड़ वस्तुएँ अपने-आप निर्मित नहीं हो सकतीं। दो वस्तुओं के मिलने से एक तीसरी वस्तु अवश्य बन जाती है, किन्तु वहाँ भी उन्हे मिलानेवाला कोई अवश्य होना चाहिये। अतः इन मिलायी जानेवाली मूल वस्तुओं का कोई कर्ता अवश्य है। परन्तु उसे लोग न तो स्पष्ट

देख सकते हैं और न साधारण बुद्धि द्वारा उसका अनुभव ही कर सकते हैं। अतः किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर बिना समझे-बूझे अनायास ही यह कह उठते हैं कि यह सब अपने आप ही बन गया है। यद्यपि वे यह अवश्य अनुभव करते हैं कि उनका ऐसा कहना नितान्त ही निराधार, निःसार एवं निर्मूल है।

अपनी बनायी हुई वस्तुओं को हम बना सकते हैं और बिगाड़ भी सकते है। परन्तु ईश्वरनिर्मित वस्तुओं को हम न बना सकते हैं और न नष्ट ही कर सकते हैं। हम जल से बर्फ और मिट्टी से ईंट बना सकते हैं और उन्हे बिगाड़ भी सकते हैं,परन्तु जल और मिट्टी को न हम बना सकते हैं और न नष्ट ही कर सकते हैं। जब अपने विचार से हम उन्हें नष्ट हुआ समझते हैं उस समय भी वास्तव में वे नष्ट नहीं होते। केवल उनका रूपान्तर ही हो जाता है। हमारी यह असमर्थता ही उस सर्वसमर्थ के अस्तित्व को सिद्ध करती है। हमारी सामर्थ्य और शक्ति का ह्रास हर समय होता रहता है, किन्तु ईश्वर की शक्ति न तो कभी घटती है और न नष्ट ही होती है। ईश्वर सदा-सर्वदा एकरस रहता है।

हमारी असमर्थता और लघुता इसी से प्रकट होती है कि निरन्तर अनेकानेक साधन करने पर ही हमें सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती है, और वे भी बहुत परिमित। सम्पूर्ण सिद्धियों की प्राप्ति तो हम कर ही नहीं सकते। हम सृष्टि कभी नहीं रच सकते, सर्वव्यापक कभी नहीं हो सकते और पूर्ण विधि को भी कभी नहीं जान सकते। हम कितने ही कुशल क्यों न हों दूसरा व्यक्ति हमारे कार्यों में दोष निकाल सकता है, किन्तु ईश्वर के कार्यों में कोई दोष नहीं निकाल सकता।

यों तो हम प्रतिदिन ही जाग्रत् अवस्था में उत्पत्ति और सुषुप्ति अवस्था में प्रलय किया करते हैं, परन्तु समष्टि के उत्पत्ति-

प्रलय हम नहीं कर सकते। हम आम के वृक्ष को लगाते हैं औ
उसे नष्ट भी कर सकते हैं, परन्तु आम का बीजनाश हम न
कर सकते। मतलब यह कि निज-निर्मित वस्तुओं को हम ब
बिगाड़ सकते हैं, ईश्वर-निर्मित वस्तुओं को नहीं।

यह अनुमान सर्वदा निर्मूल है कि प्रकृति स्वयं ही सृ
का कार्य सम्पादन कर लेती है; क्योंकि प्रकृति क्रियाहीन और
है। वह स्वयं कोई कार्य नहीं कर सकती। जिस प्रकार हम
क्रियाशक्ति स्वतन्त्र नहीं है, हमारे अधिकार में है, उसी प्र
प्राकृतिक तत्वों की क्रियाशक्ति भी उनके प्रेरक (संचालक) प्रभु
हाथ में है। हममें भी दो शक्तियाँ हैं—(१) आत्मिक (ईश्वरी
और (२) प्राकृतिक (मायिक)। इनमें दूसरी शक्ति का संचाल
पहली शक्ति के द्वारा ही होता है। अतः प्रकृति की जड़ता औ
परतन्त्रता ही उसके प्रेरक प्रभु और चेतन साक्षी ईश्वर की सि
में सबसे प्रबल प्रमाण हैं।

प्र०—अपने जीवन की ऐसी घटनाएँ बताइये, जिन
ईश्वर की सत्ता और दया में आपका विश्वास बहुत बढ़ा हो?

उ०—ऐसी तो अनेकों घटनाएँ हैं। उनमें से कुछ सुनाता

(क) हमारे घर में देवी की उपासना अधिक थी। मैंने
देवी का अनुष्ठान किया था। वह इसलिये कि संसार बहुत दुःख
है, किसी प्रकार उसका दुःख दूर किया जा सके तो अच्छा है
मेरे मन में यह कामना हुई कि मुझे यदि द्रौपदी की हाँडी का-स
एक पात्र मिल जाय तो अनायास ही लोगों का कुछ उपकार
सकता है। इस अनुष्ठान की पूर्ति के लिये मैं कामरूप जाक
कामाक्षा देवी की उपासना करने लगा। कुछ दिनों पश्चात् काम
रूप के निकटवर्ती एक महन्त ब्रह्मचारी की सेवा करने का अवस
प्राप्त हुआ। दैवयोग से ब्रह्मचारीजी का शिष्य बाहर गया हुआ था

अतः उनकी मृत्यु हो जाने पर लोगों ने मुझे उस स्थान का महन्त बना दिया। महन्त होने की अवस्था में भी मेरा अनुष्ठान बराबर चलता रहा। उस समय वहाँ बहुत लोग आने लगे और नित्य-प्रति तीन सौ चार सौ रुपये भेंट में आ जाते थे। मैं उन रुपयों को स्पर्श भी नहीं करता था। दूसरे ही लोग उन्हे साधुओं के भंडारे आदि में खर्च करते रहते थे। उन दिनों कुछ ऐसा चमत्कार हो गया था कि मैं जिस व्यक्ति के लिये जो बात कहता वही सत्य निकलती। मैं किसी का कोई गुप्त दोष बताता तो वह स्वयं स्वीकार कर लेता कि हाँ, मुझमें यह दोष है। यह दशा अठारह दिन तक रही। फिर मैंने सोचा इस तरह रहना ठीक नहीं। यदि लाख रुपये भी मिल गये तो अधिक से अधिक एक गाँव का ही कष्ट दूर हो सकेगा। फिर यह बात भी ध्यान में आयी कि द्रौपदी की तरह मुझे एक पात्र भी मिल गया तो भी क्या होगा ? संसार तो ऐसा ही रहेगा। अतः मैं एक दिन चुपचाप शौच के बहाने वहाँ से चल दिया। वहाँ से आठ कोस चलकर ही मैंने दम लिया इस प्रकार आरम्भिक जीवन में मुझे दुर्गा की उपासना से अनेकों चमत्कार हुए। फिर मुझे श्रीकृष्ण-प्रेम भी होने लगा और कुछ काल पश्चात् मैंने संन्यास ले लिया।

एक रात की बात है। सूर्य अस्त हो गया था, चन्द्रमा की चाँदनी छिटक रही थी। जंगल में नहर के किनारे एक सुन्दर बालक और बालिका मेरे पास आकर कहने लगे, 'बाबा ! कहो तो हम रोटी ले आवें ?' मैंने कहा, 'इतनी रात में तुम कहाँ से रोटी लाओगे ?' उन्होंने कहा, हमारा गाँव पास ही है।' वे घूम-घामकर थोड़ी ही देर में रोटी ले आये। मैंने रोटी खायी और वहीं सो रहा। प्रातःकाल बहुत सवेरे मेरे उठने के पूर्व ही वे फिर आ गये और मुझसे बोले, 'बाबा ! मट्ठा पीओगे ?' मैंने कहा,

'तुम इतने सवेरे फिर कहाँ से आगये और इस समय मट्ठा कहाँ से लाओगे ?' उन्होंने कहा, 'हमारा गाँव निकट ही तो है।' वे इधर-उधर घूमकर तत्काल ही मट्ठा ले आये और मैंने उसे पी लिया। उनके चले जाने पर मैंने खोज की तो मालूम हुआ कि वहाँ दूर-दूर तक कहीं गाँव का नाम-निशान भी नहीं है, जंगल ही जंगल है।

(ख) मेरे एक मित्र ब्रह्मचारीजी भगवान् श्रीकृष्ण के उपासक थे। वे किष्किन्धा में किसी महात्मा सिद्ध पुरुष को जानते थे और उनसे शिक्षा लेने के लिये जा रहे थे। मार्ग में उन्हें बड़ी प्यास लगी। उनका कंठ सूखा जाता था। लोटाडोर उनके पास थे। किन्तु वे कुएँ पर गये तो मालूम हुआ वह बहुत गहरा है, उनकी डोरी उसमें ओछी पड़ती है। वे निराश होकर वहीं बैठ गये। अत्यधिक प्यास के कारण उनके प्राण अत्यन्त छटपटाने लगे। ऐसा मालूम होता था, मानो दस-पाँच मिनट में प्राण निकल जायँगे। उस समय वे 'हा कृष्ण ! हा कृष्ण !' पुकारने लगे। इतने ही में एक बालक एकाएक उनके पास आया और बोला, 'मुझे अपना लोटा-डोर दे दो। मैं जल ले आता हूँ।' बस, ब्रह्मचारीजी का लोटा डोर लेकर वह बालक उसी कुएँ से जल खींच लाया और उन्हें पिला दिया। फिर उस बालक ने कहा, 'तुम जिस साधु के पास जा रहे हो वह तो महापाखंडी है।' ब्रह्मचारीजी ने पूछा 'तुम तो छोटे-से बालक हो, तुम्हें उस साधु के पाखण्ड का क्या पता ? और तुम रहते कहाँ हो ?' उसने उत्तर दिया, मैं यहाँ जंगल में गौ चराया करता हूँ और उस साधु को खूब जानता हूँ।' इसके बाद जब ब्रह्मचारीजी सावधान हुए तो उन्होंने उस बालक को वहाँ नहीं देखा और जब कुएँ पर जाकर लोटा फाँसा तो उसका जल भी पहले ही के समान बहुत गहरा निकला।

(ग) अतरौली तहसील में एक गृहस्थ कायस्थ रहते थे। उनके घर में स्त्री, पुरुष तथा एक लड़की ये तीन प्राणी थे। पुरुष पटवारी का काम करता था किसी मामले में उसे सात साल की सजा हो गयी। घर में केवल उसकी स्त्री और कन्या ही रह गयी। लड़की विवाह के योग्य हुई, किन्तु घर में कुछ था नहीं; अतः उसके मामा ने विवाह का सारा भार अपने ऊपर ले लिया। विवाह पक्का हो गया। किन्तु जब विवाह के तीन-चार दिन रह गये तब किसी कारण से मामा ने साफ इन्कार कर दिया। बरात आनेवाली है, विवाह का दिन है, किन्तु घर पर कुछ भी तैयारी नहीं है। बेचारी स्त्री अत्यन्त दुःखी होकर घर की एक कोठरी में जा पड़ी। पड़ोसी कायस्थों ने सोचा कि यदि बरात बिना सत्कार पाये वापस लौट गयी तो हम सब की बड़ी बदनामी होगी। यह विचार कर उन लोगों ने आपस में कुछ प्रबन्ध करके भट्ठी खुदवाना आरम्भ किया। सब लोग बैठे थे, भट्ठी खुद रही थी इतने में भट्ठी की खुदाई में ही एक घड़ा निकला लोगोंका ध्यान दूसरी ओर था, अतः भट्ठी खोदनेवाले दोनों आदमियों ने मिल कर उसे उड़ाना चाहा। उनमें से एक आदमी उसे कपड़े में लपेट कर किसी बहाने से बाहर जाने लगा। भट्ठी खुदने की जल्दी थी, अतः लोगों ने कहा, 'भाई, काम छोड़कर कहाँ जाते हो?' वह कुछ बहाना बताकर आगे बढ़ा। लोगों को ऐसे समय उसका बाहर जाना बहुत बुरा लगा। अतः एक ने उठकर उसे रोका तो देखा उसके पास कपड़े में लिपटा हुआ एक घड़ा है। उसे निकलवा कर सबने देखा तो उसमें पाँच-सात सौ रुपये निकले। देखते ही सब लोग बोल उठे, 'भाई! यह तो इस लड़की के भाग्य से निकला है, तुम इसे कहाँ लिये जाते हो?' बस, सबने जाकर लड़की की माँ को सूचना दी और उस रुपये से ही लड़की का विवाह सम्पन्न हुआ। इस प्रकार भगवान् ने उसकी करुण पुकार सुनी।

(घ) अलीगढ़ में एक कायस्थ घराने के दो लड़के थे। उनमें से एक को संग्रहणी हो गयी। अनेकों वैद्य-डाक्टरों से इलाज कराया गया। उसमें घर का सारा जेवर समाप्त हो गया, परन्तु लाभ कुछ न हुआ। दैवयोग से वहाँ कोई महात्मा आये। उन्होंने उसकी दशा देखकर कहा, 'तुम लोगों को तो अब इसके जीवन की कोई आशा है नहीं। अतः अब मैं एक उपाय बताता हूँ। उसे करके और देख लो। मैं एक महामन्त्र बताता हूँ। तुम श्री रामचन्द्रजी का इष्ट रखकर उसका अखण्ड जप करो, उससे अवश्य लाभ हो सकता है।' महात्माजी की आज्ञानुसार उसी समय जप आरम्भ हो गया। और फिर एक मास में जप पूरा होते-होते बिना किसी औषधि के उस लड़के का रोग सर्वथा शान्त हो गया। फिर तो उसकी ऐसी स्थिति हो गयी कि उसे हर समय श्री राम, सीता और लक्ष्मण अपने साथ ही जान पड़ते थे। चलते-फिरते, नहाते-धोते, शौच जाते सब समय यही हाल था। एक दिन शौच जाते हुए उसने देखा कि वही मूर्त्ति सामने खड़ी है। यह बोला, 'महाराज शौच के समय तो मत आया करो।' बस उसी दिन से फिर वे दर्शन नहीं हुए।

(ङ) खैर तहसील में यमुना किनारे किसी गाँव में रहनेवाला एक जाट मेरे पास आया करता था। वह प्रत्येक पूर्णिमा को वृन्दावन जाकर श्री बाँकेबिहारीजी के दर्शन किया करता था। उसका यह नियम तीस-चालीस वर्ष से चल रहा था। एक बार पूर्णिमा के एक दिन पहले चतुर्दशी को उसके जवान लड़के की मृत्यु हो गयी। एक ही लड़का था, सारे गाँव में हाहाकार मच गया। वह लड़के की लाश लेकर अनेकों ग्रामवासियों के साथ यमुना किनारे गया और वहाँ उसका दाह-संस्कार किया। इस कार्य से छुट्टी मिलने पर जब सब लोग लौटने लगे तो वह बोला,

'भाई, जो होना था सो हो गया, आप लोग घर जाँय। मेरे तो कल पूर्णिमा है, मुझे कल वृन्दावन में श्री बाँकेविहारीजी की हाजिरी देनी है। सो मैं तो वहीं जा रहा हूँ।' उसकी यह बात सुनकर सब लोग कहने लगे, 'कैसा पागल है, जवान लड़का मरा है, लोग इसके घर आयेंगे और यह कहता है, मुझे वृन्दावन जाना है!' ऐसा कहकर लोगों ने उसे बहुत समझाया, किन्तु वह अपना सदा का नियम छोड़ने को तैयार न हुआ। बस, वह वहीं से वृन्दावन चल दिया। इस समय प्रकृति ने भी उसकी परीक्षा करने की ठानी। बड़े जोर से हवा चलने लगी और पानी भी बरसने लगा। सब लोग तो गाँव लौट गये। वह यमुना पार करने के लिये घाट पर आया। किन्तु मल्लाह ने ऐसे तूफान के समय नाव ले जाने से साफ इन्कार कर दिया। जाट को पुत्रशोक तो था ही, अब सदा की भाँति कल पूर्णिमा को प्रातःकाल श्री बाँकेविहारीजी के दर्शन नहीं हो सकेंगे—इससे और भी हृदय घबरा उठा। वह अत्यन्त शोकाकुल हो उस मल्लाह की कुटी में ही पड़ रहा। जाट प्रतिमास चतुर्दशी को ही वृन्दावन पहुँच जाता था। अतः इस ओर बाँकेविहारीजी के गोसाईंजी ने भी रात के बारह बजे तक उसकी प्रतीक्षा की।

जाट ने देखा कि वह वृन्दावन पहुँच गया है। सदा की तरह वह रात्रि में ही मन्दिर में पहुँचा है और पुजारीजी ने उसे प्रसाद दिया है और वह प्रसाद पाकर सो गया है। दूसरे दिन जब उसकी आँखें खुली तो उसने अपने को वृन्दावन की उसी कुटी में पाया, जिसमें वह प्रत्येक पूर्णिमा को जाकर ठहरता था। इससे उसे बड़ा आश्चर्य हुआ और वह सोचने लगा कि मैं तो उस पार मल्लाह की झोंपड़ी में सोया था, यहाँ कैसे आ गया। फिर उसे रात को पुजारीजी से प्रसाद पाने की याद आयी।

उसने उनके पास जाकर इस विषय में पूछा, तो वे बोले, 'भाई, मैंने तो तुम्हें प्रसाद नहीं दिया। मालूम होता है यह सब इन बाँकेविहारीजी की ही लीला है।' उसने कुटिया में जाकर देखा तो वहाँ प्रसाद के कण और जल आदि भी पड़े थे। प्रभु की ऐसी भक्तवत्सलता देखकर वह विह्वल होगया और बोला, 'हाय! लाला ने बड़ा धोखा दिया।' अब वह जाट मर गया है।

(च) मैं एक बार हरिद्वार के कुम्भ से लौट रहा था। रास्ते में जिला मुजफ्फरनगर के एक गाँव में ठहरा। वहाँ एक ब्राह्मण ने मुझे भिक्षा करायी। कुछ दिन मैं वहीं ठहरा रहा। आस-पास से अनेकों लोग आते रहते थे। उनमें एक ठाकुर साहब भी थे। उनकी अवस्था ७०-७५ वर्ष की होगी। चेहरे पर खूब तेज था और शरीर भी हृष्ट-पुष्ट था। वे प्रायः दिनभर माला लिये जप करते रहते थे। यों, अपने को आर्यसमाजी बताते थे। मैंने एक दिन उनसे पूछा, आप तो आर्यसमाजी हैं, फिर माला से जप कैसे करते हैं?' तब उन्होंने अपने जीवन की घटना इस प्रकार सुनायी—

'मेरी अवस्था जिस समय आठ-दस वर्ष की थी तभी मुझे स्वामी दयानन्दजी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनके ब्रह्मचर्य और सत्य को देखकर उन पर मेरी अपार श्रद्धा हुई और मैंने भी अपने जीवन में आमरण इन दोनों व्रतों का पालन करने का निश्चय कर लिया। बस, मैं पूर्णतया उनका अनुयायी हो गया और श्रीकृष्ण के विषय में तो मेरी ऐसी धारणा होगयी कि भारतवर्ष के अधःपतन का प्रधान कारण ये ही हैं। छल, कपट, व्यभिचार आदि दुनियाँ भर के सारे दोष उनमें थे। यदि कृष्ण न होते तो आज भारत में ये दोष इस रूप में न फैलते। ऐसी भावना के कारण श्रीकृष्ण का तो मैं पक्का विरोधी बन गया। हाँ, मेरे सत्य और ब्रह्मचर्य के नियम ठीक-ठीक चलते रहे।

'प्राय:बीस-बाईस वर्ष की आयु में मैं काशी चला गया। इस बीच में मैं कुछ पढ़-लिख भी गया था और पहलवानी करने लगा था। काशी में एक ठाकुर साहब को लड़ाई-झगड़े के समय ऐसे पहलवान की आवश्यकता थी। उन्होंने मुझे अपने यहाँ रख लिया। मेरे जिम्मे कोई काम तो था नहीं। मैं खूब कसरत करता, बादाम-घी आदि तरह-तरह के माल खाता, पहलवानी करता और जब ठाकुर साहब कहीं बाहर जाते तो लाठी लेकर उनके साथ हो लेता। मैं नित्यप्रति तीन-चार बजे उठता था। शौच स्नान से निवृत्त होकर दो-तीन घण्टे खूब संध्योपासन और गायत्रीजप करता था तथा दिन में दो-तीन बार स्नान करके मध्यान्ह और सायंकाल में भी संध्योपासन किया करता था। इस प्रकार मेरा जीवन खूब आचार-विचार और कर्मकाण्ड में बीत रहा था। रात्रि के समय मैं नित्यप्रति आर्यसमाज में जाकर व्याख्यान भी दिया करता था। उसमें मुख्यतया मेरा विषय राम और कृष्ण की निन्दा करना तथा उन्हे भरपेट गालियाँ देना ही रहता था।

'जिन ठाकुर साहब के यहाँ मैं रहता था उनके एक श्रीकृष्ण भगवान् का मन्दिर भी था। उसके पुजारी श्रीकृष्ण के बड़े भक्त थे। ठाकुर साहब के घर में भी ठाकुर-सेवा होती थी। घर के छोटे-बड़े सभी स्त्री-पुरुष बड़े प्रेम से भगवान् की पूजा करते थे। मैं यद्यपि श्रीकृष्ण का कट्टर विरोधी था, तो भी मेरे सत्य और ब्रह्मचर्य से प्रभावित होकर ठाकुर साहब और पुजारी दोनों ही मुझसे बहुत स्नेह करते थे। कभी-कभी पुजारीजी मुझसे कहते, 'ठाकुर साहब, यदि तुम श्रीकृष्णजी की उपासना करो तो तुम्हारे जैसे सच्चे और सदाचारी व्यक्ति को तो बहुत जल्द भगवान् के दर्शन हो जायँ।" पुजारीजी तो मुझ पर बड़ा अनुग्रह करके ऐसी बात कहते थे, किन्तु मैं बदले मे उन्हें और उनके भगवान् को

भरपेट खरी-खोटी सुना देता था। पुजारीजी तब भी इसी प्रकार कहते रहे और मैं भी वैसा ही उत्तर देता रहा। एक दिन जब पुजारीजी ने फिर यही बात कही तो मुझे बहुत क्रोध आ गया और मैंने ऐसी-ऐसी कड़वी बातें भगवान् के विरुद्ध कहीं कि पुजारीजी व्यथित होकर रोने लगे।

'उस दिन पुजारीजी को बहुत ही कष्ट हुआ। मैं उस दिन रात्रि को दस बजे दूध पीकर सदा की भाँति भूमि पर सो गया। पास ही तख्त पर पुजारीजी सो रहे थे। रात्रि को मेरी आँख खुली तो क्या देखता हूँ कि खूब उजाला हो रहा है, महान् सूर्य का सा प्रकाश है। मैं एकदम घबड़ाकर उठ बैठा। मैं प्रातः साढ़े तीन बजे का जागनेवाला, आज इतनी देर होगयी, इससे मुझे बड़ा कष्ट हुआ। मैंने उठकर देखा कि पुजारीजी के तख्त के पास दस-बारह वर्ष का एक सुन्दर बालक खड़ा है और मुझे देख देखकर हँस रहा है। उस बालक को इस तरह मुस्कराते देखकर मुझे बड़ा गुस्सा आया और मैंने उससे फटकार कर कहा, 'मेरी धोती-लोटा कहाँ हैं, जल्दी ला, हँसता क्यों है ?" वह यह सुनकर और भी हँसने लगा। मुझे बड़ा बुरा लगा और मैं उसे मारने को दौड़ा। बालक तख्त के चारों ओर भागने लगा मैं उसके पीछे दौड़ रहा था, किन्तु वह मेरे हाथ नहीं आया। वह ज्यों-ज्यों हँसता था त्यों ही त्यों मेरा क्रोध और भी चढ़ता जाता था। क्रोध में भरकर मैं उसे बार-बार फटकारता और चिल्लाता था। मेरा चिल्लाना सुनकर पुजारीजी भी जग गये तथा आस-पास के और भी कई स्त्री-पुरुष एकत्रित होगये। वे सबके सब अत्यन्त आश्चर्य-चकित होकर मुझसे बार-बार पूछने लगे, "ठाकुर साहब, क्या बात है ? आज आपको क्या होगया है ?" मैं उस बालक के हँसने की शैतानी बताकर कहने लगा, "देखो, इस बालक को

समझा दो नहीं तो इसके हक में अच्छा नहीं होगा।" वे बेचारे कुछ भी न समझ सके। जब इस झंझट में बहुत देर हो गयी तो मैंने देखा कि वह लड़का झट से पुजारीजी की गोद में जा बैठा और तत्काल अदृश्य होगया। मैं भी हैरान रह गया। इसी के साथ मुझे जो बड़ा भारी प्रकाश दीख रहा था वह भी जाता रहा। बस, चारों ओर रात्रि का अन्धकार छा गया। फिर लोगों से और पुजारी से बात हुई तो वे कहने लगे, "ठाकुर साहब! यहाँ तो कोई लड़का नहीं है, हम सब बड़े आश्चर्य में हैं कि आज रात्रि के समय आपको क्या होगया है।" मैंने अपने को कुछ सावधान करके घड़ी दिखवायी तो रात का एक बज रहा था। मैंने सारी घटना लोगों को सुनायी तो सब कहने लगे, "ठाकुर साहब, आप जिनकी बहुत निन्दा करते थे, यह चमत्कार उन्हीं का तो नहीं है?" मैंने कहा, "कुछ भी हो, ऐसी बातों से मैं कृष्ण को भगवान् नहीं मान सकता। हाँ, आज से मैं उन्हें और पुजारीजी को गालियाँ न दूँगा।" उस दिन से मैंने गालियाँ देना बन्द कर दिया और प्रायः पुजारीजी के पास मन्दिर में आने-जाने लगा।

'एक दिन मन्दिर में जाने पर मैंने देखा कि जिन ठाकुर साहब के यहाँ मैं रहता था उनका एक बारह-तेरह वर्ष का लड़का जो तीन-चार मास से ननिहाल गया हुआ था, वहाँ खड़ा है। उसे देखकर मैंने पूछा, "तू कब आया? वह बोला, "मैं तो कल ही आगया था।" मुझे झूठ से बड़ी चिढ़ थी। मैंने कहा, "तू मेरे सामने झूठ बोलता है, मैं तो हर समय घर में रहता हूँ और वहीं खाता-पीता हूँ; मैंने तो तुझे कल वहाँ नहीं देखा।" लड़का यह सुनकर मेरी ओर देखकर हँसने लगा। मुझे बड़ा गुस्सा आया और उसे डाँटते हुए मैं बोला, "एक तो झूठ बोलता है और फिर हँसता है, नालायक!" ऐसा कहकर मैं उसे पीटने के लिये दौड़ा;

किन्तु वह फुर्ती से घर में घुस गया। मैं भी गुस्से से चिल्लाता घर में घुसा। मुझे चिल्लाते देखकर घर के स्त्री-पुरुष अवाक् रह गये और मुझसे बोले, "क्या बात है, ठाकुर?" मैंने कहा, आपका लड़का, जो अभी घर में भाग आया है, बड़ा शैतान है और मेरी ओर देखकर हँसता है।" इस पर घर के लोग कहने लगे, ठाकुर, तुम्हें क्या होगया है। वह लड़का तो तीन-चार महिने से नानहाल गया हुआ है, वह यहाँ कहाँ ?" मैंने कहा, "नहीं, अभी मेरे सामने से भागकर आया है।" इस पर सब लोगों ने कहा, "अच्छा तुम घर में चाहे जहाँ खोजकर देख लो, वह यहाँ है ही नहीं।" मैंने सारा घर ढूँढ़ा, किन्तु उसका कहीं पता न लगा। इससे मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने लोगों से सब हाल कहा तो वे कहने लगे, "ठाकुर, यह तो उस कृष्ण का ही चमत्कार दीख पड़ता है।" मैंने कहा, "कुछ भी हो, जब तक एक बार फिर ऐसी कोई घटना नहीं होगी, मैं कृष्ण को भगवान् नहीं मान सकता।"

'अब मैं पुजारीजी के पास मन्दिर में रोज ही जाता था। उक्त घटना के बाईसवें दिन मैंने देखा कि वही बालक, जो घर में घुसकर अदृश्य होगया था, आज फिर मन्दिर में खड़ा हँस रहा है। मैंने कहा, "कहो, कहाँ थे ?" वह बोला, "वाह ! हम तो यहीं रहते हैं।" मैंने कहा, "उस दिन आप झूठ क्यों बोले थे कि मैं कल आया हूँ ?" बालक ने कहा, "ठाकुर साहब, आपको मालूम नहीं, हम खेल में कई बार ऐसे झूठ बोलते हैं।" यह कहकर वह तुरन्त अदृश्य होगया। बस, मैं पुजारीजी के चरणों पर गिर गया और उनसे अपने पूर्व अपराधों के लिये क्षमा माँगने लगा। पुजारीजी ने मुझे बड़े प्रेम से उठाकर हृदय से लगाया और द्वादशाक्षर (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) मन्त्र का मुझे उपदेश दिया। उसी समय से आर्यसमाजी होते हुए भी मैं इस प्रकार माला से

द्वादशाक्षर मन्त्र जपा करता हूँ और भगवान् श्रीकृष्ण का उपासक हो गया हूँ। तब से अब तक मेरी यही स्थिति है।'

\+ + +

प्र०—सगुण उपासना सुगम है या निर्गुण ?

उ०—दोनों ही प्रकार की उपासनाएँ कठिन हैं।

प्र०—गीता में तो निर्गुणोपासना को कठिन कहा है।

उ०—वह देहाभिमानियों के लिये कठिन है।

प्र०—सृष्टि की उत्पत्ति साकार से हुई है या निराकार से ?

उ०—किसी भी वस्तु की उत्पत्ति जिससे होती है वह उससे भिन्न हुआ करती है। सृष्टि साकार है, इसलिये इसकी उत्पत्ति निराकार से हुई है।

प्र०—निराकार से साकार की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

उ०—जैसे अन्तःकरण निराकार है और उसी से स्वप्न में साकार पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार निराकार भगवान् से साकार जगत् की उत्पत्ति होती है।

प्र०—भगवान् निराकार से साकार किस लिये होते हैं ?

उ०—भक्तों पर कृपा करने के लिये। भक्त जिस रूप में उनके दर्शन करने की इच्छा करते है उसी में साकारमूर्त्ति होकर भगवान् उन्हे दर्शन देते हैं ?

प्र०—इसमें प्रमाण क्या है ?

उ०—इस विषय में श्रुति स्मृति आदि शास्त्रों के बहुत-से प्रमाण दिये जा सकते हैं। रामायण में ही कहा है—

'अगुन अनूप अनाम एकरस। राम सगुन भये भगत-प्रेम-वस ॥
सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। वारि-वीचि इव गावहिं वेदा ॥
अगुन अरूप अलख जग जोई। भगत-प्रेम-वस सगुन सो होई ॥
जो गुनरहित सगुन सो कैसे। जल हिम, उपल विलग नहिं जैसे ॥'

श्रीमद्भागवत की रासपंचाध्यायी में भी कहा है—

'नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥'

प्र०—श्रीराम-श्रीकृष्ण आदि में भगवद्भाव किया जाता है या वे स्वयं भगवान् हैं?

उ०—वे भगवान् ही हैं। इसमें शास्त्र, युक्ति और अनुभव सभी प्रमाण हैं। जो वस्तु प्रत्यक्ष होती है वह भाव नहीं हो सकती।

प्र०—यदि भगवान् अर्चाविग्रह आदि रूपों में प्रत्यक्ष हैं तो उनकी प्राप्ति के लिये साधन क्यों किया जाता है?

उ०—भजन-साधन तो अनुराग के लिये किया जाता है। भगवान तो प्रत्यक्ष ही हैं, किन्तु उनमें अनुराग होना सहज नहीं है। इसलिये उसी के लिये प्रयत्न किया जाता है। संसार-बन्धन से छुड़ानेवाली वस्तु अनुराग ही है। संसार का कारण अहंता और ममता हैं। इनका नाश भगवदनुराग से ही हो सकता है। देखो, यह देखा जाता है कि कोई-कोई लोग हमसे प्रसाद पाते हैं तो उसे स्वयं न खाकर अपने बच्चों के लिये ले जाते हैं। यद्यपि उन्हें स्वयं प्रसाद खाना अप्रिय नहीं है, तो भी बालकों में विशेष अनुराग होने के कारण वे स्वयं न खाकर उनके लिये ले जाते हैं। इसी प्रकार जो भगवदनुरागी है वह अपनी सारी ममता भगवान् को समर्पित कर देता है। ममता का समर्पण ही सर्वस्वसमर्पण है और यही मुक्ति है।

प्र०—ईश्वर प्रत्यक्ष कैसे है?

उ०—ईश्वर प्रत्यक्ष है—इसमें शंका नहीं करनी चाहिये।

इसमें शास्त्र प्रमाण भी है। गीता कहती है कि संसार में जो-जो सुन्दर वस्तु दिखायी देती है उसमें ईश्वर की ही छटा है—

'यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥' (१०।१४)

प्रत्येक वस्तु में जो भी आकर्षण करने वाला तत्त्व है वही ईश्वर है। वस्तु में जो सौन्दर्य है वही ईश्वर है। लोग शुद्ध सौन्दर्य को ग्रहण नहीं करते, वे उसे किसी वस्तु या क्रिया के साथ मिलाकर देखते हैं, इसीलिये उनका वस्तुओं के प्रति राग-द्वेष होता है। यदि शुद्ध सौन्दर्य को ग्रहण किया जाय तो राग-द्वेष हो ही नहीं सकते। किन्तु उसे संसारी पुरुष ग्रहण नहीं कर सकते। वह तो सच्चे प्रेमियों की ही पकड़ में आता है।

प्र०—वेदान्त ग्रन्थों में आता है कि उपासक प्रतिमा में विष्णु आदि का तथा नाम में भगवद्बुद्धि का आरोप करता है, किन्तु उपासक तो ऐसा नहीं समझता। फिर यह कथन किस की दृष्टि से है?

उ०—इसे उपासक और तत्त्ववेत्ता दोनों ही की दृष्टि से आरोप नहीं कहा जा सकता। यह कथन केवल जिज्ञासु की दृष्टि से है जो जड़ और चेतन दोनो की सत्ता स्वीकार कर उनका विवेक करता है। भक्त की दृष्टि में भगवद्-विग्रह और भगवन्नाम जड़ नहीं, चिन्मय हैं। और बोधवान् की दृष्टि में जो कुछ है वह सभी सच्चिदानन्दस्वरूप है; उसके लिये तो एक अखण्ड चिद्घन सत्ता से भिन्न और किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है।

+ + +

[एक भक्त के साथ वार्तालाप]

"क्यों रे ! तू किसकी उपासना करता है ?"

"मैं तो भगवन् ! उसी की उपासना करता हूँ।"

"क्या वह निराकार है ?"

"जी, नहीं।"

"तो क्या साकार है ?"

"जी, नहीं।"

"तू भी खूब है ! 'उसे' निराकार-साकार दोनों से अलग कर दिया !"

"हाँ, भगवन् ! आपने ही तो बताया था कि वह न तो साकार है और न निराकार, वह तो दोनों से पृथक् है।

\+ + +

१. एक बार श्री चैतन्य महाप्रभु बैठे थे। उनके किसी भक्त ने पूछा, "प्रभो ! परमात्मा निराकार से साकार कैसे हो गये ?" यह सुनकर महाप्रभुजी रोने लगे कि हमारे यहाँ ऐसा कौन है जो इस प्रकार का प्रश्न करता है। अरे ! जब परमात्मा में सारी शक्तियाँ हैं तो क्या वह निराकार से साकार नहीं हो सकता ? फिर उससे कहा—"जा, सौ बार गङ्गाजी में स्नान कर।"

२. निराकार परमात्मा सबका है। उसकी उपासना सब लोग समान रूप से कर सकते हैं। परन्तु साकार भगवान् ऐसा नहीं है। वह तो भक्तों का भगवान् है। उस पर भक्तों का पूर्ण अधिकार होता है। भक्त चाहे जैसे उसकी पूजा कर सकते हैं। दूसरों को उसमें दखल देने का अधिकार नहीं है।

३. किन्हीं-किन्हीं का आग्रह है कि भगवान् तो निराकार ही हैं, वे साकार नहीं हो सकते। यदि ऐसी बात है तो उन्हें भगवान् कैसे कहा जायगा ? वे सर्वशक्तिमान् कैसे माने जायँगे ? तब तो

वे जीव ही रहे। जो सर्वशक्तिमान् हैं उनमें क्या साकार होने की शक्ति नहीं है? इसलिये भगवान् साकार भी हैं और निराकार भी।

४. भगवान् भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं। उन्हें कोई प्रिय-अप्रिय नहीं, वे समदृष्टि हैं। भक्तों की वांछा पूरी करने के लिये उन्हें अवतार लेना पड़ता है। इसलिये भक्तों के अनुभव में भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं, दुष्टों को भले ही वे साधारण ग्वालबाल प्रतीत हों। श्री तुलसीदासजी ने निर्गुण को सुलभ कहा है और सगुण को दुर्विज्ञेय बताया है—

'निरगुन रूप सुलभ अति, सगुन न जाने कोय।'

५. लोग प्रायः कह देते हैं कि साकार उपासना सरल है। नहीं, साकार रूप की झाँकी तो अत्यन्त दृढ़ अभ्यासी ही कर सकते हैं। निराकार की उपासना सूक्ष्म बुद्धिवालों के लिये सुगम है।

६. ईश्वर के साकार और निराकार दोनों रूप एक ही है; कुछ भेद नहीं है। जल और तरङ्ग भिन्न नहीं हैं। जिस प्रकार बर्फ और पानी एक ही हैं, किन्तु देखने में दो मालूम होते हैं, बिलकुल इसी प्रकार ईश्वर साकार और निराकार है। बर्फ के हर एक अंश में जल है, कोई भी अंश जल से भिन्न नहीं है। जब बर्फ को सूर्य की गर्मी लगती है तो वह जलरूप हो जाता है। इसी प्रकार साकार ईश्वर ध्यानरूप सूर्य की गर्मी से निराकार हो जाता है। इसके सिवा, यद्यपि बिजली जल में भी दौड़ती है तथापि उससे प्रकाश नहीं होता। आँखों से जो चीज दीखती है वह सब अग्निरूप है, पर रोटी का कच्चापन अथवा शीत केवल दीखनेवाली चीज से दूर नहीं होता। जब चकमक पत्थर से आग निकलती है अथवा पानी से बिजली निकाली जाती है, तभी उनसे कोई कार्य सिद्ध होता है। इसी प्रकार प्रेमरूपी रगड़ से ईश्वर

निराकार से साकार होता है—वही साकार ईश्वर धर्मसंस्थापनादि कार्य करता है।

७ हर एक चीज चैतन्य है। केवल हमारी जड़ता-बुद्धि से ही वह जड़ प्रतीत होती है, वास्तव में जड़ नहीं है। जड़ताबुद्धि को दूर करने के लिये ही उपासना की जाती है। उपासना का फल ही ज्ञान है।

८. जिस प्रकार सामान्य अग्नि सर्वत्र व्याप्त है, किन्तु जब वह प्रयत्नपूर्वक विशेष रूप से प्रकट किया जाता है तभी उसका कोई उपयोग होता है, इसी प्रकार भगवान् का सर्वव्यापक निर्गुण और निर्विशेष रूप जब भक्त की भावना में सगुण और सविशेष रूप में प्रकट होता है तभी वह दुष्टदलन और भक्त-प्रतिपालन आदि में समर्थ होता है।

९. भगवान् के अवतार-शरीर अन्य पुरुषों के समान पाञ्चभौतिक नहीं होते। वे चिन्मय होते हैं। केवल भक्त की भावना में ही वे वैसे दिखलायी देते हैं।

१० ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। हमारी बुद्धि अज्ञान में जड़वत् हो गयी है, इसी से संसार की वस्तुयें पृथक् प्रतीत होती हैं। किन्तु वास्तव में ईश्वर से अन्य और कुछ भी नहीं है। ईश्वर और जीव के बीच में जड़ता (माया) का परदा पड़ा हुआ है। बिना यह परदा हटे जीव और ईश्वर का मिलन अर्थात् ऐक्य नहीं हो सकता।

११. ईश्वर और जीव में क्या अन्तर है? जीव और ईश्वर सजातीय हैं, इसीलिये जीव भगवान् का दास बनना चाहता है, क्योंकि सेव्य और सेवक दोनों सजातीय ही हुआ करते हैं। जीव और ईश्वर दोनों ही चेतन और अनादि हैं, इसलिये इनका कोई अन्तर समझ में नहीं आता। हाँ, इन दोनों में ईश्वर तो

रागद्वेष-रहित और ज्ञानानन्दस्वरूप है, तथा जीव सत् एवं ज्ञानस्वरूप होते हुए भी राग-द्वेष के कारण आनन्दरहित है। उपासना द्वारा राग-द्वेष-रहित हो जाने से जीव की ईश्वर के साथ एकता हो जाती है।

१२. अज्ञान का पर्दा हटते ही इस जगत् के स्थान में ही सर्वत्र भगवान् दीखने लगेंगे।

'हरिरेव जगज्जगदेव हरिर्जगतो हरितो न हि भिन्नतनुः।
इति यस्य मतिः परमार्थगतिः स नरो भवसागरमुत्तरति॥'

१३. कोई न कोई ऐसी शक्ति जरूर है जो समय-समय पर हमारी रक्षा करती है। एक बार मैं रामघाट की एक कुटिया में, जो सौवर्ष से भी पुरानी है और जिसमें स्वामी दयानन्दजी भी रह चुके हैं, सोया करता था तथा प्रातःकाल तीन बजे उठकर कुटिया में ही बैठ जाता था। इस बीच में आलस्य आता तो फिर लेट जाता था। एक दिन मैं इसी प्रकार तीन बजे उठकर बैठा हुआ था। मुझे आलस्य भी आया, किन्तु मैं लेटा नहीं। इस समय मेरे तकिये के पास एक साँप फन फैलाये बैठा था, किन्तु मुझे इसका कोई पता नहीं था। थोड़ा देर में उस ओर दृष्टि गयी तो मुझे वह दिखायी दिया, किन्तु मैं डरा नहीं। फिर वह मेरी पीठ के पीछे इधर-उधर घूमने लगा। बहुत देर तक ऐसा होता रहा। मैं समझ गया कि यह कुटिया से बाहर जाना चाहता है। अतः मैंने उठकर छप्पर ऊपर को उकसाया तो वह बाहर चला गया। उस दिन जो आलस्य आने पर भी मैं नहीं लेटा, यह अवश्य किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा थी।

१४. जब तक तुम्हें अपना पता है तब तक उनका पता नहीं लग सकता। जब उन्हें जान लोगे तो अपना पता नहीं रहेगा।

१५. वास्तव में जब निराकार को देखने लगोगे तब कुछ कह नहीं सकोगे। जितने विशेषण दिये जाते हैं, अपने भाव बनाने के लिये ही दिये जाते हैं।

१६. परमात्मा हमारी सब बातें जानते हैं, हम भले ही परमात्मा को न जानें।

१७. जब भक्त परमात्मा को जाननेके लिये पूर्णतया तैयार होता है तब भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं।

१८ जब तक भक्त मे किंचित् भिन्नता रहती है तब तक भक्त और भगवान् दो हैं। तदाकार वृत्ति में और भूल जाने में बड़ा अन्तर है। भूल जाना अज्ञान है। अज्ञान में लीन होने से दुःख न मालूम होता हो, तथापि उसका कारण अवश्य रहता है। ज्ञान मे तल्लीन होना परमानन्द है और सुषुप्ति अज्ञानानन्द है।

१९. परमात्मा निराकार हैं, किन्तु भक्तों के लिये वे साकार हैं।

२०. परमात्मा का स्वभाव निर्गुण है, किन्तु भक्तों के लिये वे सगुण हैं।

२१. भगवान का तत्त्व ध्यान से जाना जाता है और ध्यान होता है भगवान् के रूप का ज्ञान होने पर। इसमे विशेष शास्त्र-ज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

२२. ज्ञान, बल और क्रिया—ये परमात्मा की स्वाभाविकी शक्तियाँ हैं—'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।' भगवान् की क्रिया तो जीवमात्र को अनुभव होती है। संसार मे जो कुछ हो रहा है, उनकी क्रियाशक्ति का ही विलास है। भगवान् के स्वरूप का ज्ञान भगवद्भक्ति से होता है तथा उनका बल केवल प्रेमी भक्त ही अनुभव कर सकते हैं। इस बल के भरोसे ही भक्तजन सब प्रकार के विरोध और आपत्तियों से निर्भय रहते हैं। इसी के कारण

मीराबाई विष पी गयी थीं तथा भक्त प्रह्लाद के प्रति दैत्यों की सारी शक्ति कुण्ठित हो गयी थी।

२३. ईश्वर निराकार भी है और साकार भी। किन्तु सर्वव्यापक निराकार ईश्वर से संसार का दुःख दूर नहीं होता। इसके लिये तो उसे साकार और एकदेशीय ही होना पड़ता है। वह साकार होकर ही दुष्टों का संहार एवं धर्म की संस्थापना करता है। देखो, अग्नि सर्वव्यापक है, किन्तु उससे प्रकाश नहीं होता। जब वह एक जगह सिमट कर विजली के बल्ब में साकार रूप से व्यक्त होती है तो कैसा प्रकाश हो जाता है। इसी प्रकार प्रेमी का काम भी एक-देशीय साकार भगवान् से ही चलता है, क्योंकि उसे ज्ञान या मोक्षकी इच्छा तो है नहीं, वह तो उसे सुन्दर साकार रूप में अपने नेत्रों के सामने देखना चाहता है।

२४. सर्वव्यापक भगवान् पर तो सभी का अधिकार है, किन्तु साकार भगवान् पर सबका अधिकार नहीं माना जा सकता। वह तो भक्तों का भगवान् है। उस पर भक्त का पूरा अधिकार होता है; भक्त चाहे तो उसके पास किसी को जाने दे और न चाहे तो न जाने दे। जैसे व्यापक तेज पर तो सभी का अधिकार होता है, किन्तु विजली के बल्ब या लालटेन में जो तेज है, उस पर किसी व्यक्ति-विशेष का ही अधिकार रहता है। वह चाहे तो किसी को उसका उपयोग करने दे और न चाहे तो न करने दे।

२५. देखो, हम सब जीव स्वरूपतः निराकार हैं, तथापि आकार धारण करके साकार बने हुए हैं। इस प्रकार जब अल्पशक्ति जीव भी साकार बन सकता है तो सर्वशक्तिमान भगवान्, जो इस सम्पूर्ण विश्व को धारण किये हुए हैं, साकार क्यों नहीं हो सकते। क्या सर्वशक्तिमान् होने पर भी उनमें साकार

होने की शक्ति नहीं है? भगवान् तो सर्वसमर्थ हैं, वे सब कुछ हो सकते हैं।

२६. जैसे राजा एकदेशीय होता है, किन्तु राजा की सत्ता सारे राज्य में काम करती है, उसी प्रकार साकार ईश्वर एकदेशीय होने पर भी उसकी सत्ता सर्वत्र है। इससे ईश्वर के महत्त्व में कोई कमी नहीं आती। देखो, हीरा एकदेशीय होने पर भी कितना मूल्यवान होता है, किन्तु पृथ्वी सर्वव्यापक होने पर भी उसका कोई मूल्य नहीं होता।

२७. गौडीय सम्प्रदाय के अनुसार मूलतत्त्व ईश्वर तो अचिन्त्य अभेद-स्वरूप है, किन्तु लीला में भेद है। बिना भेद के लीला नहीं हो सकती। किन्तु मेरा और भगवान् का तत्त्वतः अभेद होने पर भी मैं भगवान् का हूँ, भगवान् मेरे नहीं कहे जा सकते; जैसे लहर ही समुद्र की कही जाती है, समुद्र लहर का नहीं कहा जाता। जिस समय भगवान् मेरे हैं—यह भाव पूर्ण हो जाता है, तो यही प्रेम की पराकाष्ठा है।

२८. ईश्वर और जीव जातितः तो एक हैं, किन्तु उनकी शक्ति में भेद है। ईश्वर की शक्ति महान् है और जीव की अल्प। इस प्रकार केवल उनकी शक्ति में ही भिन्नता है।

२९. भगवान् निराकार हैं, वे साकार नहीं हो सकते—यह विचार ज्ञानी के साधन की पुष्टि तो कर सकता है, किन्तु यही सिद्धान्त नहीं है। सिद्धान्त में तो निराकार ही साकार हो जाता है और साकार ही कारण-दृष्टि से निराकार है।

शिव और शक्ति

प्र०—शिवतत्त्व क्या है ?

उ०—हमारे विचार से शिवतत्त्व वही है, जिसका वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद् के इस मन्त्र में किया गया है—

> 'सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
> सर्वव्यापी स भगवास्तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥ (३।११)

अर्थात् भगवान् शिव समस्त मुख, समस्त शिर और समस्त ग्रीवाओं वाले हैं तथा समस्त प्राणियों के अन्तःकरणों में स्थित हैं। अतः सर्वगत होने के कारण वे सर्वव्यापी हैं।

प्र०—लिंगोपासना का क्या रहस्य है ? उसका अधिकारी कौन है ? और उसका मुख्य फल क्या है ?

उ०—लिंग का अर्थ प्रतीक (चिन्ह) है। शिवलिंग पुरुष का प्रतीक है और शक्ति प्रकृति का चिन्ह है। पुरुष और प्रकृति का संयोग होने पर ही सृष्टि होती है; जैसा कि कहा है—'शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम् ।' उन पुरुष और प्रकृति की संयुक्त उपासना करने से बहुत शीघ्र फल मिलता है। इसी से शक्तिस्थ शिवलिंग की उपासना की जाती है।

भगवान् शिव आशुतोष हैं। वे यों तो जिसकी जैसी इच्छा होती है उसे तत्काल पूर्ण कर देते हैं; परन्तु मुख्यतया मोक्ष और विद्याप्राप्ति के इच्छुकों को शिवोपासना करनी चाहिये। मोक्षदाता देव मुख्यतया भगवान् शंकर ही हैं। इसीलिये शिवपुरी काशी के विषय में 'काशीमरणान्मुक्तिः' ऐसा प्रसिद्ध है। अन्य देवों और अवतारों की पुरियों में निवास करने वालों के लिये उन्हीं के लोकों की प्राप्ति शास्त्र में बतलायी है—कैवल्य-मोक्ष की नहीं।

प्र०—शिवोपासना के विशेष चमत्कार से युक्त कोई ऐसी घटना सुनाइये जो आपके अनुभव में आयी हो।

उ०—एक बार एक ब्रह्मचारीजी* और एक बङ्गाली नवयुवक ने श्री वैद्यनाथ धाम में धरना देने का निश्चय किया। ब्रह्मचारी महोदय के पास एक छतरी और दस-ग्यारह रुपये थे। वे कविवर श्रीहर्ष के समान कवित्व शक्ति प्राप्त करने की कामना से धरना देना चाहते थे। बङ्गाली नवयुवक को शूलरोग था। वह उससे मुक्त होना चाहता था। उसके पास सौ-सवा सौ रुपये की सम्पत्ति थी। दोनों ने अपना रुपया-पैसा और सामान एक पंडा को सौंप दिया और अपने लिये चरणामृत एवं प्रसाद पहुँचाने की व्यवस्था भी उसी पंडे को सौंपकर स्वयं धरना देकर पड़ गये। परन्तु वह पंडा उनका सारा सामान लेकर चला गया और उनके प्रसादादि की भी कोई व्यवस्था न रही।

चार दिन बीतने पर ब्रह्मचारी महोदय के चित्त में अकस्मात् वैराग्य का प्रादुर्भाव हुआ। वे सोचने लगे—'आखिर, श्रीहर्ष भी तो काल के गाल ही में चले गये। फिर उनके कवित्व से ही मुझे क्या लेना है ?' ऐसा सोचकर उन्होंने धरना छोड़ दिया और अपने बङ्गाली मित्र के लिये प्रसाद आदि की सुव्यवस्था करा दी। ग्यारह दिन बीतने पर उस बङ्गाली युवक को स्वप्न में भैरव का दर्शन हुआ। उनसे उसने अपना दुःख निवेदन किया। तब वे बोले, "तुम पूर्वजन्म में शिवोपासक थे। उस समय तुम्हें भगवान् शंकर की उपासना के लिये जो द्रव्य दिया जाता था उसमें से बहुत-सा तुम हरण कर लेते थे। उस पाप के

* ये ब्रह्मचारीजी स्वयं महाराजजी ही थे। 'कल्याण' में जिस रूप में यह घटना छपी थी उसी रूप में दी जा रही है।—सं०

कारण ही तुम्हें यह रोग हुआ है। यह तुम्हारे इस जन्म में दूर नहीं हो सकता। परन्तु तुमने भगवान् शिव की शरण ली है, इसलिये इस जन्म में भी यह और नहीं बढ़ेगा।"

तदनन्तर उस बङ्गाली युवक ने धरना छोड़ दिया और उसका रोग, जो अब तक निरन्तर बढ़ रहा था, और अधिक नहीं बढ़ा तथा वह भगवान् शिव का अनन्य भक्त होगया।

× × × ×

प्र०—शक्तितत्त्व क्या है ?

उ०—जो निर्विशेष शुद्ध तत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आधार है उसी को पुंसत्वदृष्टि से 'चित्' और स्त्रीत्वदृष्टि से 'चिति' कहते है। शुद्ध चेतन और शुद्ध चिति ये एक ही तत्त्व के दो नाम है। माया से प्रतिबिम्बित उसी तत्त्व की जब पुरुषरूप से उपासना की जाती है तब उसे ईश्वर, शिव अथवा भगवान् आदि नामों से पुकारते हैं, और जब स्त्रीरूप से उसकी उपासना करते हैं तो उसी को ईश्वरी, दुर्गा अथवा भगवती कहते हैं। इस प्रकार शिव-गौरी, कृष्ण-राधा, राम-सीता तथा विष्णु-लक्ष्मी—ये परस्पर अभिन्न ही हैं। इनमें वस्तुतः कुछ भी भेद नहीं है। केवल उपासकों के दृष्टि-भेद से ही इनके नाम और रूपों में भेद माना जाता है।

प्र०—शक्ति-उपासना का अधिकारी कौन है और उसका अन्तिम फल क्या है ?

उ०—शक्ति की उपासना प्रायः सिद्धियों की प्राप्ति के लिये की जाती है। तन्त्रशास्त्र का मुख्य उद्देश्य सिद्धिलाभ ही है। आसुरी प्रकृति के पुरुष शक्ति का तामसी पदार्थों से पूजन करते हैं

और दैवी प्रकृति के उपासक गन्ध-पुष्प आदि सात्त्विक पदार्थों से, जिससे उन्हें क्रमशः अनेक प्रकार की आसुरी और दिव्य सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इस प्रकार यद्यपि शक्ति के उपासक प्रायः सकाम पुरुष ही होते हैं, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें निष्काम उपासक होते ही नहीं। परमहंस रामकृष्ण ऐसे ही निष्काम उपासक थे। ऐसे उपासक तो सब प्रकार की सिद्धियों को ठुकराकर उसी परम पद को प्राप्त होते हैं, जो परमहंसों का गन्तव्य स्थान है और यही शक्त्युपासना का चरम फल है। दुर्गासप्तशती में जिस प्रकार देवी को 'स्वर्गप्रदा' बतलाया है उसी प्रकार उसे 'अपवर्गदा' भी कहा है।

'स्वर्गापवर्गदे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते।'

प्र०—शक्त्युपासना का महत्त्व सूचित करने वाली कोई सच्ची घटना सुनाइये।

उ०—प्रायः सवा सौ वर्ष हुए जगन्नाथपुरी के पास एक जमींदार थे। लोग उन्हें 'कर्त्ताजी' कहकर पुकारा करते थे। उन्होंने एक पण्डितजी से वैष्णव धर्म की दीक्षा ली। पण्डितजी ऊपर से तो वैष्णव बने हुए थे, किन्तु वास्तव में श्यामा (काली) के उपासक थे। वस्तुतः उनकी दृष्टि में श्याम और श्यामा में कोई भेद नहीं था। इधर, कुछ लोगों ने कर्त्ताजी से उनकी शिकायत करनी आरम्भ करदी। परन्तु कर्त्ताजी को अपने गुरुजी से इस विषय में कोई प्रश्न करने का साहस नहीं हुआ। उस देश के लोग अपने गुरु का बहुत गौरव मानते हैं। पण्डितजी रात्रि के समय माँ काली की उपासना किया करते थे। अतः कुछ

लोगों ने कर्त्ताजी को निश्चय कराने के लिये उन्हें रात्रि को, जिस समय पण्डितजी पूजा में बैठते थे, ले जाने का आयोजन किया। एक दिन जिस समय पण्डितजी माता की पूजा कर रहे थे, वे अकस्मात् कर्त्ताजी को लेकर आ धमके। कर्त्ताजी को आये देख पण्डितजी कुछ सहमे और उन्होंने जगदम्बा से प्रार्थना की कि 'माँ! यदि तेरे चरणों में मेरा अनन्य प्रेम है तो तू श्यामा से श्याम हो जा।' पण्डितजी की प्रार्थना से वह मूर्त्ति कर्त्ताजी के सहित उन सब लोगों को श्रीकृष्णरूप ही दिखलायी दी। इस प्रकार अपने भक्त की प्रार्थना स्वीकार करके भगवती ने भगवान् के साथ अपना अभेद सिद्ध कर दिया।

५

परमार्थ-निरूपण

प्र०—शुद्ध साक्षी किसे कहते हैं ?

उ०—जो स्वप्न को देखता है उसे स्वप्नपुरुष कहते हैं, जो जग पड़ने पर स्वप्न को प्रतीतिमात्र अनुभव करता है वह जाग्रत्-पुरुष है और जो जाग्रत् पुरुष के सहित इस सम्पूर्ण जाग्रत् को अनुभव करता है उसे जाग्रद्द्रष्टा कहते हैं। उसी का नाम स्वप्नद्रष्टा भी है और वही शुद्ध साक्षी है। स्वप्नपुरुष और जाग्रत्पुरुष केवल स्वप्नशरीर और जाग्रत-शरीर के ही साक्षी हैं; इसलिये वे व्यष्टि-साक्षी हैं, किन्तु यह समष्टिसाक्षी है, क्योंकि यह समस्त स्वप्नावस्था और समस्त जाग्रदवस्था को प्रकाशित करता है। जिस प्रकार वस्त्र के ऊपर बनाये हुए बेल-बूटे वस्त्र से भिन्न नहीं होते तथा मूर्त्ति पाषाण से भिन्न नहीं होती उसी प्रकार यह चराचर जगत् आत्मा से भिन्न नहीं है।

प्र०—जीव ब्रह्म है, इसमें क्या प्रमाण है ?

उ०—जीव ब्रह्म नहीं है, जीवसाक्षी ब्रह्म है। इसमें शास्त्र-युक्ति और अनुभव सभी प्रमाण हैं। इसका अनुभव करने के लिये विचार (सदसद्विवेक) करना चाहिये।

प्र०—'पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इस मन्त्र के 'त्रिपाद' शब्द से क्या अभिप्राय है ?

उ०—मुझसे एक महात्मा ने कहा था कि सत्, चित् और आनन्द ये त्रिपाद हैं तथा प्रपंच एक पाद है। इनमें सत् की प्रतीति तो सभी को होती है, चित् विवेकी को प्रतीत होता है और आनन्द की प्रतीति पूर्ण बोधवान् को होती है। जिसे सत्, चित् और आनन्द

इन तीनों पादों का ज्ञान हो जाता है वही पूर्ण बोधवान् है और उसी की आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति होती है।

प्र०—प्रपंच का अत्यन्ताभाव पक्ष है या सिद्धान्त ?

उ०—स्वरूपसत्ता में पहले अभावसत्ता और फिर भावसत्ता की स्फूर्ति होती है। परन्तु जिस प्रकार घट और घटाभाव दोनों ही मृत्तिका रूप हैं उसी प्रकार प्रपंच और प्रपंचाभाव दोनों ही आत्मसत्ता से भिन्न नहीं हैं। तथापि जिज्ञासु को वस्तु का लक्ष्य कराने और उसके कर्तृत्व का निरास करने के लिये प्रपञ्च के अत्यन्ताभाव का निरूपण किया जाता है। प्रपञ्च के अत्यन्ताभाव में दृष्टि रखना ही जीवन्मुक्ति का अभ्यास है। परन्तु यह वस्तु स्थिति नहीं है। यह भी एक पक्ष ही है। वस्तुतः तो भाव और अभाव दोनो ही आत्मा से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि आत्मा प्रपञ्च का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है।

प्र०—कहते हैं, परोक्ष और अपरोक्ष दो प्रकार का ज्ञान होता है, सो 'स्व' का अपरोक्ष ज्ञान तो ठीक है, परन्तु परोक्ष ज्ञान कैसे ठीक हो सकता है ? क्योंकि बिना व्यवधान के परोक्षता तो होती नहीं।

उ०—तुम तो पागल हो ! क्या आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान होता है ? वह तो नित्य अपरोक्षस्वरूप है। उसका न तो परोक्ष ज्ञान होता है न अपरोक्ष। परोक्षता की निवृत्ति की लिये ही ज्ञान को अपरोक्ष कहते हैं, वास्तव में तो दोनों ही अध्यारोप हैं।

प्र०—'जगत् मिथ्या है, और 'आत्मा ही सब है'—इन दोनों वाक्यों का क्या समन्वय है ?

उ०—विचारकाल में जगत् मिथ्या और बोधकाल में सब आत्मा ही है। 'आत्मा ही सब है' कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि आत्मा भी है और सब भी, बल्कि सबका बाध करके ही

आत्मा है। जगन्मिथ्यात्व सिद्धान्त नहीं है, सिद्धान्त को समझने की प्रक्रिया है।

प्र०—तब तो ऐश्वर्य का बिलकुल निषेध हो गया, बाबा!

उ०—ठीक तो है। यह ऐश्वर्यहीनता ही तो माधुर्य है। भागवत्ताहीन भगवत्स्वरूप ही माधुर्य है। जिसमें गुण और दोष कुछ भी नहीं है वही तो माधुर्य है। प्रचलित माधुर्य तो इसका साधनमात्र है।

प्र०—निर्विकल्प समाधि और निर्विकल्प बोध में क्या अन्तर है?

उ०—समाधि एक स्थिति है, जो अभ्यास से सम्पन्न होती है और निर्विकल्प बोध स्वरूप है, जो स्वतःसिद्ध है। जिसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं वह तो सविकल्प की अपेक्षा से ही निर्विकल्प है, स्वरूप की दृष्टि से तो वह भी सविकल्प ही है।

× × ×

प्र०—यदि मुक्त होने के पश्चात् पुनर्जन्म नहीं होता तो एक-एक जीव के मुक्त होते रहने से अन्त में एक दिन समस्त संसार का उच्छेद हो जायगा। किन्तु सृष्टि को अनादि और अनन्त माना है। ऐसी स्थिति में इन दोनों मतों की संगति कैसे लगेगी?

उ०—सांख्य, योग और वेदान्त इनमें से किसी भी दर्शन ने मोक्ष में पुनरावर्तन स्वीकार नहीं किया। इसका कारण यह है कि उस अवस्था में जन्म-मरणरूप संसार का अत्यन्ताभाव हो जाता है। अतः जीवभाव की निवृत्ति हो जाने के कारण उस समय पुनर्जन्मादि का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। बोधवान् की दृष्टि में जीव एक है। यह निखिल प्रपंच उस एक का ही दृष्टि-विलास है। अतः उसके मुक्त हो जाने पर उसके लिये तो सृष्टि

का अत्यन्ताभाव ही हो जाता है। किन्तु अज्ञानी की दृष्टि में जीव अनन्त हैं और अनन्त होने के कारण ही उनका कभी अन्त नहीं हो सकता। वे सृष्टि को प्रवाह से अनादि मानते हैं। इसलिये उनके सिद्धान्तानुसार यदि एक कल्प में सृष्टि का अन्त हो जाता है तो दूसरा कल्प आरम्भ होने पर उसका पुनः उत्पत्ति हो जायगी।

प्र०—अज्ञान भावरूप है या अभावरूप?

उ०—यह न भावरूप है न अभावरूप; बल्कि अनिर्वचनीय है। अज्ञान स्वरूप के आवरण को कहते हैं यह तो भाव और अभाव का कारण है।

प्र०—माया और प्रकृति में क्या अन्तर है?

उ०—सांख्यसम्मत प्रकृति और वेदान्त की माया में जो अन्तर है उसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि सांख्य प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है, भक्त उसे भगवान् की अभिन्न शक्ति स्वीकार करता है और वेदान्ती उसे भ्रान्ति समझता है। भक्त की दृष्टि में भगवान् और भगवद्विग्रह में कोई भेद नहीं है, ये दोनों ही चिन्मय हैं।

प्र०—करनेवाला जड़ है या चेतन?

उ०—सब कुछ जड़ ही करता है, चेतन् कुछ नहीं करता। किन्तु कर्तृत्व का आरोप चेतन में किया जाता है। जैसे राजा यद्यपि कुछ भी नहीं करता, केवल सेना ही सब कुछ करती है, तो भी जय-पराजय राजा की ही कही जाती है।

प्र०—सुख और आनन्द में क्या भेद है?

उ०—यों तो कोई भेद नहीं है, दोनों पर्यायवाची शब्द

है। किन्तु सुख विषयजनित और अनित्य होता है तथा आनन्द निर्विषय और नित्य होता है।

× × ×

१. भगवान् को चाहना परमार्थ है और भगवान् से कुछ चाहना स्वार्थ है। यहाँ तक कि मोक्ष की इच्छा भी स्वार्थ ही है।

२. जहाँ सम्पूर्ण लौकिक और अलौकिक विज्ञान समाप्त हो जाते हैं तथा अणिमादि सिद्धियों का भी कोई मूल्य नहीं रहता वहाँ से तत्त्वज्ञान आरम्भ होता है।

३. ज्ञानदृष्टि में संसार नहीं है—यह निर्भय बात है।

४. एक अखण्ड सच्चिदानन्द के सिवा सब मिथ्या है।

५. यह संसार जो दीखता है वास्तव में प्रभु के सिवा कुछ भी नहीं है।

६. परमात्मा अर्थात् तत्त्ववस्तु अलक्ष्य है।

७. साकार या निराकार तो वाच्यार्थ है, वाच्यार्थ में तृप्ति नहीं।

८. कार्य और कारण में अभेद माना गया है; जैसे सुवर्ण और आभूषण कहने के लिये भले ही भिन्न हों, किन्तु वस्तुतः एक और अभिन्न ही हैं। वास्तव में तो सुवर्ण ही आभूषण है। इसी प्रकार सर्वत्र कारण ही कार्य होता है। संसार की उत्पत्ति ईश्वर से हुई है। अतः ईश्वर कारण और संसार कार्य है। ये कहने के लिये ही दो हैं, वास्तव में तो ईश्वर ही जगत् है ईश्वर से भिन्न जगत् कुछ भी नहीं है। परन्तु यह बात भगवत्कृपा से ही अनुभव में आती है।

९. जिसका कोई भिन्न कर्ता नहीं होता वह वस्तु भिन्न सत्तावाली नहीं होती। जगत् ईश्वर का बनाया हुआ नहीं, बल्कि स्वयं ईश्वर है। यह ईश्वर का सकल्प है और कोई भी संकल्प संकल्पकर्ता से भिन्न नहीं होता। अतः यह ईश्वर का साकार स्वरूप है। यदि ऐसा न माना जाय तो अवतारवाद कैसे सिद्ध होगा ?

१०. विवेकी लोग संसार को मिथ्या समझते हैं, किन्तु तत्त्वज्ञों की दृष्टि में तो सत्य ही संसार है। सेठ लोग गद्दी-तकिया लगाये जिस संसार में बैठे हैं उसी को सत्य समझते हैं, किन्तु भक्तों की दृष्टि मे तो संसार भगवद्रूप है। इसी से श्रीगोस्वामी जी कहते हैं—

'सीयराममय सब जग जानी।
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी ॥'

११. देखो, वायु आकाश में रहती है; अतः आकाश कारण है और वायु कार्य है, क्योंकि कार्य कारण में ही रहा करता है। वायु में स्पर्श है, इसी से आकाश से उसका भेद है, नहीं तो वायु और आकाश एक ही हैं। इसी प्रकार सोना कारण है और आभूषण कार्य है। यहाँ भी आभूषण सोने से भिन्न नहीं है, वास्तव में केवल सोना ही सोना है। केवल देखने के लिये ही दोनों का भेद है। इसी तरह जगत भी ईश्वर ही है। ईश्वर ही से इसकी प्रतीति होती है।

श्रीपूर्णानन्द-पुस्तकमाला

की

पुस्तकें

☆